सस्ता साहित्य मंडल : सर्वोदय साहित्य माला

पिचान्वेवाँ ग्रंथ ,

———

हिन्दुस्तान की समस्यायें

लेखक
पण्डित जवाहरलाल नेहरू

दो शब्द

इस किताब में 'हिन्दुस्तान की समस्याओं' पर मेरे पुराने और कुछ हाल के नये लेख जमा किये गये हैं। ये लेख मैंने पिछले तीन वर्षों में अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी में लिखे थे। इन तीन वर्षों में जमाना बदल गया और इस समय हमारे सामने नये-नये पेचीदा सवाल हैं। इसलिए मैं नहीं कह सकता कि इसके पुराने लेख आज की हालत में कहाँतक मौजू होंगे। पर आजकल के प्रश्नों की जड़ हमारे पिछले कामों में होती है। इसलिए मेरा खयाल है कि शायद इसमें के पुराने लेख भी हमारी नई समस्या पर रोशनी डालें।

दुनिया का या हिन्दुस्तान का भविष्य क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। हर तरफ लड़ाई, क्रान्ति और हलचल हो रही है और सिर्फ एक बात यही मालूम होती है कि पुरानी दुनिया का अंत हम देख रहे हैं। नई दुनिया अभी पैदा नहीं हुई और हम बीच में टंगे हैं और बीच की मुसीबतें सब झेलते हैं। यह नई दुनिया अपने आप से नहीं बन जावेगी। वह करोड़ों आदमियों के परिश्रम, बलिदान और कोशिश से ही बन सकती है। लेकिन मेहनत तो तब ही फल देती है जब सामने कोई ध्येय हो और जिस रास्ते पर चलना है, वह निश्चय हो। बग़ैर इसके जनता भूली-भटकी फिरती है।

इसलिए कांग्रेस की ओर से ब्रिटानिया की हुकूमत से सवाल किये गये कि वह किस लिए जर्मनी से लड़ाई लड़ रही है, उसका ध्येय क्या है, वह हिन्दुस्तान की आजादी को तसलीम करती है कि नहीं ? इन प्रश्नों

का जवाब उन्होंने देने से इन्कार किया, या गोलमाल दिया। इसी से ज़ाहिर होता है कि उनकी पुरानी साम्राज्यवादी नीति जारी है और वे आज़ादी के लिए नहीं लड़ते। उनकी लड़ाई अपने साम्राज्य को क़ायम करने के लिए है। इससे हमने असहयोग किया।

इस तरह के सवाल हमको अपने से भी करने हैं। हमारा ध्येय क्या है? स्वराज है, या आज़ादी है, यह तो ठीक है। लेकिन कैसा स्वराज? अब गोल शब्दों का समय जाता रहा। हम कैसा राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं? हमको ये सब बातें अपने दिमाग़ में साफ़ करनी हैं। जब विचार साफ़ होते हैं तब ही हमारा कार्य ठीक चल सकता है।

आनंद भवन, इलाहाबाद,
१७ नवंबर १९३९

जवाहरलाल नेहरू

दूसरे संस्करण का वक्तव्य

हमें खुशी है कि प्रस्तुत पुस्तक का पहला संस्करण पांच-छह महीनों के भीतर ही समाप्त हो गया। इस द्वितीय संस्करण में नवम्बर १९३९ ई० से अबतक के लिखे गए पंडितजी के सात लेख और भाषण और जोड़ दिये गए हैं। लेकिन मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई।

हमें आशा है कि उदार पाठक पहले संस्करण की भांति इसे भी अपनायेंगे।

—प्रकाशक

विषय-सूची

हिन्दुस्तान की समस्यायें

: १ :

'भारतमाता की जय'

सभा और जुलूसो के मारे हम दिनभर बेहद परेशान रहे। अम्बाला से चलकर हम करनाल पहुँचे। वहाँसे पानीपत, फिर सोनीपत और अन्त में रोहतक। खूब जोश और भीड़-भाड़ रही और आखिरकार पजाब का दौरा ख़त्म हुआ। एक शान्ति की भावना मेरे भीतर उठी। कितना बोझ सिर पर था और कितनी थकान थी ! अब तो ऐसे लम्बे आराम की जरूरत थी जिसमें जल्दी ही कोई विघ्न-बाधा आकर न पड़े।

रात होगई थी। हम तेजी से रोहतक-दिल्ली रोड की ओर बढे, क्योंकि उसी रात को हमें दिल्ली पहुँचकर गाडी पकडनी थी। नींद मुझे बुरी तरह घेर रही थी। यकायक हमें रुकना पड़ा, क्योंकि बीच सड़क पर आदमी और औरतों की भीड़-की-भीड़ बैठी थी। कुछेक के हाथों में मशालें थी। वे आगे बढ़कर हमारे पास आये और जब उन्हें सतोष हो-गया कि हम कौन हैं, तब उन्होंने बताया कि दोपहर से वे वहां बैठे-बैठे इतजार कर रहे हैं। वे सब हृष्ट-पुष्ट जाट थे। उनमें ज्यादातर छोटे-मोटे जमींदार थे। उनसे बिना थोड़ी-बहुत बातचीत किये आगे बढ़ना मुमकिन नही था। हम बाहर आये और रात के धुधलेपन में हजारो या इससे भी ज्यादा जाट मर्दो और औरतों के बीच बैठ गये।

उनमें से एक चिल्लाया, 'क़ौमी नारा !' और हजारो गलो ने मिलकर जोर के साथ तीन बार चिल्लाकर कहा—'वन्देमातरम !' और फिर उन्होंने 'भारतमाता की जय' के नारे लगाये।

"यह सब 'वन्देमातरम' और 'भारतमाता की जय' किस लिए है ?" मैने पूछा।

कोई उत्तर नही। पहले उन्होंने मुझे घूरकर देखा और फिर एक-

दूसरे का मुंह ताकने लगे। दिखाई पड़ता था कि वे मेरे सवाल करने से कुछ परेशान हो उठे हैं। मैंने सवाल दोहराया—"बोलिए, ये नारे लगाने से आपका क्या मतलब है ?" फिर भी कोई जवाब नहीं मिला। उस जगह के देहाती कांग्रेस-कार्यकर्त्ता कुछ खिन्न-से हो रहे थे। उन्होंने हिम्मत करके सब बातें बतानी चाहीं; लेकिन मैंने उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया।

"यह माता कौन है, जिसको आपने प्रणाम किया है और जिसकी जय के नारे लगाते हैं ?" मैंने फिर सवाल किया। वे फिर चुप और परेशान-से हो रहे। ऐसे अजीब सवाल उनसे कभी नहीं किये गये थे। सहज भाव से उन्होंने सब बातों को मान लिया था। जब उनसे नारे लगाने के लिए कहा जाता था, वे नारे लगा देते थे। उन सब बातों के समझने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं ने नारे लगाने के लिए कहा तो वे उज्र कैसे कर सकते थे। वे तो खूब जोर से पूरी ताक़त लगाकर चिल्ला देते थे ? बस, नारा अच्छा होना चाहिए। इससे उन्हें खुशी होती थी और शायद इससे उनके प्रतिद्वन्द्वियों को कुछ डर भी होता था।

जब भी मैंने सवाल करना बन्द नहीं किया। तब बेहद हिम्मत करके एक आदमी ने कहा, कि 'माता' माता का मतलब 'धरती' से है। उस बेचारे किसान का दिमाग़ धरती की ओर ही गया, जो उसकी सच्ची मां है, भला करने और चाहनेवाली है।

"कौनसी धरती ?" मैंने फिर पूछा, "क्या आपके गांव की धरती, या पंजाब की, या तमाम दुनिया की ?" इन पेचीदा सवालों से वे और परेशान हुए। तब बहुत से लोगों ने चिल्लाकर कहा, कि इन सब का मतलब आप ही समझाइए। हम कुछ भी नहीं जानते और सारी बातें समझना चाहते हैं।

मैंने उन्हें बताया कि भारत क्या है। किस तरह यह उत्तर में कश्मीर और हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक फैला हुआ है। उसमें पंजाब, बंगाल, बम्बई, मदरास सब शामिल हैं। इस महाद्वीप में

उनके जैसे करोड़ों किसान हैं जिनकी उन जैसी ही समस्यायें हैं, उन्हींकी-सी मुश्किलें और बोझ, वैसी ही कुचलनेवाली गरीबी और आफतें हैं। यही महादेश हिन्दुस्तान उन सबके लिए 'भारतमाता' है। जो उसमें रहते हैं और जो उसके बच्चे हैं। भारतमाता कोई सुन्दर और बेबस असहाय नारी नहीं है—जिसके धरती तक लटकनेवाले लम्बे-लम्बे बाल हों, जैसा अक्सर कल्पित तस्वीरों में दिखलाया जाता है।

'भारतमाता की जय!' यह जय बोलकर हमने किसकी जय बोली? उस कल्पित स्त्री की नहीं जो कहीं भी नहीं है। तब क्या यह जय हिन्दुस्तान के पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तानों, पेड़ों, पत्थरों की बोली जाती है?

"नहीं," उन्होंने जवाब दिया। लेकिन कोई ठीक उत्तर वे मुझे न दे सके।

"निश्चय ही हम जय उन लोगों की बोलते हैं जो भारत में रहते हैं—उन करोड़ों आदमियों की जो उसके गाँवों और नगरों में बसते हैं।" मैंने उन्हें बताया। इस जवाब से उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने अनुभव किया कि जवाब ठीक भी है।

"ये आदमी कौन हैं? निश्चय ही आप और आपके भाई। इसलिए जब आप 'भारतमाता की जय' बोलते हैं, तो वह अपने और हिन्दुस्तान-भर के अपने भाई-बहनों की ही जय बोलते हैं। याद रखिए, भारतमाता आप ही हैं और यह आप अपनी ही जय बोलते हैं।"

ध्यान से उन्होंने सुना। प्रकाश की उज्ज्वल रेखा उनके भोले-भाले चेहरों पर उदय होती हुई दिखाई दी। यह ज्ञान उनके लिए एक विचित्र था कि वह नारा, जिसे वे इतने दिनों से लगा रहे हैं, उन्हींके लिए था। हाँ, रोहतक जिले के गाँव के उन्हीं बेचारे जाट-किसानों के लिए। यह उन्हींकी जय थी। तब आइए, तब एक बार फिर मिलकर पुकारें—'भारतमाता की जय!'

तब हम अन्धकार में दिल्ली की ओर बढ़े। रेल मिली और उसके बाद खूब आराम भी।

१६ सितंबर १९३६

क़ायम हों; लेकिन इसका मतलब है—'आज़ादी' शब्द खास तौर से इसी बात पर जोर देने के लिए इस्तेमाल किया गया है—कि हम ब्रिटेन से साम्राज्यवादी सम्बन्ध तोड़ देना चाहते हैं। अगर साम्राज्यवाद इंग्लैंड में रहना है तो हमें जरूर ही उससे अलग होजाना चाहिए; क्योंकि जबतक इंग्लैंड में साम्राज्यवाद है, तबतक इंग्लैंड और हिन्दुस्तान में अगर किसी सम्बन्ध की सम्भावना हो सकती हो तो वह किसी-न-किसी रूप में सिर्फ़ साम्राज्यवादी शासन की ही होगी। वह सम्बन्ध चाहे दिनोंदिन हवाई ही होता जाय, चाहे वह जितना स्पष्ट है, उससे और कम स्पष्ट होजाय, चाहे वह राजनैतिक पहलू पर भी स्पष्ट न हो और फिर भी चाहे उसका आर्थिक पहलू बहुत मजबूत हो। इसलिए साम्राज्यवादी ब्रिटेन की परिभाषा में आज़ादी का मतलब हिन्दुस्तान का इंग्लैण्ड से अलहदा होजाना है। जहांतक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो सोच सकता हूँ और इस विचार का स्वागत भी करूँगा कि इंग्लैंड और हिन्दुस्तान के बीच सम्बन्ध रहें, लेकिन उसकी बुनियाद साम्राज्य न होकर और कुछ हो।

दूसरा सवाल है—

"क्या आप बीच में एक परिवर्तनकाल की जरूरत देखते हैं? यदि हां, तो क्या भारतीय शासन-विधान से किसी तरह यह जरूरत पूरी होती है? अगर नहीं, तो दूसरे उपाय क्या करने चाहिएं?"

जब कभी कोई परिवर्तन होता है, तो लाज़िमीतौर पर बीच की चीज़ें बदल जाती हैं; लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि सरकार का ढांचा कुछ-कुछ स्थिर होजाता है और जल्दी-जल्दी नहीं बदलता। आर्थिक और दूसरे परिवर्तन तो होते ही रहते हैं; क्योंकि वे क़ानूनी और नियमों के लिए रुकते नहीं हैं। वे बदलते रहते हैं, लेकिन सरकार का ढांचा नहीं बदलता। नतीजा यह होता है कि कभी-कभी खास हालतों में ऐसी हलचलें मच जाती हैं, जो सरकार के ढांचे को जबरदस्ती बदल देती हैं। उन्हें क्रान्ति कहते हैं। लेकिन उस हालत में भी परिवर्तन-काल होता है। मैं समझता हूँ कि इस सवाल से आपका मतलब बीच के काल

की बनिस्बत सरकार के ढांचे से अधिक है। इसलिए उसका जवाब देना मुश्किल है; क्योंकि वह बहुत-सी बातों पर मुनहसिर होता है। वह कुछ तो हमपर मुनहसिर है और ज्यादातर ब्रिटिश-सरकार पर तथा बहुत-सी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बातों पर। यह स्पष्ट है कि अगर ब्रिटेन और हिन्दुस्तानियों के बीच आपसी समझौता हो तो लाजिमी तौर पर उस समझौते के पूरे होने की क्रिया में धीरे-धीरे बहुत-से परिवर्तन के स्थान आवेंगे। चाहे वक्त उसमें लगे, लेकिन उस क्रिया में कुछ घटनायें जरूर ही होंगी। यकायक ही कोई एकदम बड़ा परिवर्तन नहीं कर सकता। दूसरी तरफ़, अगर आपसी समझौते से परिवर्तन की सम्भावना नहीं होती तो हलचलें मचने का मौक़ा रहता है और यह कहना मुश्किल है कि हलचल का नतीजा क्या होगा। यह तो हलचलों के परिमाण और आर्थिक कारणों पर, जो हलचल पैदा करते हैं, निर्भर होता है। इससे कुछ भी हो सकता है; क्योंकि मैं देखता हूँ कि हिन्दुस्तान की असली समस्या, अपने भिन्न-भिन्न पहलुओं में, आर्थिक है। खास समस्या तो धरती की समस्या है। बेहद बेकारी फैली है, और धरती पर भार जरूरत से कहीं ज्यादा है। उसीसे सम्बन्धित औद्योगिक समस्या है; क्योंकि अगर कोई धरती की समस्या पर विचार करना चाहता है तो उसे औद्योगिक सवाल पर जरूर विचार करना होगा। और भी बहुत-सी समस्यायें हैं, जैसे मध्यम वर्गवालों की बेकारी। इन सबको एकसाथ हाथ में लेना होगा, जिससे वे एक-दूसरे से मेल खा जायें और अलग-अलग न रहें।

इन सब समस्याओं को एकसाथ सुलझाने के बहुत-से कारण हैं; लेकिन असली कारण यह है कि माली हालत के ठीक न होने से जनता की हालत दिनोंदिन गिरती ही जा रही है। राजनैतिक ढांचे को ऊपर से बदल देने से ही वे नहीं सुलझेंगी। राजनैतिक आधार तो ऐसा भी हो सकता है जो उन समस्याओं को सुलझाने में सहायता दे। राजनैतिक आधार की कसौटी यह है, कि वह इन समस्याओं को सुलझाने और इनका हल निकालने में आसानी पैदा करता है या नहीं?

इसलिए बीच के काल के बारे में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता

है कि ऐसा एक बीच का जमाना जरूर होता है और इस वक्त हम उसी जमाने में होकर गुजर रहे हैं। लेकिन यह तो भविष्य ही बतला सकता है कि तरक्की व्यवस्था के जरिये होगी, या आपस के समझौते से; धीरे-धीरे या तेज़ी से।

हिन्दुस्तान में कांग्रेस और कुछ उससे बाहर के दलों ने सलाह दी है कि इस समस्या के राजनैतिक पहलू के सुलझाने का ठीक और प्रजातंत्रीय तरीका यह है कि एक राष्ट्रीय पंचायत (कॉन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) हो। यानी, बुनियादी तरीके से हिन्दुस्तानी ही हिन्दुस्तान का विधान बनावें। वे इस बात को नहीं मानते कि हिन्दुस्तानी विदेशी हुकूमत के, जहाँतक विधान बनाने का सम्बन्ध है, सिर्फ मुंह देखनेवाले एजेण्ट भर रहें। हिन्दुस्तानियों की इच्छा को मूर्त्तरूप देने का तरीका सिर्फ यह है कि एक राष्ट्रीय पचायत बनाई जाय। आज यह बात मुमकिन नहीं है, सिर्फ इसीलिए कि यह व्यवहार में नहीं आसकती जबतक कि ब्रिटिश-सरकार हिन्दुस्तान में अपनी हुकूमत का खात्मा नहीं कर देती और हिन्दुस्तानियों को ही अपना विधान बनाने के लिए आज़ादी नहीं दे देती। ब्रिटिश-सरकार ऐसा करने का इरादा करे या न करे, घटना-चक्र से यह बात हो ही जायगी, क्योंकि राष्ट्रीय पंचायत के बनने के बाद ही हिन्दुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत का खात्मा होजायगा। पचायत से मतलब तथाकथित नेताओं के दल से नहीं है, जो इकट्ठे होकर विधान बनायें। इस पंचायत के पीछे विचार यह है कि बालिग-मताधिकार के जरिये उसका चुनाव हो। उसमें आदमी भी हों, और औरतें भी हों, जिससे वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व हो सके और जनता की आर्थिक जरूरतें पूरी कराई जासकें। मौजूदा कठिनाई तो यह है कि उच्च मध्य-वर्ग के आदमी बैठ जाते हैं और आर्थिक पहलुओं से विचार करने के बजाय वे नये विधान के पदों के सवाल पर विचार करते हैं कि उनपर कौन-कौन नियत किये जायें। उन्हें उम्मीद रहती है कि नये विधान में पदों से खूब फ़ायदा होगा, सिफारिशें चलेंगी, वगैरा-वगैरा। उस नाजायज फायदे में हिस्सा बँटाने की भी चाह उनमें होती है। कुछ-कुछ

इसकी जगह साम्प्रदायिक समस्या उठ खड़ी होती है। अगर राष्ट्रीय पंचायत के चुनाव में जनता का हाथ रहे तो स्पष्टरूप से जनता पद या नौकरियाँ पाने में दिलचस्पी नहीं लेगी। उनकी दिलचस्पी अपनी ही आर्थिक कठिनाइयों में है। इसलिए ध्यान फ़ौरन ही सामाजिक और आर्थिक सवालों पर दिया जायगा और वे समस्यायें जो बड़ी दिखाई देती हैं लेकिन असल में अहमियत नहीं रखतीं, जैसे साम्प्रदायिक समस्या आदि, सुदूर पीछे पड़ जायेंगी।

सवाल का दूसरा हिस्सा है :—

"क्या भारतीय शासन-विधान से किसी तरह यह जरूरत पूरी होती है ?"

मैंने अभी कहा है कि विधान की कसौटी यह है कि वह आर्थिक समस्याओं के, जो हमारे सामने हैं और जो असली समस्यायें हैं, इन्हें सुलझाने में मदद देता है या नहीं ? भारतीय-शासन-विधान की, जैसा कि शायद आप जानते हैं, लगभग हर दृष्टि से हिन्दुस्तान के हरेक वर्ग और हरेक दल ने आलोचना की है। हिन्दुस्तान में किसीने भी इसे अच्छा कहा है, इसमें मुझे सन्देह है। अगर कुछ आदमी ऐसे हैं जो इसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार हैं, तो हिन्दुस्तान में या तो उनके स्थापित स्वार्थ हैं या ये वे लोग हैं जो सिर्फ़ आदत की ही वजह से ब्रिटिश-सरकार के सब कामों को बर्दाश्त कर लेते हैं। इन आदमियों को छोड़कर हिन्दुस्तान के करीब-करीब हरेक राजनैतिक दल ने इस भारतीय-शासन-विधान का घोर विरोध किया है। सब इसकी मुखालिफ़त करते हैं और उन्होंने हर तरह से इसकी आलोचना की है। मेरा विचार है कि हमारी मदद करने के बजाय यह वास्तव में हमें रोकता है, हमारे हाथ-पैरों को इतनी मज़बूती से जकड़ता है कि हम आगे नहीं बढ़ सकते। ब्रिटेन या हिन्दुस्तान के इन तमाम स्थापित स्वार्थों ने इस विधान में ऐसी व्यवस्था जरूर करदी है कि कानून से अब कोई भी खास सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक परिवर्तन होना करीब-करीब नामुमकिन है। एक तरफ़ तो इस भारतीय-शासन-विधान

के अन्तर्गत कोई भी खास आर्थिक परिवर्तन करने की कोशिश नहीं कर सकते, दूसरी तरफ़ विधान को भी हम नहीं बदल सकते। यह आपको नहीं सोचना चाहिए कि भारतीय-शासन-विधान में हमें प्रजातन्त्रीय यंत्र मिल रहा है, जिसको सुधारकर फायदेमन्द बनाया जा सकता है। ऐसा नहीं है। स्वाधीन उपनिवेशो—कनाडा और आस्ट्रेलिया—में शुरू में स्वराज के लिए जो बातें की गईं उन्हें यहाँ लागू न कीजिए। वहाँकी समस्यायें बड़ी सीधी-सादी थीं। वहाँ मामूली जन-समुदाय थे, जिनके साथ व्यवहार करना पड़ा और चाहे जो कार्रवाइयाँ कीगईं, सुधार के लिए वहाँ गुंजाइश थी और सुधार हुए। यह बात हिन्दुस्तान पर किसी तरह भी लागू नहीं होती है। आज हिन्दुस्तान के सामने मुकाबिला करने के लिए मामूली समस्या नहीं है। उसे बहुत ही जटिल आर्थिक समस्या का मुकाबिला करना है और उसपर निर्णय करने में भी देर नहीं की जासकती। दूसरे भारतीय-शासन-विधान ऐसा है कि उसमें सुधार नहीं किया जा सकता। अगर ब्रिटिश-सरकार अपनेआप उसे बदलती है तब तो समय-समय पर सुधार हो सकते हैं, लेकिन जैसी कि वह सरकार है, चाहे हिन्दुस्तान के निन्यानवे या सौ फी सदी आदमी उसे बदलवाना चाहें तब भी वे उसे नहीं बदलवा सकते। उसमें बदलने की गुंजाइश ही नहीं है। वह तो हिन्दुस्तानियों पर स्थापित स्वार्थों की स्थायी सांकल जकड़ना है। हिन्दुस्तानियों के पास तो बस यही उपाय है कि या तो वे उसे मान लें, और अगर उसे बदलना चाहते हैं, तो किसी-न-किसी रूप में उसके खिलाफ विद्रोह करें। इसलिए भारतीय-शासन-विधान किसी भी तरह से बीच के परिवर्तन-काल की जरूरत को पूरा नहीं करता। इस विधान के अनुसार एक बड़ा निर्वाचक-समूह बना है। वह अच्छा है; लेकिन सारे विधान में बस एक यही अच्छी चीज़ है।

तीसरा सवाल है—

"हिन्दुस्तान की समस्या का दुनिया की समस्याओं से क्या सम्बन्ध है? क्या इस सम्बन्ध में राष्ट्र-संघ कुछ मदद दे सकता है?"

मैं समझता हूँ कि क़रीब-क़रीब सभी बड़ी समस्यायें जो दुनिया में—रूस या हिन्दुस्तान या चीन या अमरीका में—हमारे सामने हैं, वे आपस में इतनी मिली हुई हैं कि सबको छोड़कर एक को समझना या उसे सुलझाना असल में बड़ा मुश्किल है। आज दुनिया के जुदे-जुदे हिस्से आपस में बहुत सम्बन्धित होते जा रहे हैं और दुनिया के एक हिस्से की घटनायें फ़ौरन ही दूसरे हिस्सों पर अपना असर डालती हैं। अगर बड़ी घटना—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध—होती है तो स्पष्ट रूप से तमाम दुनिया को परेशानी होती है। अगर कोई आर्थिक हलचल होती है—जैसी कि पिछले कुछ बरसों में हुई—तो उसका दुनियाभर के ऊपर असर पड़ता है। ये बड़ी लहरें और आन्दोलन तमाम दुनिया पर असर डालते हैं और स्पष्ट रूप से हिन्दुस्तान की समस्या दूसरी समस्याओं से बहुत हिली-मिली है। कोई बड़ी चीज़ हिन्दुस्तान में हो तो वह ज़रूर ही तमाम ब्रिटिश-राष्ट्र समूह पर यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर अपना असर डालती है। यह दुनिया के लिए एक महत्वपूर्ण चीज़ होती है; क्योंकि ब्रिटिश-साम्राज्यवाद आज दुनिया की राजनीति में एक अहम चीज़ है। जहाँतक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है, यह सभी जानते हैं कि उसने ब्रिटेन की नीति पर पिछले सौ बरसों में सबसे ज़्यादा असर डाला है। नेपोलियन के ज़माने में हिन्दुस्तान बड़ा दिखाई देता था, हालाँकि अगर नेपोलियन की लड़ाइयों का हाल आप पढ़ें तो देखेंगे कि हिन्दुस्तान का नाम कहीं-कहीं ही आया है। लेकिन तह में वह हर वक़्त मौजूद था। चाहे क्रीमियन-युद्ध हो या मिस्र पर क़ब्ज़ा; लेकिन हिन्दुस्तान का और उसके रास्तों का सवाल हमेशा उसकी तह में बना ही रहा। हिन्दुस्तान के रास्तों का सवाल ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सामने हमेशा रहा है। शायद आपमें से कुछ को याद हो कि महायुद्ध के बाद भी एक विचार था,—जिसको मि० विन्स्टन चर्चिल ने और ब्रिटिश जनता के कुछ ख़ास नेताओं ने पोषित किया था—कि एक बड़ा मध्यपूर्वीय राज्य क़ायम किया जाय जो हिन्दुस्तान के किनारों से लेकर कुस्तुन्तुनिया तक फैला हो। लेकिन वह विचार पूरा नहीं हुआ। अब

यह बात कुछ अजीब-सी लगती है; लेकिन उस वक्त, लड़ाई के बाद, इतनी जगह अंग्रेजों के क़ब्ज़े में थी। ईरान, मेसोपोटामिया, फिलिस्तीन, अरब के कुछ हिस्से, और कुस्तुनतुनिया, ये सब अंग्रेजों के कब्ज़े में थे। इसलिए यह विचार उस समय उतना ख़याली नहीं था जितना कि अब लगता है। लेकिन बहुत-सी बातें हुईं जिनकी वजह से वह कोई शक्ल अख्तियार न कर सका। रूस की सरकार थी, टर्की और ईरान के अपने-अपने झगड़े थे। ऐसी ही और बातें थीं। सारा मामला तरह-तरह के झगड़ों से गड़बड़ हो रहा था। ऐसा होते हुए भी, अंग्रेजी-सरकार की मंशा थी कि हिन्दुस्तान के खुश्की के रास्ते पर अपना क़ब्ज़ा करले; क्योंकि हवाई जहाजों और मोटरों की तरक्की से खुश्की के रास्तों की अहमियत बढ़ती जाती है। मोसल के सवाल ने टर्की और इंग्लैण्ड के बीच करीब-करीब लड़ाई पैदा कर दी—मुख्यतः इसलिए कि हिन्दुस्तान के रास्ते पर मोसल का कब्ज़ा है।

इसलिए बहुत-से दृष्टिकोणों से हिन्दुस्तान का सवाल दुनियाभर की समस्याओं पर अपना बहुत असर डालता है। जो कुछ हिन्दुस्तान में होता है, उसका लाज़िमी असर दूसरे मुल्कों पर पड़ता है।

इस सम्बन्ध में शायद राष्ट्र-संघ कुछ मदद कर सकता है, अगर हिन्दुस्तान का दृष्टिकोण उसके सामने ठीक-ठीक रक्खा जाय और उस-पर ज़ोर दिया जाय। लेकिन अबतक तो हालत ऐसी रही है कि राष्ट्र-संघ से हिन्दुस्तान का कोई वास्ता नहीं रहा है, सिर्फ उसका संघ में प्रतिनिधित्व होता रहा है। राष्ट्र-संघ में तथाकथित हिन्दुस्तान के प्रतिनिधियों की नामज़दगी भारत-सरकार के ज़रिये ब्रिटिश-सरकार के सलाह-मशविरे से होती है, इसलिए असल में वे संघ में ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, हिन्दुस्तान के लोकमत का वे ज़रा भी प्रतिनिधित्व नहीं करते। इसलिए आप कह सकते हैं कि राष्ट्र-संघ में हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व बिलकुल नहीं होता और ब्रिटिश सरकार को एक और अतिरिक्त प्रतिनिधि मिल जाता है। अगर हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व ठीक-ठीक हो तो मैं समझता हूँ कि

मैं समझता हूँ कि करीब-करीब सभी बड़ी समस्यायें जो दुनिया में—रूस या हिन्दुस्तान या चीन या अमरीका में—हमारे सामने हैं, वे आपस में इतनी मिली हुई हैं कि सबको छोड़कर एक को समझना या उसे सुलझाना असल में बड़ा मुश्किल है। आज दुनिया के जुदे-जुदे हिस्से आपस में बहुत सम्बन्धित होते जा रहे हैं और दुनिया के एक हिस्से की घटनायें फौरन ही दूसरे हिस्सों पर अपना असर डालती हैं। अगर बड़ी घटना—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध—होती है तो स्पष्ट रूप में तमाम दुनिया को परेशानी होती है। अगर कोई आर्थिक हलचल होती है—जैसी कि पिछले कुछ बरसों में हुई—तो उससे दुनियाभर के ऊपर असर पड़ता है। ये बड़ी लहरें और आन्दोलन तमाम दुनिया पर असर डालते हैं और स्पष्ट रूप से हिन्दुस्तान की समस्या दूसरी समस्याओं से बहुत हिली-मिली है। कोई बड़ी चीज हिन्दुस्तान में हो तो वह जरूर ही तमाम ब्रिटिश-राष्ट्र समूह पर यानी ब्रिटिश साम्राज्य-वाद पर अपना असर डालती है। वह दुनिया के लिए एक महत्वपूर्ण चीज होती है; क्योंकि ब्रिटिश-साम्राज्यवाद आज दुनिया की राज-नीति में एक अहम चीज है। जहाँतक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है, यह सभी जानते हैं कि उसने ब्रिटेन की नीति पर पिछले सौ बरसों में सबसे ज्यादा असर डाला है। नेपोलियन के जमाने में हिन्दुस्तान बड़ा दिखाई देता था, हालाँकि अगर नेपोलियन की लड़ाइयों का हाल आप पढ़ें तो देखेंगे कि हिन्दुस्तान का नाम कहीं-कहीं ही आता है। लेकिन तह में वह हर वक्त मौजूद था। चाहे क्रीमियन-युद्ध हो या मिस्र पर कब्जा; लेकिन हिन्दु-स्तान का और उसके रास्तों का सवाल हमेशा उनकी तह में बना ही रहा। हिन्दुस्तान के रास्तों का सवाल ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सामने हमेशा रहा है। शायद आपमें से कुछ को याद हो कि महायुद्ध के बाद भी एक विचार था,—जिसको मि० विन्स्टन चर्चिल ने और ब्रिटिश समाज के कुछ खास नेताओं ने पोषित किया था—कि एक बड़ा मध्यपूर्वीय राज्य कायम किया जाय जो हिन्दुस्तान के किनारों से लेकर कुस्तुन्तुनिया तक फैला हो। लेकिन वह विचार पूरा नहीं हुआ। अब

यह बात कुछ अजीब-सी लगती है; लेकिन उस वक्त, लड़ाई के बाद, इतनी जगह अंग्रेजों के कब्जे में थी। ईरान, मेसोपोटामिया, फिलिस्तीन, अरब के कुछ हिस्से, और कुस्तुनतुनिया, ये सब अंग्रेजों के कब्जे में थे। इसलिए यह विचार उस समय उतना खयाली नहीं था जितना कि अब लगता है। लेकिन बहुत-सी बातें हुईं जिनकी वजह से वह कोई शक्ल अख्तियार न कर सका। रूस की सरकार थी, टर्की और ईरान के अपने-अपने झगड़े थे। ऐसी ही और बातें थीं। सारा मामला तरह-तरह के झगड़ों से गड़बड़ हो रहा था। ऐसा होते हुए भी, अंग्रेजी-सरकार की मंशा थी कि हिन्दुस्तान के खुश्की के रास्ते पर अपना कब्जा करलें; क्योंकि हवाई जहाजों और मोटरों की तरक्की से खुश्की के रास्तों की अहमियत बढ़ती जाती है। मोसल के सवाल ने टर्की और इंग्लैण्ड के बीच करीब-करीब लड़ाई पैदा कर दी—मुख्यतः इसलिए कि हिन्दुस्तान के रास्ते पर मोसल का कब्जा है।

इसलिए बहुत-से दृष्टिकोणों से हिन्दुस्तान का सवाल दुनियाभर की समस्याओं पर अपना बहुत असर डालता है। जो कुछ हिन्दुस्तान में होता है, उसका लाज़िमी असर दूसरे मुल्कों पर पड़ता है।

इस सम्बन्ध में शायद राष्ट्र-संघ कुछ मदद कर सकता है, अगर हिन्दुस्तान का दृष्टिकोण उसके सामने ठीक-ठीक रक्खा जाय और उस-पर ज़ोर दिया जाय। लेकिन अबतक तो हालत ऐसी रही है कि राष्ट्र-संघ से हिन्दुस्तान का कोई वास्ता नहीं रहा है, सिर्फ उसका संघ में प्रतिनिधित्व होता रहा है। राष्ट्र-संघ में तथाकथित हिन्दुस्तान के प्रतिनिधियों की नामज़दगी भारत-सरकार के ज़रिये ब्रिटिश-सरकार के सलाह-मशविरे से होती है, इसलिए असल में वे संघ में ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, हिन्दुस्तान के लोकमत का वे ज़रा भी प्रतिनिधित्व नहीं करते। इसलिए आप कह सकते हैं कि राष्ट्र-संघ में हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व बिलकुल नहीं होता और ब्रिटिश सरकार को एक और अतिरिक्त प्रतिनिधि मिल जाता है। अगर हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व ठीक-ठीक हो तो मैं समझता हूँ कि

राष्ट्र-संघ कुछ फ़ायदा पहुँचा सकता है। लेकिन बुनियादी तौर से राष्ट्र-संघ दुनिया में मौजूदा हालतों को क़ायम रखने के लिए एक संगठन है और हिन्दुस्तानी स्पष्टरूप से अपनी मौजूदा हालत को बदलना चाहते हैं। इसलिए अगर वे राष्ट्र-संघ के सामने कोई ख़ास प्रस्ताव रखते हैं तो उसपर संघ के अहदनामे या नियम के अनुसार, जिनके अधीन संघ को चलना पड़ता है, रोक लगाई जा सकती है और कह दिया जा सकता है कि उससे ब्रिटिश-साम्राज्य की घरेलू नीति में दस्तन्दाज़ी होती है।

चौथा सवाल है—

"साम्प्रदायिक समस्या आर्थिक कारणों से कहाँतक है?"

यह सवाल शायद ठीक तरह से नहीं रक्खा गया इसके लिए कुछ-कुछ ज़िम्मेदारी मेरी भी है। क्योंकि साम्प्रदायिक सवाल बुनियादी तौर पर आर्थिक कारणों की वजह से नहीं होता। उसके पीछे आर्थिक कारण होते ज़रूर हैं—जो उसपर अक्सर अपना असर डालते हैं; लेकिन उससे कहीं ज़्यादा उसके कारण राजनैतिक होते हैं। मज़हबी कारणों की वजह से यह नहीं होता, इस बात को मैं चाहता हूँ आप याद रक्खें। मज़हबी लड़ाई या मुनाज़िरे से साम्प्रदायिक सवाल का कोई वास्ता नहीं होता। अगर कोई वास्ता है तो इतना ही कि उसके पीछे थोड़ा-सा मज़हबी जिहाद है, जो पिछले दिनों कभी-कभी जुलूसों वग़ैरा में लड़ाई की जड़ साबित हुआ है और उससे सिर फूटे हैं। लेकिन मौजूदा साम्प्रदायिक सवाल मज़हबी सवाल नहीं है, हालाँकि कभी-कभी यह मज़हबी भावनाओं का नाजायज़ फ़ायदा उठाता है और उससे मुसीबत पैदा होती है। यह तो एक ऊपर मध्य-वर्ग के लोगों का राजनैतिक सवाल है, जो कुछ तो सरकार की राष्ट्रीय आन्दोलन को कमज़ोर करने या उसमें फूट पैदा करने की कोशिश से पैदा हुआ है, और कुछ हिन्दुस्तान में आनेवाली राजनैतिक सत्ता से लाभ पाने की आशा और पदों के नाजायज़ फ़ायदे में हिस्सा बँटाने की इच्छा से पैदा हुआ है। एक हदतक यह सवाल आर्थिक भी है; क्योंकि सामूहिक रूप से मुसलमान हिन्दुओं की

बनिस्बत गरीब हैं। कभी-कभी आप देखते हैं कि कर्जदाता हिन्दू है तो कर्जदार मुसलमान, कभी-कभी जमींदार हिन्दू है, तो काश्तकार मुसलमान। हिन्दू भी काश्तकार हैं और मर्दुमशुमारी में उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। कभी-कभी ऐसा होता है कि असल में झगड़ा तो कर्जदाता और उसके कर्जदार के बीच या जमींदार और उसके किसान के बीच होता है; लेकिन वह अखबारों में छप जाता है और उसकी अहमियत हिन्दू-मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक झगड़े की होजाती है। बुनियादी तौर पर यह साम्प्रदायिक समस्या उच्च मध्य-वर्ग के हिन्दुओं और मुसलमानों में नये विधान में नौकरियाँ पाने और ताकत पैदा करने के लिए लड़ाई की समस्या है। जनता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक भी साम्प्रदायिक माँग किसी आर्थिक मसले से सम्बन्ध नहीं रखती और न जनता से ही उसका कोई वास्ता है। अगर आप साम्प्रदायिक माँगों की जाँच करें तो आप देखेंगे कि वे सिर्फ असेम्बलियों या कौंसिलों में आपस में मिलनेवाली सीटों के लिए हैं या तरह-तरह की नौकरियों के लिए हैं।

पाँचवाँ सवाल है—

"उत्तर-पश्चिमी सरहद और बंगाल की समस्या को सुलझाने में आप और कौन-सा तरीका इस्तेमाल करेंगे ?"

संक्षेप में दूसरा तरीका मैं यही बतलाऊँगा कि समझौता किया जाय और समस्या के सुलझाने की आर्थिक आधार पर कुछ कोशिश की जाय, क्योंकि जरूरी तौर पर सरहदी लोगों की मुश्किल उनका कहत है। पहाड़ों पर वे रहते हैं। जमीन कड़ी है। खाने की तलाश में और लूटमार करने के लिए ही वे नीचे उतरकर आते हैं। जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो नहीं सोचता कि सरहद की समस्या को हल करना मुश्किल है। अगर उसे ठीक और हमदर्दी के साथ सुलझाया जाय, तो मेरा खयाल है कि वह बहुत आसानी से सुलझ सकती है। मेरा खयाल है कि दरअसल ऐसी ही—बिलकुल वही नहीं लेकिन ऐसी ही—समस्या उन्नीसवीं सदी में रूस की सरकार यानी जार की सरकार के सामने थी; क्योंकि उसकी सरहद बहुत पास थी और करीब-करीब ऐसे ही आदमियों के साथ उसे व्यवहार करना

था। जहाँतक मैं जानता हूँ, इन आदमियों के साथ व्यवहार करने में सरकार को कभी कोई कठिनाई नहीं हुई; निश्चय ही इतनी कठिनाई तो कभी नहीं हुई जितनी की ब्रिटिश-सरकार को करीब सौ बरस से हो रही है। साफ़ बात है तो यह है कि ब्रिटिश-सरकार की सरहदी-नीति भयानक और एकदम नाकामयाब रही है। और सरहदी-सवाल को पूरी तरह सुलझाने पर भी वे तय नहीं कर पाते और हर साल या हर दूसरे साल यह सवाल उठ खड़ा होता है, और फ़ौजी चढ़ाई करके क़त्ल करने, बम बरसाने और ऐसी ही बहुत-सी बातें करने के बावजूद भी कुछ नहीं होता, तो साफ़ है कि उनकी नीति में ही कोई कमी है। ज़ार की सरकार को तो कभी उन सब कठिनाइयों का मुक़ाबिला नहीं करना पड़ा, जितना कि ब्रिटिश सरकार कर रही है। इसका कारण, मैं मानता हूँ, यह है कि ज़ार की सरकार ने सरहदी लोगों को कहीं ज्यादा सीधी-सादी ज़िन्दगी बिताने की सुविधा दी थी। उसने उनसे उपनिवेश बसाने की कोशिश की और देश में उन्हें बसाना चाहा। यह मैं अपनी सलाह के तौर पर पेश कर रहा हूँ। निश्चित रूप से कहने के लिए मैं काफ़ी बातें नहीं जानता कि क्यों ज़ार की सरकार को उतनी कठिनाई नहीं हुई जितनी कि ब्रिटिश-सरकार को सरहदी आदमियों से सुलझने में हो रही है। फिर भी, इस समस्या से सम्बन्धित आदमी ज्यादा नहीं हैं और आर्थिक आधारों पर उनसे व्यवहार करने में, जिससे कि उनकी आर्थिक माँग दूर हो जाय, कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। और बाक़ी के लिए यह है कि उनसे सम्बन्ध क़ायम करने में सहानुभूति की भावना होनी चाहिए, ऐसे नहीं जैसे कि हाल ही में इङ्गलैण्डवालों ने वज़ीरिस्तान में क़त्लआम किये हैं। यह तरीक़ा तो एकदम नाकामयाब रहा है। सरहदी आदमी बड़े बहादुर आदमी हैं। उन्हें इसकी ज्यादा परवा नहीं होती कि वे जीयें या मरें; लेकिन वे दूसरों के मातहत रहना पसन्द नहीं करते। वे आज़ादी-पसन्द आदमी हैं, जैसे कि पहाड़ी आदमी अक्सर हुआ करते हैं। ब्रिटिश-सरकार उनका स्थायी रूप से दमन करने में कामयाब नहीं हुई। वह उन्हें समय-समय पर डरा सकती है; लेकिन उनका दमन नहीं कर सकती।

जहाँतक सहानुभूति के साथ सम्बन्ध कायम करने का सवाल है, बरसों से सरहदी लोग गांधीजी को वहाँ आने का निमन्त्रण दे रहे हैं। मुझे यक़ीन है कि कुछ बरस पहले वह सरहदी सूबे में गये भी थे, लेकिन उन्होंने सरहद पार नहीं की। और न ठेठ वहाँतक पहुँचे ही। सरहद के दोनों तरफ़ उनका नाम सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं। सरहदी आदमियों में वह बहुत मशहूर हैं और बार-बार उधर आने के लिए उन्हें न्योता दिया गया है; लेकिन सरकार ने उन्हें वहाँ जाने की इजाज़त नहीं दी। सरकार की मर्जी के खिलाफ़ वह वहाँ नहीं जाना चाहते। इस मसले पर उन्होंने सरकार से झगड़ा मोल लेना पसंद नहीं किया। इसलिए जब कभी उन्होंने जाना चाहा, तब यह कहकर उन्होंने वाइसराय या भारत-सरकार के सामने यह बात रक्खी कि—"मुझे वहाँ बुलाया गया है, और मैं वहाँ जाना चाहूँगा।" और हमेशा उन्हें एक ही जवाब मिला, "हमारी जोरदार राय है कि आप वहाँ न जायें।" यह करीब-करीब मनाही के ही बराबर होता है। इसलिए वह नहीं गये। गांधीजी के अलावा सरहदी सूबे के बड़े नेता अब्दुलग़फ्फारखाँ का उस तमाम हिस्से पर बहुत असर है और वह वहाँ मशहूर भी है। यह ताज्जुब की बात है कि वह उस हिस्से में ऐसी ज़बरदस्त हस्ती कैसे बन गये? और यही बात काफ़ी थी जिससे ब्रिटिश सरकार ने उन्हें बेहद नापसंद किया। ऐसे फ़िसादी पठानों पर भी जिस आदमी का इतना भारी असर है, वह तो ऐसा आदमी होगा जिसे कोई भी सरकारी अफ़सर पसन्द नहीं करेगा। इसलिए वह अपना वक्त जेल में काट रहे हैं। इस वक्त भी वह जेल में हैं। बिना मुक़दमा चलाये दो-तीन साल जेल में रह चुकने के बाद वह पिछले साल छूटे थे; लेकिन बाहर वह सिर्फ़ तीन महीने ही रह पाये और फिर दो साल की सज़ा काटने के लिए जेल भेज दिये गये। वही सज़ा अब वह काट रहे हैं। आप शायद जानते हों कि सबसे ऊँची कांग्रेस-कार्यसमिति के वह मेम्बर हैं। वह सरहद के ही नहीं, बल्कि तमाम हिन्दुस्तान के सबसे लोकप्रिय आदमियों में से एक हैं। उनके नाम से आप महसूस करेंगे कि वह मुसलमान हैं, हिन्दू नहीं। वह हिन्दुस्तान

की जनता के सबसे बड़े मुसलमान नेताओं में से एक हैं। कांग्रेस-आन्दोलन में ऊँची-से-ऊँची जगहों में उनका स्थान है। आपको यह याद रखना चाहिए कि कांग्रेस-आंदोलन के पीछे, खासकर उसमें अनिवार्य रूप से सूबा सरहद, सिन्ध है, मुसलमानों की बड़ी ताक़त है। इसलिए अब्दुलगफ्फार खाँ और गांधीजी सरहद में जाते तो मेरी राय में उनका बहुत शानदार स्वागत किया जाता और वहाँ से दूसरी और बातों के साथ सरहदी समस्या पर भी गौर कर सकते। मैं नहीं सोचता कि उस समस्या को सुलझाना मुश्किल होगा। मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि उनके जाने से वहाँ की सारी मुसीबतों का खात्मा हो जायगा। ऐसा कहना तो फ़िज़ूल होगा। कुछ मुसीबतें तो बार-बार उठती ही रहेंगी; लेकिन पायेदारी की नींव डाली जा सकती थी। और अगर कुछ आर्थिक उपाय भी काम में लाये जाते तो मैं समझता हूँ कि इन बार-बार आनेवाली मुसीबत का सिलसिला ही खात्मा हो जाता।

बंगाल के बारे में बात है कि दहशत आतंकवाद को जितना कि वह खतरनाक है उससे कहीं अधिक नाम और विज्ञापन दिया गया है। इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता कि आतंकवाद बंगाल में रहा है और अब भी है, लेकिन आखिरकार ज़रा सोचिए कि अगर हिन्दुस्तान जैसे मुल्क में या बंगाल जैसे बड़े सूबे में दो-तीन साल में एक-दो आतंक के मामले हो भी गये तो क्या? (पिछले दो सालों में, मैं समझता हूँ, एक भी मामला नहीं हुआ। तीसरे साल में शायद एक या दो हुए हैं।) आतंकवाद की ऐसी दीन हालत है और वह उतना खतरनाक भी नहीं है। इस मामले में हमें अपनी अक्ल को नहीं खोना चाहिए। यह पहली चीज़ है जिसे मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। दूसरे, जहाँ तक मैं जानता हूँ (मिदनापुर में मेरी और कुछ की मुझे कोई खबर नहीं है; क्योंकि मैं दो-तीन साल से जेल से ही लौटा हूँ) वहाँ कोई भी संगठित आतंकवादी आंदोलन अब नहीं है। पहले था; लेकिन शायद बंगाल या कहीं भी हिन्दुस्तान में अब कोई आंदोलन नहीं है। मेरा मतलब इससे यह नहीं है कि बंगाल या और कहीं के आदमी हिंसात्मक तरीकों में

विश्वास ही नहीं रखते। ऐसे आदमी बहुत-से हैं जो हिंसात्मक तरीकों से और क्रांति में विश्वास करते हैं; लेकिन मेरा खयाल है कि वे आदमी भी जो पहले आतंकवादी कामों में विश्वास करते थे, अब वैसा नहीं करते, यानी, पुराने आतंकवादी या उनमें से बहुत-से अब भी सोचते हैं कि सभी संभावनाओं में शासक सत्ता से लड़ने के लिए सशस्त्र बल-प्रयोग की जरूरत हो सकती है; लेकिन वैसा वे बलवा, बल-प्रयोग या किसी तरह के संगठित विद्रोह को ही परिभाषा में सोचते हैं। अब वे बम फेंकने या आदमियों को गोली मार देने की बात नहीं सोचते। मेरे खयाल में बहुत-से तो गांधीजी के अहिंसा के आंदोलन की वजह से आतंकवादी आदोलन से एकदम दूर हट गये हैं। जो रहे, वे भी निरे आतंकवादी खयाल के नहीं रहे, जोकि, जैसा आप जानते हैं, राजनैतिक आन्दोलनों में एक बड़ा बच्चों का-सा खयाल है। जब एक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है तो उसकी जड़ में जोश, बेबसी और मायूसी होती है, जो भड़के हुए जवानों को आतंकवादी काम करने के लिए मजबूर कर देती है, लेकिन ज्यों-ज्यों आंदोलन बढ़ता जाता है और मजबूत होता जाता है, त्यों-त्यों आदमियों की ताकत एक संगठित काम करने में, सामूहिक-आदोलन चलाने वगैरा में, लगती है। ऐसा ही हिन्दुस्तान में हुआ है, और फलस्वरूप आतंकवादी आंदोलन करीब-करीब खत्म होगया है। लेकिन बंगाल में जो खौफनाक सख्तियां की जा रही हैं उन्होंने जरूर ही पुराने आतंकवादियों के दल की ओर से बदला लेने के लिए खोल दी हैं। मिसाल के तौर पर, एक शख्स जब अपने दोस्तों पर अपने ही शहर में बड़ी खौफनाक बातें होते देखता है, तो उसका खून खौलने लग जाता है। संभव है उन्हीं अत्याचारों का यह अकेला आदमी या दो-तीन मिलकर बदला लेना निश्चय करते हैं। संगठन के रूप में उसका आतंकवाद से कोई सरोकार नहीं है। वह तो एकदम बदला लेने के लिए शख्सी कार्रवाई है। ऐसे आतंकवादी काम कभी-कभी होते हैं; लेकिन, जैसाकि मैंने कहा, पिछले दो सालों में यह भी नहीं हुआ। फिर पुराने आतंकवादियों को पुलिस अच्छी तरह से जानती है। उनमें से बहुत-से तो बाहर निकाल दिये गये हैं या जेल में डाल दिये गये हैं,

कुछ को फाँसी पर लटका दिया है; लेकिन मेरा ख़याल है, कुछ अब भी इधर-उधर हैं। दो-तीन साल हुए उनमें से एक से मैं मिला था। पुराने दिनों में आतंकवादी आंदोलन का वह एक ख़ास आदमी था। वह मुझसे मिलने आया और कहने लगा—"निश्चित रूप से मेरी राय है कि आतंकवाद के काम ठीक नहीं हैं। मैं उन्हें अब नहीं करना चाहता। अपने आदमियों पर भी मैं ज़ोर डाल रहा हूँ कि वे भी न करें। लेकिन अब मैं थक गया हूँ। कुत्ते की तरह मेरा पीछा किया जाता है। मैं एक जगह से दूसरी जगह जाता हूँ। मैं जानता हूँ कि जब कभी पकड़ा जाऊँगा, मुझे मौत की सज़ा मिलेगी। वैसा मैं नहीं करना चाहता। जब पकड़ा जाऊँगा, तब अपने बचाव के लिए गोली चलाऊँगा।" यह अक्सर देखा जाता है कि पुराना आतंकवादी जब पीछा किया जाता है और पकड़ लिया जाने वाला होता है, तभी वह गोली चलाता है। आख़िर उसे फाँसी मिलना है और तब वह फाँसी के तख़्ते पर लटकने की बनिस्बत गोली चलाना और गोली खाकर मर जाना पसन्द करता है।

मैं जो कहना चाहता हूँ, उसका मतलब यह है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन आतंकवादी ढंग से बिल्कुल नहीं चल रहा है। कभी-कभी कोई शख़्स मजबूरन या बचाव के लिए, जबकि वह पकड़ा जाता है, कोई आतंकवादी काम कर बैठता है; नहीं तो आतंकवाद ख़त्म हो ही गया है। जब ऐसी बात होती है, तब उसकी जड़ में मनोवैज्ञानिक या दूसरे कारण होते हैं, और यह तो बिल्कुल हिमाक़त की बात है कि फ़ौजी क़ानूनों के ख़ास तरीक़ों से उसका दमन किया जाय। औसत फ़ौजी आदमी या किसी मसले का हल सिर्फ़ फ़ौजी क़ानूनों की ही परिभाषा में सोच सकता है। हमारी बदक़िस्मती से हमारे ग़ैर-फ़ौजी आदमियों के भी दिमाग़ ज़्यादातर फ़ौजी तरीक़ों पर ही चलते हैं। इसलिए स्पष्ट रूप से बेचारा आतंकवादी अपनी ही ज़िन्दगी से खेलता है। कौन जानता है कि उसकी जान उसी घड़ी नहीं चली जायगी, जिस घड़ी वह आतंकवादी काम करता है? मान लीजिए एक आदमी भीड़-भरे हॉल में जाता है और दूसरे आदमी को गोली से मार देता है। ऐसी हालत में उसकी

जान भी बच नहीं सकती। मेरी समझ में नहीं आता कि जो आदमी अपनी ज़िन्दगी की बाज़ी लगाने के लिए तैयार है, वह फ़ौजी क़ानूनों से, जो उसके खिलाफ़ लगाये जा सकते हैं, कैसे भयभीत किया जा सकता है? वह तो जानता है कि जब वह अपना आतंकवादी काम करता है, तब उसका मरना भी निश्चित है। आमतौर पर वह अपनी जेब में थोड़ा-सा ज़हर ले जाता है और काम करने के बाद उसे खा लेता है। होता क्या है; बेचारे बहुत-से भोले-भाले बेक़सूर आदमियों की मुसीबत आती है।

छठा सवाल है—

"इस मुल्क के आदमी किस तरीक़े से मदद कर सकते हैं? आपके विचार में मेल-जोल करनेवाला कोई दल कितना काम कर सकता है?"

इस सवाल का जवाब देना आसान नहीं है, हालांकि बहुत-सी जगहों पर मैंने इसका जवाब दिया है—क्योंकि जिस तरीक़े से मदद कर सकते हैं, वह यहाँ की बदलती हालतों पर निर्भर है, लेकिन निश्चय ही बहुत-कुछ किया जा सकता है, अगर लोग हिन्दुस्तान की समस्याओं में जितनी ज़रूरत है उतनी दिलचस्पी लें और हिन्दुस्तान और दुनिया दोनों के दृष्टिकोणों को सामने रखकर सोचें कि उसके लिए ठीक हल की आवश्यकता है। मैं नहीं जानता कि मौजूदा हालतों में अकेले दलों का कुछ प्रभाव पड़ सकता है। यानी अकेले दल सरकार की नीति को नहीं बदल सकते, हालांकि मामूली बातों में वे उसमें कुछ हेरफेर कर सकते हैं; लेकिन आपके जैसे दल हिन्दुस्तान के हालात को हमेशा यहाँ लोगों के सामने रख सकते हैं। मिसाल के तौरपर लीजिए। अब भी अंग्रेज़ लोग यह नहीं जानते कि हिन्दुस्तान में कितनी सख्तियाँ हो रही हैं और हिन्दुस्तानियों को उनकी नागरिक स्वतन्त्रता से कैसे वंचित किया जा रहा है। मुझे बतलाया गया है कि कोई एक महीना पहले पार्लमेण्ट में राजनैतिक क़ैदियों के बारे में कुछ कहा गया था। कुछ लेबर मेम्बरों ने सवाल उठाया था और कुछ कन्ज़रवेटिव मेम्बरों ने कहा था— "आप क्या कहते हैं? क्या अब भी हिन्दुस्तान में राजनैतिक क़ैदी हैं?"

इस सवाल से पता चलता है कि इस बारे में कितना अज्ञान फैला हुआ है। हिन्दुस्तान में बहुत-से आदमी ऐसे हैं, जो जेलों में डाल दिये जाते हैं और छः-छः बरस तक या और ज्यादा सालों तक उनकी अदालत में पेशी भी नहीं होती। बहुत-से मामूली राजनैतिक क़ैदियों को रोज़ सजायें होती रहती हैं और जुल्म की मशीन भी रोज़ चलती रहती है। मैं समझता हूँ कि औसत अंग्रेज़ मर्द-औरतों के लिए हिन्दुस्तानियों की नागरिक स्वतन्त्रता की समस्या को समझने के लिए यहाँ की समस्याओं की बहुत ज़्यादा जानकारी की ज़रूरत नहीं है। औसत अंग्रेज़ समझते हैं कि नागरिक स्वतन्त्रता अच्छी चीज़ है और हिन्दुस्तान की घटनायें जब उनके सामने रक्खी जाती हैं तो उन्हें धक्का-सा लगता है। उनको यह पसंद नहीं है कि हिन्दुस्तान को नागरिक स्वतन्त्रता न दी जाय। मैं समझता हूँ, इस बात को इस तरह के लोगों के सामने रखने से ही बहुत काम हो सकता है। और जुदा-जुदा दलों के मिलकर काम करने से ऐसा बहुत-कुछ किया जा सकता है। मुझे यक़ीन है कि 'नागरिक-स्वतंत्रता' की रक्षा के लिए जो कमेटी 'नेशनल कौंसिल' है, वह जो दिशा मैंने बतलाई है उस दिशा में, दूसरे दलों से मिलकर काम कर सकती है।

हिन्दुस्तान की विशेष समस्याओं और खासकर आर्थिक स्थितियों का जहाँ तक सवाल है, हमें देखना है कि किस तरीके से राजनैतिक समस्यायें आर्थिक समस्याओं पर निर्भर होती हैं। यह बात महत्वपूर्ण है क्योंकि जब इस बारे में विचार किया जाता है, तब राजनैतिक समस्या की ठीक दृष्टि से जाँच हो जाती है। ऐसा न करने से आपका काम ऐसा ही [illegible] होगा, जैसा कि हम इन पार्लमेण्टरी बहसों और दूसरी रिपोर्टों में देखते रहे हैं। बहुत-से आदमी बैठ जाते हैं और कागज़ी विधान तैयार कर देते हैं जिसका हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत और तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसका सम्बन्ध तो सिर्फ ऊपरी बातों से होता है, और वह यह कि हिन्दुस्तान में उनका स्थापित स्वार्थ [illegible] किस तरह बचे। इसलिए इस तरह का कोई भी नया विधान [illegible] हिन्दुस्तान की [illegible] है। हिन्दुस्तान की ही

क्यों, वल्कि, जैसा मैं सोचता हूँ कोई कह सकता है, नागरिक स्वतन्त्रता और उसके साथ दूसरे मामलों के प्रश्न पर तमाम मानव-जाति की मदद कर सकता है।

'रिकसीलियेशन दल' के बारे में मुझसे कहा गया है कि वह कोई सगठन नहीं है; बल्कि एक दल है जिसकी कोई निश्चित मर्यादायें नहीं हैं। ऐसे दल ने, मेरा खयाल है, पिछले दिनों अच्छा काम किया है और मैं समझता हूँ कि वह निश्चय ही आगे भी अच्छा काम कर सकता है। मैंने सलाह दी है कि सामूहिक रूप में हिन्दुस्तान के बारे में या किन्हीं खास सवालों में, जैसे नागरिक स्वतन्त्रता का सवाल, दिलचस्पी रखने वाले जुदा-जुदा दलों के लिए यह उचित होगा कि वे एक-दूसरे के सपर्क में रहें। अपने मुख्तलिफ खयालात होने की वजह से अगर वे एक-दूसरे में मिल नहीं सकते तो कोई बात नहीं है। यह जरूरी नहीं है कि एक दल दूसरे दल के दृष्टिकोण को लेकर चले। यह भी नहीं कि एक दल अपने लिए वही मान्यतायें पैदा करले जो दूसरे दल ने अपने लिए पैदा करली हैं; लेकिन फिर भी उन दोनों में बहुत-सी समानतायें हो सकती हैं। कभी-कभी वे आपस में मिलें या उनके प्रतिनिधि आपस में सलाह-मशविरा करें, जिससे उनकी कार्रवाइयाँ एक-दूसरे के ऊपर न आजायँ बल्कि एक-दूसरे की पूरक हों।

आखिरी और सातवां सवाल है—

"क्या भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को कोई क्रियाशील एजेंसी लंदन में नहीं रखनी चाहिए, जो ठीक-ठीक खबरें फैलाती रहे?"

मैं सोचता हूँ यह बहुत अच्छी चीज होगी और उमूलन कोई भी इसका विरोध करेगा, इसमें मुझे शक है। आपको याद रखना चाहिए कि पिछले छ. वरसों में हिन्दुस्तान बडी मुसीबतों में से होकर गुजरा है। उन छ. वरसों में चार वरस तक कांग्रेस एक गैरकानूनी जमात रही। हम हमेशा गैरकानूनी हलचल के किनारे ही चक्कर लगाते रहते हैं। कौन जाने, किस घड़ी गैर-कानून करार दे दिये जायँ, हमारे कोष जब्त हो जायँ, हमारी जायदाद जब्त होजाय और पद छिन जायँ। इसलिए

हमें समय में विदेशी एजेंसी क़ायम करने में कुछ मुश्किल मालूम पड़ती है; लेकिन ऐसा होना ज़रूरी है। मेरी बड़ी इच्छा है कि एक समाचार-दफ़्तर यहाँ हो, और यूरुप के दूसरे हिस्सों में हो, जो प्रचार के अलावा ठीक-ठीक ख़बरें दे, किताबें और काग़ज़ मुहय्या करे, जिससे ये ख़बरें उन आदमियों को मिल सकें जो उन्हें पाना चाहते हैं।

बाद चीन से आगे सवाल किया गया—

"कभी-कभी यह आपत्ति की जाती है या यह आलोचना सुनने में आती है कि अगर अंग्रेज़ हिन्दुस्तान से चले जाते हैं तो इससे जापान के लिए रास्ता खुल जायगा। अबसे पहले यह रास्ता रूस के लिए खुलता; लेकिन अब इस बारे में जापान का नाम लिया जाता है। क्या इस बारे में आप अपने विचार ज़ाहिर करेंगे?"

मुझे ऐसा दिखाई देता है कि वे लोग जो ऐसा कहते हैं हिन्दुस्तान के बारे में जापान की मौजूदा या आगे की हालत ज़्यादा नहीं जानते। इस सवाल पर बहुत-से तरीक़ों से विचार किया जा सकता है; लेकिन संक्षेप में मैं आपसे बस इतना कहूँगा—जापान के हिन्दुस्तान में किन रास्तों से आने की आप उम्मीद करते हैं? समुद्र से या ज़मीन से? क्या आप उम्मीद करते हैं कि जापान तमाम चीन को जीतने के बाद हिन्दुस्तान आयगा या उसे जीतने से पहले आयगा?

आपको यह जानना चाहिए कि समुद्र द्वारा हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड जाने की बनिस्बत जापान आने में ज़्यादा वक़्त लगता है। ज़मीन से या हवाई जहाज़ द्वारा इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान आने में बहुत-थोड़ा वक़्त लगता है; लेकिन जापान आने में बहुत ज़्यादा वक़्त लगता है। हिमालय, तिब्बत और चीन के दूसरे रास्तों को पार करना आसान नहीं है। इसलिए आपको समझना चाहिए कि अगर जापान चीन में जीत जाय तो भी आसानी से हिन्दुस्तान में प्रवेश नहीं कर सकता। जापान को सिंगापुर होकर बड़े-बड़े रास्तों से आना होगा और कोई भी मुसाफ़िर सामुद्रिक बेड़े के लिए हिन्दुस्तान आना मुश्किल पड़ सकता है। इतना होने पर भी ज़रूर जापान आ सकता है; लेकिन असली सवाल तो यह

है कि जापान तबतक हिन्दुस्तान जीतने की बात नहीं सोच सकता, जबतक कि वह चीन को पूरी तरह से नहीं जीत लेता और उसे अपने राज्य का एक हिस्सा नहीं बना लेता। चीन को जीतना बड़ा मुश्किल काम है। इस वक्त जापान ने उत्तरी चीन को जीत लिया है और वह शायद आगे दक्षिण की ओर और बढ़ जाय; लेकिन मैं नहीं समझता कि कोई भी आदमी, जो चीन के इतिहास को जानता है या चीन की मौजूदा हालत या अन्तर्राष्ट्रीय हालत जानता है, वह कभी भी सोच सकता है कि जापान अपना राज्य तमाम चीन में कायम कर सकेगा। चीन जापान के लिए बहुत बड़ी विकट समस्या है। अगर उसे जीत भी लिया गया तो भी वह उसके लिए एक समस्या बनी ही रहेगी, और वास्तव में जापान की सारी ताकत उसमें लगी रहेगी। शायद इसमें उसका पतन ही हो जाय। दुनिया की बड़ी ताक़त के रूप में आज जो जापान की हालत है, उसे देखिए। वह बहुत मजबूत दिखाई देता है। कोई भी उसके राज सम्बन्धी विचारों और कामों में दखलन्दाज़ी नहीं करता। वह उत्तरी चीन और मञ्चूरिया में मनमानी कर रहा है, लेकिन असल में दुनिया में जापान की हालत बड़ी ढीली है। बाकी दुनिया से वह अलहदा कर दिया गया है और दुनिया में उसका कोई भी दोस्त नहीं है। उसके एक तरफ बहुत बड़ी ताकत अमरीका है और जापान व अमरीका के संयुक्तराष्ट्र में ज्यादा प्रेमभाव नहीं है। दूसरी तरफ चीन है, जो कि एक दृष्टि से कमज़ोर होते हुए भी बहुत-सी बातों में बहुत मजबूत है। वह असल में मज़बूत है, क्योंकि उसकी निश्चेष्ट ताकत ज्यादा है। उसकी जड़ता भी बहुत भारी है। लेकिन इसके अलावा बलात्कार के सामने हारते हुए भी आज चीन की कमजोरी का कारण जो मैं समझता हूँ वह यह है कि कुछ चीनी नेता चीन के प्रति सच्चे नहीं हैं। चीन के साथ विश्वासघात कर रहे हैं। चीन की कमज़ोरी इतनी नहीं है, जितनी कि उसके नेता चाग-काई-शेक वगैरा की कमज़ोरी है। इससे चाग-काई शेक का पतन हो सकता है और बाद में संगठित रूप से और मजबूती से जापान का मुकाबिला किया जा सकता है। इसलिए हर हालत में जापान

को विरोधी चीन का मुकाबिला करना पड़ेगा, चाहे वह पराजित कर दिया जाय या नहीं। इसलिए जापान के बहादुरी के साथ हिन्दुस्तान में आने के समय हालत यह होगी—एक तरफ़ अमरीका, दूसरी तरफ़ चीन, उत्तर में रूस की रिपब्लिक, जिसके हमेशा विरोधी रहने की उम्मीद है। ऐसे में जापान चीन होने का लम्बा सफ़र करके हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करेगा, यह मेरी भी समझ में नहीं आता है। और तबतक हिन्दुस्तान भी खामोश नहीं बैठा रहेगा। वह चाहे मजबूत मुल्क न हो, लेकिन फिर भी बलात्कार से अपनेको बचाने में कोई कसर न उठा रखेगा।

८ फरवरी १९३६

: ३ :

दुनिया की हलचलें और हिन्दुस्तान

बार-बार की हलचलों और घरेलू मुसीबतों से बेहद थके [illegible] के कारण पश्चिमी देशवाले अगर हिन्दुस्तान की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दे पाते तो इसमें आश्चर्य क्या है ? कुछ भले ही हिन्दुस्तान के [illegible] अतीत की ओर खिंचे और उसकी प्राचीन संस्कृति की सराहना करें, कुछ आजादी के लिए खून बहाते लोगों के साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट करें, दूसरों में मानवोपयोगी भावनायें उठें और वे साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा एक बड़े महान् राष्ट्र के शोषण और हैवानी से नफरत भी किया करें; लेकिन ज्यादातर लोग ऐसे हैं जो हिन्दुस्तान की हालत से बिलकुल अनजान हैं। उनकी अपनी ही मुसीबतें क्या थोड़ी हैं ? [illegible] बढ़ावें ?

फिर भी सार्वजनिक मामलों में दखल देनेवाला [illegible] है कि मौजूदा दुनिया के मसलों का [illegible] सकता। अलहदा-अलहदा, बिना एक-दूसरे का विचार किए [illegible] कामयाबी के साथ विचार नहीं किया जा सकता। [illegible] जाते हैं और आखिर में जब देखा जाता है [illegible] मसला बन जाता है, जिसके जुदा-जुदा [illegible] रेगिस्तानों और उनके प्रदेशों की [illegible] सुनाई देती है और [illegible] साइबेरिया के [illegible] दुनिया [illegible] की देखादेखी [illegible] यह है कि [illegible] को आज की [illegible]

नाओं के निर्माण में उनका बड़ा गहरा असर पड़ेगा। हिन्दुस्तान और चीन ज़रूरी तौर पर दुनिया-भर की समस्यायें हैं। उन्हें दरगुज़र करना या उनकी महत्ता कम करना दुनिया के घटना-चक्र का अज्ञान बढ़ाना है। इससे वह बुनियादी बीमारी भी पूरी तरह से समझ में नहीं आवेगी, जिससे हम सब पीड़ित हैं।

हिन्दुस्तान की समस्या भी इस तरह आज की समस्या है। उसके बीते दिनों की सराहना करने या निन्दा करने से हमें कोई मदद नहीं मिलती। मदद सिर्फ उसी हद तक मिलती है जहाँतक कि बीते दिनों की बातें समझने से और मौजूदा बातें समझने में सहूलियत हो जाती है। हमें महसूस करना चाहिए कि अगर कोई बड़ी घटना वहाँ घटेगी, तो दुनिया पर भी उसका भारी असर पड़ेगा और हममें से कोई भी, हम चाहे कितनी ही दूर क्यों न रहें, चाहे किसी भी राष्ट्र या दूसरे में निष्ठा रखते हों, बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। इसलिए इस विशद दृष्टिकोण से इसपर यह सोचकर विचार करना चाहिए कि तात्कालिक समस्याओं का, जो आज हमारे सामने हैं, यह एक अंग है।

सब जानते हैं कि हिन्दुस्तान पर डेढ़ सौ वर्ष से ज्यादा से शासन करने में अंग्रेज़ों की विदेशी और घरेलू नीति पर बड़ा भारी असर पड़ा है। हिन्दुस्तान के धन-शोषण से औद्योगिक क्रान्ति के शुरू के दिनों में अपने उद्योगों को बढ़ाने के लिए इंग्लैंड को आवश्यक पूँजी मिली। उसके तैयार माल के लिए बाज़ार भी मिला। नेपोलियन की लड़ाइयों और क्रिमियन-युद्ध में भी हिन्दुस्तान जड़ में था, और उसके रास्तों को संरक्षण में रखने की इच्छा से ही इंग्लैंड को मिस्र और मध्य-पूर्वीय मुल्कों में दखलदराज़ी करनी पड़ी। रास्तों पर अधिकार रखने की नीति लड़ाई के बाद की दुनिया में भी चलती रही और अब भी इंग्लैंड आग्रह पूर्वक इन रास्तों से चिपटा हुआ है। महायुद्ध के बाद फौरन ही अंग्रेज राजनीतिज्ञों के दिमाग़ में एक शानदार ख्वाब आया कि एक विस्तृत मध्य-पूर्वीय राज्य क़ायम करें, जो कुस्तुनतुनिया से हिन्दुस्तान तक फैला हो; लेकिन सोवियट रूस और कमालपाशा की वजह से और फारस में रिज़ाशाह

और अफ़गानिस्तान में अमानुल्ला के उत्थान और सीरिया में फ्रांस के शासनादेश के कायम होने से वह स्वाब पूरा न हो सका। हालांकि वह वृहद् विचार कोई शक्ल अख्तियार न कर सका, फिर भी इंग्लैंड हिन्दुस्तान के खुश्की के रास्तों पर काफ़ी कब्जा किये रहा और इसी कारण मोसल के प्रश्न पर टर्की के संघर्ष में आया। इसी अधिकार की नीति की वजह से इग्लैंड को प्रोत्साहन मिला कि इथोपिया में अनायास ही वह राष्ट्र-संघ का सर्वेसर्वा बन जाय। इग्लैंड की नैतिक भावना उस समय इतनी नहीं जगी थी, जब मंचूरिया में संघ का मज़ाक बनाया गया था।

दुनिया की समस्या आखिर साम्राज्यवाद—वर्तमान आर्थिक साम्राज्यवाद—की है। इस समस्या का एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यूरप तथा दूसरी जगहों में फासिज्म फैला है, सोवियट रूस का उत्थान हुआ है, ताकत बढ़ी है और उसने एक ऐसी नई संस्था का प्रतिनिधित्व किया है जो खास तौर से साम्राज्यवाद की विरोधी है। यूरप के मुखालिफ और फ़ासिस्ट-विरोधी दलों में बँट जाने से लड़ाई अब साम्राज्यवाद की और उन नये दलों की हो गई है जो उसे खतरे में डालने की धमकी देते हैं। औपनिवेशिक और अधीन देशों में इसी झगड़े ने आज़ादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रवादी आन्दोलन की शक्ल अख्तियार कर ली है। बढ़ते हुए सामाजिक मसले राष्ट्रवाद को और उभारते रहते हैं। अपने अधीन औपनिवेशिक राज्यों में साम्राज्यवाद फासिस्ट तरीके पर काम करता है। इस तरह इंग्लैंड घर पर प्रजातन्त्रीय विधान की शान बघारते हुए हिन्दुस्तान में फासिस्ट उसूलों के मुताबिक चल रहा है।

यह साफ़ है कि कहीं भी जब साम्राज्यवादी मोरचा भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया तमाम दुनिया पर होती है। यूरप में या और कहीं फासिज्म की जीत से साम्राज्यवाद की मज़बूती होती है, जिसकी प्रतिक्रिया सब जगह होती है। उसमें गफलत होने से साम्राज्यवाद कमज़ोर होता है। इसी तरह औपनिवेशिक या अधीन मुल्क में आज़ादी के आन्दोलन की जीत से साम्राज्यवाद और फासिज्म को धक्का लगता

है, और इसलिए यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि नाज़ी नेता क्यों भारतीय राष्ट्रवाद पर नाराज़ी ज़ाहिर करते हैं और अपनी पसंदगी दिखाते हैं कि हिन्दुस्तान अंग्रेज़ी शासन के अधीन ही रहे। इस समस्या पर अगर उसके बुनियादी पहलुओं से विचार किया जाय तो वह मामूली समस्या है; परन्तु फिर भी दुनिया की तरह-तरह की शक्तियों के चक्कर में पड़कर वह कभी-कभी बड़ी पेचीदा बन जाती है। जैसे कि जब दो साम्राज्यवाद एक-दूसरे का विरोध करने लगते हैं और दूसरे के अधीन देशों में राष्ट्रवादी या फासिस्टविरोधी प्रवृत्तियों का शोषण करना चाहते हैं। इन पेचीदगियों से निकलने का सिर्फ़ एक रास्ता यही है कि उनके खास पहलुओं पर विचार किया जाय और अस्थायी फ़ायदा उठाने के लिए मौक़ों से ललचाया न जाय, नहीं तो अस्थायी फ़ायदा बाद में बड़ा नुक़सान देनेवाला साबित होगा और बोझ होगा।

हिन्दुस्तान ऐतिहासिकता और महत्ता की दृष्टि से आधुनिक साम्राज्यवाद का पहले दरजे का मुल्क रहा है और है। अगर हिन्दुस्तान पर साम्राज्यवादी अधिकार में ज़रा भी विघ्न पड़ता है तो उसका दुनियाभर की स्थिति पर गहरा असर पड़ेगा। ग्रेट ब्रिटेन की दुनिया की स्थिति में अजीबोग़रीब हालत हो जायगी और उससे दूसरे औपनिवेशिक मुल्कों के आज़ादी के आंदोलनों को बड़ी ताक़त मिलेगी और इस तरह साम्राज्यवाद को हिला दिया जायगा। आज़ाद हिन्दुस्तान ज़रूर ही अंतर्राष्ट्रीय मामलों में ज्यादा हिस्सा लेगा, वह हिस्सा दुनिया में शान्ति पैदा करने और साम्राज्यवाद और उसके अंगों का विरोध करने के लिए होगा।

कुछ लोग सोचते हैं कि हो सकता है हिन्दुस्तान अंग्रेज़ों के राष्ट्र-दल का एक स्वतन्त्र राज्य होजाय, जैसे कनाडा और आस्ट्रेलिया हैं। यह तो एक अजीबोग़रीब विचार लगता है। मौजूदा स्वतंत्र राज्य भी ग्रेट-ब्रिटेन से बंधे हुए होने पर भी धीरे-धीरे अलहदा हटते जा रहे हैं; क्योंकि उनके आर्थिक हितों में विरोध होता है। आयर्लैण्ड (कुछ ऐतिहासिक कारणों से) और अफ्रिका तो बहुत हट गये हैं। हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के बीच कुछ कुदरती संबंध हैं और साथ ही उनमें तारीख़ी और

अब भी हिन्दुस्तानी मामलों में वे सबसे खास सवाल हैं। आर्थिक स्थितियाँ इस सवाल को आगे बढ़ा रही हैं। सोवियट रूस के सफल उदाहरण से भी मदद मिल रही है।

हिन्दुस्तान को आज़ादी कब मिलेगी ? इसपर भविष्यवाणी करना खतरनाक है; लेकिन दुनिया तेज़ी से आगे बढ़ रही है। घटनायें एक के बाद एक होरही हैं। सारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद जल्दी-से-जल्दी कमज़ोर पड़ जायगा। इतनी जल्दी कि बहुतसे आदमी सोच भी नहीं सकेंगे। हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय आंदोलन पिछले सोलह सालों में, जबसे महात्मा गांधी ने उसका नेतृत्व लिया है और करोड़ों को संगठित प्रयत्न करने और बलिदान करने के लिए प्रेरित किया है, बेहद बढ़ गया है। इन सोलह वर्षों में बिना रुकावट के वह चलता ही गया है। हालाँकि उसमें उथल-पुथल होती रही है और तीन बार १९२०-२२में, १९३०-३१में, १९३२-३४ में उसने असहयोग-आंदोलन और सविनय अवज्ञा के ताक़तवर आंदोलनों से भी काम लिया, जिन्होंने हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ हिलादी। अंग्रेज़ों पर जो इसकी प्रतिक्रिया हुई है, उससे इन आंदोलनों की ताक़त का अन्दाज़ किया जा सकता है। एकदम फासिस्ट तरीक़े की सख़्तियों की ख़ौफ़नाक शक्ल अंग्रेज़ों ने अख्तियार की। नागरिक स्वतंत्रता का अपहरण हुआ; प्रेस, व्याख्यान, सभा की आज़ादी छिनी; कोष, ज़मीनें, इमारतें ज़ब्त हुई; सैंकड़ों संगठन जिनमें स्कूल, यूनीवर्सिटी, अस्पताल, बच्चों की सोसाइटी, सामाजिक काम करनेवाले क्लब शामिल थे, उनपर प्रतिबन्ध लगे; लाखों आदमियों और औरतों को जेल में डाल दिया गया; और क़ैदियों और दूसरे आदमियों को वहशियाना तरीक़े से मारा गया और उनके साथ बुरा बर्ताव किया गया। दूसरी तरफ़ राष्ट्रवादी दलों में, रिश्वत दे-देकर और अल्पसंख्यक दलों को लालच देदेकर और मुल्क की तमाम सामंतशाही, प्रतिक्रियावादी और अज्ञान प्रवृत्तियों को संगठित करके फूट डालने का प्रयत्न किया गया। इन सब प्रतिक्रियावादियों के आपस में इकट्ठे होने का बाहरी निशान था गोलमेज कान्फ्रेंस जो लंदन में हुई। इन मेल का नतीजा निकला 'नये विधान' का क़ानून, जिसे ब्रिटिश सरकार

ने धाम किया। वह असल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सत्ता को और मजबूत करता है और मुल्क में प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों को ज्यादा महत्त्व देता है।

इसी बीच में हिन्दुस्तान में नई सामाजिक शक्तियों ने ताक़त इकट्ठी करली है और समाजवादी और मार्क्सवादी विचार संगठित मजदूरों के दलों में और राष्ट्रीय कांग्रेस में फैल गये हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस में सोशलिस्ट पार्टी मुख्य अल्पसंख्यक दल है और उसका असर बढ़ रहा है। इन समाजवादी विचारों के बढ़ने से कांग्रेस में कुछ फूट की प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई हैं। और ज्यों-ज्यों उसका विकास होगा, त्यों-त्यों इन विचारों की दृढ़ता और बढ़ती जायगी। सब मिलाकर कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ एक संयुक्त मोरचा है (जिसमें बहुतसे दल शामिल हैं) और उसके खिलाफ साम्राज्यवाद के सहयोगी प्रतिक्रियावादी और सामन्त तत्त्वों का संयुक्त मोरचा है। इस स्थिति का यूरप के फासिस्ट-विरोधी और फासिस्ट-दलबन्दी से मुकाबिला किया जा सकता है। इन दो खास दलों के बीच कुछ आदमियों के छोटे-छोटे दल हैं। ये आदमी मध्यमार्ग में हैं, हालाँकि उनकी हमदर्दी राष्ट्रीय आंदोलन के साथ है।

हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत बड़ी जटिल हो रही है, क्योंकि मुल्क पिछले सविनय-अवज्ञा आन्दोलन की थकावट से स्वस्थ होता जा रहा है। ऐसे वक्त में गड़बड़ जरूरी तौर पर हो ही जाती है। नये विचारों को बहुतसे तो तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं, बहुतसे उनसे भयभीत होजाते हैं। हालाँकि सविनय-अवज्ञा आन्दोलन अब नहीं चल रहा है और स्थिति साधारण होगई है; लेकिन ब्रिटिश सरकार का दमन और नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण अब भी चल रहा है। कम्यूनिज्म को दबाने के नाम पर मजदूर-आन्दोलन को सताया जा रहा है, बहुतसे मजदूर-संघ ग़ैर-कानूनी करार दे दिये गये हैं, मजदूरों के नेता जेल भेज दिये गये हैं, आतंकवाद को दबाने के नाम पर मुल्क के बहुत-से हिस्सों में राजनैतिक कामों को रोक दिया गया है। बहुत-से महत्वपूर्ण राजनैतिक और मजदूरों के संगठनों पर अब भी प्रतिबन्ध है। जिस कानून, की व्यवस्था-

सभा ने नफ़रत से दूर फेंक दिया था, उसी पर वाइसराय की कार्य-कारिणी द्वारा अमल किया गया है। उससे शासकों और पुलिस को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये हैं, जिससे वे अच्छी तरह से नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक कार्रवाई को दबा दें। हज़ारों को स्थायी रूप से जेलों में डाल दिया गया है। न उनकी पेशी होती है, न उनपर जुर्म लगता है। हज़ारों को साज़िश और राजनैतिक अपराधों के लिए जेलों में ठूंस दिया गया है। साधारण परिस्थितियों में अंग्रेज़ों की हुकूमत का यह रवैया है। इससे हिन्दुस्तान के आज़ादी के आन्दोलन की ताक़त का और अंग्रेज़ों को जो उससे डर है उसका पता चलता है। अंग्रेज़ सरकार बराबर भयभीत रह रही है, और जब किसी सरकार को डर लगा रहता है तो वह अजीब और जंगली तरह से व्यवहार करती है।

यह साफ़ है कि ब्रिटिश-सरकार आज़ादी के इस आन्दोलन का ख़ात्मा करने में कामयाब नहीं हो सकती। हाँ, जब राष्ट्र शिथिल हो जाता है तब थोड़े वक्त के लिए उसे भले ही दबा कर रख सकती है। यह भी साफ़ है कि नये विधान ने मुल्क के सब प्रगतिशील तत्त्वों को नाराज कर दिया है और भड़का दिया है। अब लोग उस विधान को राज़ी से स्वीकार नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान में शाही हुकूमत के ख़िलाफ़ जितनी नाराज़ी और मुख़ालिफ़त अब है उतनी पहले कभी नहीं हुई। फ़िलहाल सक्रिय राजनीति से गाँधीजी अलहदा होगये हैं; लेकिन हिन्दुस्तान के वह बहुत ही जबरदस्त और प्रभावशाली आदमी रहे हैं और रहेंगे। करोड़ों आदमियों का नेतत्व करने की उनमें शक्ति है। और जब कभी कोई ज़रूरत का मौका आयगा, वह राजनैतिक क्षेत्र में फिर आजायँगे। यह सोचना कि हिन्दुस्तान की राजनीति में उनकी मदद न मिलेगी, ग़लत और फ़िज़ूल है। हिन्दुस्तान में विचारों का संघर्ष है और खींचतान भी है, जैसा कि एक बड़े मुल्क के जीतेजागते आन्दोलन में स्वाभाविक होता है; लेकिन जहाँतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध का सवाल है, सब एक हैं। उन जमातों को छोड़िए, जिनको साम्राज्यवाद से फायदा पहुँचता है या जो साम्राज्यवाद की वजह से ही पैदा हुई हैं। इसमें शुबह नहीं है कि जल्दी

ही हिन्दुस्तान में बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ होंगी और आज़ादी पास आयगी।

तमाम दुनिया में राजनैतिक और आर्थिक संघर्षों के पीछे एक आध्यात्मिक हलचल है, प्राचीन मूल्यों और विश्वासों का विरोध है, और झगड़े से बाहर निकलने के लिए रास्ते की खोज है। हिन्दुस्तान में भी शायद दूसरी जगहों से ज्यादा, अध्यात्मवाद की उथलपुथल है; क्योंकि भारतीय संस्कृति की जड़ें अब भी गहरी हैं और पुरानी ज़मीन में फँसी हुई हैं, और हालाँकि भविष्य इशारे से आगे बुला रहा है लेकिन भूत उसे मज़बूती से रोके हुए है। प्राचीन संस्कृति में आधुनिक समस्याओं का हल नहीं मिलता। पूंजीवादी पश्चिम, जो कि उन्नीसवीं सदी में इतनी तेज़ी से चमक रहा था, अब अपनी शान खो चुका है और अपने ही विरोधों में इतना फँसा हुआ है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। सोवियट मुल्कों में जो नई सभ्यता चलाई जारही है उसमें कुछ बुराइयाँ होते हुए भी वह अपनी ओर खींचती है। वह आशा दिलाती है कि वह दुनिया में अमन तो कायम कर देगी, साथ ही उसमें यह भी उम्मीद दिखाई देती है कि लाखों के शोषण और दुःख का खात्मा होजायगा। शायद हिन्दुस्तान इस नई सभ्यता को ज्यादा-से-ज्यादा अपनाकर इस आध्यात्मिक हलचल का हल निकाले; लेकिन जब वह ऐसा करेगा तो सारे ढाँचे को अपने आदमियों की योग्यता से मेल बैठाकर अपने ही तरीके से करेगा।

सन् १९३६।

: ४ :

आज़ादी के लिए हिन्दुस्तान की हलचल

हिन्दुस्तान की हालत पर कुछ लिखना आसान नहीं है। विदेशों में पक्षपातपूर्ण और इकतरफ़ा प्रचार इतने दिनों से होता चला आरहा है कि हरेक अहम मसला गड़बड़ होगया है और उससे हिन्दुस्तान की स्थिति का एकदम झूठा अंदाज होता है। हिन्दुस्तान में पिछले तीन-चार बरसों से आर्डिनेंस का राज्य है, जिसका कुछ क़ानूनी तरीक़ों में फ़ौजी क़ानून से निकट-सम्बन्ध है। अखबारों के ऊपर कड़ी निगाह रखकर न सिर्फ़ लोगों को अपने ख़यालात जाहिर करने से ही रोका गया है, बल्कि वे ख़बरें भी दबा दी जाती हैं जो हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार को नागवार लगती हैं। अखबारों के हाथ-पैर बाँध दिये गये हैं; राजनैतिक मसलों पर सार्वजनिक सभायें करने की इजाजत नहीं है; किताबें और बुलेटिन तक जो सच बातें देते हैं, उनपर रोक लगा दी गई है; चिट्ठियों और तारों की निगरानी होती है और कभी-कभी तो वे पते पर पहुँचते भी नहीं हैं। मुल्क के बहुत-से हिस्सों में उन आदमियों के नाम या फोटोग्राफ़ छापना, जो आर्डिनेंस के मातहत गिरफ्तार किये गये हैं, जुर्म है। कुछ महीने पहले पण्डित मोतीलाल नेहरू की मृत्यु की स्मारक-सभा रोक दी गई थी, हालाँकि उसे बुलानेवाले ज्यादातर गैर-कांग्रेसी थे और सर तेजबहादुर सप्रू जैसे शान्ति-प्रिय नरम आदमी उसके सभापति होनेवाले थे। बंगाल के कुछ हिस्सों में और सरहदी सूबे में फ़ौजी शासन है। चटगांव और मिदनापुर में बेचारे छोटे बच्चों तक को शनाख्तगी का कार्ड अपने साथ ले जाना पड़ता है। लोगों की हलचल पर सख्ती से निगाह रक्खी जाती है और लोगों को कपड़े अक्सर सरकारी आदमियों के कहने के मुताबिक पहनने पड़ते हैं और तमाम क़स्बों और गाँवों पर भारी जुर्माने किये जाते हैं,

जिन्हें वहाँके वाशिन्दों को अदा करना पड़ता है, चाहे क़सूर हो या न हो।

अंग्रेज अख़बार तरह-तरह की बातें लेकर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर हमला करते हैं। उनके वक्तव्यों में असंगति साफ़ दिखाई देती है, पर इसका उन्हें खयाल नहीं है। एक तरफ़ कांग्रेस को प्रतिगामी संस्था कहकर उसपर मिल-मालिकों का कब्ज़ा बतलाया जाता है, दूसरी तरफ़ से लगान-बन्दी को बोलशेविकों का काम कहा जाता है। यह कहकर वे शान्ति-प्रिय किसानों को अपनी चालाकी से भड़काते हैं। ऐसे अख़बार तक जो सब बातें सच-सच जानते हैं, एकदम ऐसी झूठी खबरें फैलाते हैं जिनका घटनाओं से कोई संबन्ध नहीं होता। कुछ समय पहले, अंग्रेज़ी के सर्वोत्कृष्ट साप्ताहिकों में से एक ने लिखा था कि अस्पृश्यता-निवारण और हरिजन-उद्धार का आन्दोलन पिछले साल गांधीजी के उपवास ने चलाया था और कांग्रेस ने इन वर्गों के लिए अपने द्वार बन्द कर दिये हैं। असलियत यह है कि यह आन्दोलन पुराना है और सन् १९२० में गांधीजी के कहने पर कांग्रेस ने इसे अपने प्रोग्राम का एक बड़ा हिस्सा बनाया था। तबसे हिन्दुस्तान के सबसे बड़े आन्दोलनों में से एक रहा है। कांग्रेस ने कभी हरिजनों को बाहर नहीं किया है, और पिछले तेरह बरसों से उसने बराबर ज़ोर दिया है कि ऊँची-से-ऊँची कार्यकारिणियों में हरिजनों के प्रतिनिधियों का चुनाव होना चाहिए। यह ज़रूर है कि गांधीजी के उपवास ने इस आन्दोलन को बहुत आगे बढ़ाया है।

हिन्दुस्तान और दूसरे पूर्वी देश आमतौर से रहस्यमय समझे जाते रहे हैं और कहा जाता है कि उनमें ताक़तें विचित्र तरीक़ों से काम करती हैं; पर उन्हें समझने की कभी सच्ची कोशिश नहीं की गई। यह इतिहास और भूगोल का जादूभरा विचार शायद किसी औसत कंज़रवेटिव या लिबरल राजनीतिज्ञ के विचित्र और बेबुनियाद विचारों से मेल खाता है, जिसके पास और कोई ऐसी दृष्टि ही नहीं है जिसका वह सहारा ले सके। लेकिन मज़दूर तो इतिहास और चालू घटनाओं की वैज्ञानिक और आर्थिक व्याख्या में विश्वास करता है, और यह अचरज की बात है कि

अंग्रेज़-मजूर भी उसी भ्रम में रहे हैं। शायद साम्राज्यवादी शासन के पीढ़ियों तक रहने से ब्रिटिश-मजदूरों के विचारों पर असर पड़ गया है और उनके लिए यह भी मुमकिन नहीं रहा कि जहाँपर ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के हित हैं वहाँ पर ठीक और वास्तविक रूप में निष्पक्ष गौर कर सकें। हमें मजदूर-नेताओं ने बतलाया है कि राष्ट्रवाद तो संकुचित मत होता है और इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद भी प्रतिगामी है। इसी सिद्धान्त की आड़ में वे ब्रिटिश-साम्राज्यवाद को सुरक्षित रखना चाहते हैं और उसे ब्रिटिश राष्ट्रों के पंचायती राज्य के ऊँचे नाम से पुकारते हैं। आजकल की दुनिया में राष्ट्रवाद, चाहे वह इंग्लैण्ड में हो या हिन्दुस्तान में, प्रतिगामी है; लेकिन औपनिवेशिक मुल्कों में साम्राज्य वाद की वह अनिवार्य प्रतिक्रिया है जिससे वास्तविक अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर बढ़ने में बचा नहीं जा सकता। साम्राज्यवाद को बचाने के लिए औपनिवेशिक राष्ट्रवाद को प्रतिगामी कहना एकदम कायरता है।

यह सभी जानते हैं कि बड़े आन्दोलन व्यक्तियों या थोड़ेसे आन्दोलन-कारियों द्वारा शुरू नहीं किये जाते, बल्कि उनके कारण खास तौर से उनके आर्थिक होते हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन इसी तरह शुरू हुआ और शुरू के दिनों में उस पर उच्च मध्य वर्ग का कब्ज़ा था। लाज़िमी तौर पर वह साम्राज्यवाद का विरोधी नहीं था, क्योंकि वह वर्ग खुद अंग्रेजी राज्य का पैदा किया हुआ था और चाहता था कि साम्राज्यवाद के रेशों में वह खुद गुँथ जाय। लेकिन आर्थिक घटनाओं के चक्र ने उसमें तब्दीली पैदा की और उसपर कब्ज़ा निम्न मध्यवर्ग के और वर्गरहित बुद्धिवादियों का होने लगा। महायुद्ध के बाद राष्ट्रवाद की लहर में, जिसने तमाम एशिया को हिला दिया, हिन्दुस्तान ने एक खास हिस्सा लिया। एक बड़े राष्ट्रवादी नेता ने लोगों को जगाया और पहली बार सर्वसाधारण और खासतौर से किसानों ने राष्ट्रीय लड़ाई में बड़ा हिस्सा हिस्सा लिया। लड़ाई के बाद के बरसों में कांग्रेस के साथ सर्वसाधारण का सम्बन्ध बढ़ता ही गया और कुछ प्रान्तों में किसानों ने नीति-निर्माण में और सरकार के खिलाफ़ प्रत्यक्ष विरोध में भाग लिया। यह बहुत ही महत्व-

पूर्ण काम था । औद्योगिक कार्यकर्ताओं ने, ख़ासतौर से बम्बई में, मजूर-आन्दोलन खड़ा कर दिया और आगे बढ़कर उन्होंने क्रान्तिकारी विचार बना लिये । एक सगठित दल की हैसियत से उन्होंने कांग्रेस को सहयोग नहीं दिया, लेकिन कांग्रेस का उसपर बहुत असर पड़ा । बहुतों ने कांग्रेस की लड़ाई में हिस्सा लिया । साथ ही साथ भारतीय मजूर हड़तालों के जरिये पूंजीवादियों के खिलाफ़ अपनी लड़ाई चलाते रहे ।

ज्यों-ज्यों कांग्रेस स्वतंत्र विचार की होती गई और जन-साधारण की मदद उसे मिलती गई, त्यों-त्यों भारतीय स्थापित स्वार्थ, जो उसमें अपना स्थान रखते थे, भयभीत होते गये और उसमें से बाहर भी निकल गये । जो बचे उन्होंमें से एक छोटासा मामूली नरम या उदारदल कायम हुआ । जन-साधारण के सम्पर्क में आने से आर्थिक मसले कांग्रेस के सामने आये और समाजवादी विचार-धारा फैलने लगी । समय-समय पर बहुत-से गोलमोल समाजवादी प्रस्ताव पास हुए । सन् १९३१ में कांग्रेस ने कराची में इस दिशा में, आर्थिक कार्यक्रम का प्रस्ताव पास करके, एक निश्चित कदम बढ़ाया । पिछले चार बरसों में कांग्रेस की प्रत्यक्ष लड़ाई और मौजूदा ज़माने में दुनिया में मंदी और आर्थिक घटनाओं का तेजी से आगे बढ़ना, इन सबने कांग्रेस को मज़बूती से समाजवादी दिशा में मोड़ा है और आज़ादी की लड़ाई का अर्थ ज्यादा-से-ज्यादा समाज-व्यवस्था में तब्दीली करना और जन-साधारण के दुख दूर करना होगया है । अभी हाल ही के एक पत्र में गांधीजी ने लिखा था कि असली आज़ादी का मतलब हिन्दुस्तान से स्थापित स्वार्थों को मिटा देना है । कांग्रेस अब भी एक राष्ट्रीय सगठन है और इस कारण उसके अन्दर वे सब दल और वर्ग भी आ जाते है जिनके सामाजिक हित आपस में टकराते हैं । लेकिन हाल ही की घटनाओं ने आर्थिक सवाल को बहुत अहम बना दिया है । नतीजा यह हुआ है कि कांग्रेस और भी जन-साधारण का सगठन हो गई है और उसके खिलाफ़ भारतीय स्थापित स्वार्थों, देशी नरेशों, ज़मींदार, ताल्लुकेदार, पूंजीपति आदि सब— हिन्दुस्तान के ब्रिटिश स्थापित स्वार्थों से तमाम राजनैतिक और सामाजिक

तब्दीलियों को रोकने के लिए मिल गये हैं। लन्दन की गोलमेज कान्फ्रेंस स्थापित स्वार्थों की ऐसी ही दलबन्दी थी। इस तरह हमारी आज़ादी की लड़ाई लाज़िमी तौर पर सामाजिक स्वतंत्रता की लड़ाई भी होती जा रही है।

'आज़ादी' शब्द अच्छा शब्द नहीं है। उसका मतलब है तनहाई। और मौजूदा दुनिया में ऐसी तनहाई आज़ादी नहीं हो सकती। लेकिन इस शब्द का इस्तैमाल इसलिए किया गया है कि उससे अच्छा और दूसरा कोई शब्द नहीं है। इस शब्द से यह मतलब नहीं निकाला जाना चाहिए कि हम बाक़ी दुनिया से अपनेको अलग कर लेना चाहते हैं। हम एक संकीर्ण और हमलेवर राष्ट्रवाद में यकीन नहीं करते। हम तो आपस में एक-दूसरे पर निर्भर होना चाहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग चाहते हैं; लेकिन साथ ही हमें यक़ीन है कि साम्राज्यवाद पर कोई निर्भरता या उसके साथ सच्चा सहयोग नहीं हो सकता। इस तरह हम हर तरह के साम्राज्यवाद से एकदम आज़ादी चाहते हैं। लेकिन इससे उन अंग्रेज़ों तथा दूसरे आदमियों के साथ का हमारा सहयोग खत्म नहीं हो जाता, जो हमारा शोषण नहीं करना चाहते। साम्राज्यवाद के साथ किसी भी हालत में समझौता न हो सकता है और न होगा।

इसलिए ज़रूरी तौर पर हमारी आज़ादी की लड़ाई सामाजिक व्यवस्था को जड़ से बदल डालने और जन-साधारण के शोषण का खातमा कर देने के लिए है। ऐसा तभी होसकता है जब हिन्दुस्तान के स्थापित स्वार्थों का खातमा कर दिया जाय। सिर्फ़ अफ़सरों को बदलने से या महज़ भारतीयकारण से, जैसा कि उसे कहा जाता है, या ऊँचे ओहदे पर अंग्रेज़ की जगह किसी हिन्दुस्तानी को रख देने से हमें कोई फ़ायदा नहीं है। हम तो उस पद्धति की मुखालिफ़त करते हैं जो हिन्दुस्तान के आम लोगों का खून चूसती है। उसके यहां से विदा हो जाने पर ही आम लोगों को आराम मिलेगा।

लन्दन की गोलमेज कान्फ्रेंस तो बिलकुल दूसरी ही बुनियाद पर चली है। उसका पूरा मतलब क़रीब-क़रीब यह रहा है कि हरेक स्थापित

स्वार्थ को वह बचाले और ऐसा बनादे कि कोई उन्हें नुकसान न पहुँचा सके। इस 'जी हुज़ूरों' की भीड़ को वह और बढ़ाना चाहती है। इस तरह गोलमेज की तमाम योजना आम लोगों के शोषण को कम करने के बजाय उनपर और नया बोझ लाद देती है। भारत-मंत्री हमें बताते हैं कि वैधानिक तब्दीलियाँ होने से लाखों का खर्च बढ़ जायगा। इसलिए जबतक दुनिया की मौजूदा आर्थिक मंदी दूर नहीं होती और हिन्दुस्तान खुशहाल नहीं होता तबतक इन्तजार किया जाना चाहिए। मंत्री महोदय अगर इस बेज़ारी को अपनी ही तरह से दूर करना चाहते हैं तो उन्हें बहुत दिनों तक इन्तज़ार करना पड़ेगा। उनके वक्तव्य से पता चलता है कि जो कुछ दुनिया में हो रहा है और आगे होनेवाला है, उसको उन्होंने बिलकुल नहीं समझा है। यह 'व्हाइट हाल' और 'इण्डिया ऑफिस' के प्रभुओं की दलील की अजीबोगरीब मिसाल है।

हिन्दुस्तान विद्रोह की हालत में है; क्योंकि मजदूर, किसान और निम्न मध्यश्रेणियों का शोषण करके चूसा जा रहा है। उन्हें तुरन्त सहायता चाहिए। उन्हें तो अपने भूखे पेट को भरने के लिए रोटी की दरकार है। बहुत-से जमींदार तक भिखारी की हालत में हो गये हैं; क्योंकि ज़मीन की जमाबन्दी का तरीका खत्म होता जा रहा है। इस सर्वनाश और चारों तरफ फैली मुसीबत से छुटकारा पाने का उपाय यह निकाला जा रहा है कि स्थापित स्वार्थों की मदद की जाय, जिसकी वजह से कि यह सब हुआ है, और एक अर्धसामन्त-प्रथा को मजबूत करने की कोशिश की जा रही है, जिसकी उपयोगिता कभीकी खत्म हो चुकी है और जो तरक्की के रास्ते में एक रोड़ा है। इनके अलावा जनता पर और बोझ लादा गया है और तब हममें कहा जाता है कि जब स्थिति अपनेआप ही ठीक होजायगी, तब तब्दीलियाँ करने का वक्त आयगा।

यह साफ है कि इस तरीके से काम करना मानव-जाति के बहुत-से प्राणियों से सम्बन्ध रखनेवाले एक बड़े मसले को टालमटोल करना है। गोलमेज की योजना, चाहे ब्रिटिश पार्लमेण्ट उसे उसी रूप में रक्खे या अदल-बदल करके मंजूर करले; हिन्दुस्तान की एक

भी समस्या को नहीं सुलझा सकती। चर्चिल-लॉयड-ग्रुप ने जो इसका विरोध किया है और मि० वाल्डविन ने वहादुरी के साथ जो उसकी तरफ़दारी की है, उसके वारे में इंग्लैंड में बड़े तूल-तवील वाँधे गये हैं। जहाँतक हिन्दुस्तान का सम्वन्ध है, इन सव मज़ाक़िया लड़ाइयों में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है; क्योंकि इन लड़ाइयों का नतीजा कुछ भी हो, उससे उस योजना के वारे में जो एकदम प्रतिगामी, निकम्मी और अव्यावहारिक है, उसका मत नहीं वदल सकता। व्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान के अपने पिछलग्गुओं, ज़मींदारों और प्रतिगामी दलों को, जिनमें कट्टर धार्मिक अज्ञानी भी शामिल हैं जिन्हें गांधीजी ने उनके मोरचे पर हमला करके भयभीत कर दिया है, लेकर दलवन्दी कर सकती हैं। इन जुदा-जुदा दलों को साथ लेने से सरकार को अगर मज़ा आता है, तो हमें कोई शिकायत नहीं है। उससे तो हमारी सामाजिक तव्दीली करने और साथ ही राजनैतिक तव्दीलो करने का काम और आसान हो जाता है।

इस तरह जहाँतक कांग्रेस का सम्वन्ध है, गोलमेज़ कान्फ्रेंस और जॉइण्ट सिलेक्ट कमेटी ने हमारी आज़ादी की लड़ाई पर कोई असर नहीं डाला। उलटा उसने उस मसलों को साफ़ कर दिया है और ज़ाहिर कर दिया है कि व्रिटिश-साम्राज्यवाद उन्हीं सवका पोपक है जो हिन्दुस्तान के लिए प्रतिक्रियात्मक हैं। ऐसी हालतों में आज़ादी की लड़ाई और सामाजिक तव्दीलियाँ होती ही जायँगी। असल में यह किसी एक आदमी या दल के वस की वात है भी नहीं कि इस लड़ाई को रोक दे। कांग्रेस भी ऐसा नहीं कर सकती; क्योंकि यह आज़ादी की लड़ाई आर्थिक स्थितियों से कुदरतन पैदा हुई है और जवतक ये स्थितियाँ रहेंगी तवतक लड़ाई का रास्ता भी वना रहेगा। अगर कांग्रेस के नेता हट जाते हैं तो दूसरे आदमी या संगठन उनकी जगह ले लेंगे।

लड़ाई का राजनैतिक हल तभी मिल सकता है जव हिन्दुस्तानी अपने विधान को आम जनता में से चुनी हुई विधान-सभा (राष्ट्रीय पंचायत) में तय करें। ऐसी सभा, मुझे सन्देह नहीं, अल्पसंख्यक तथा

दूसरी समस्याओं को भी सुलझा देगी। ये समस्यायें अहम बन गई हैं; क्योंकि उन्हें हल करने का काम उन्हींके चुने हुए आदमियों के हाथ में न सौंपकर सरकार के चुने हुए आदमियों के हाथ में सौंप दिया गया है। यही प्रतिक्रियावादी मनोनीत व्यक्ति हैं जो आपस में एकमत नहीं हुए और दिखाया यह गया कि हिन्दुस्तानी आपस में राजी नहीं हो सकते। हिन्दुस्तानियों को कभी असली मौका दिया भी गया है कि वे अपनी समस्याओं को अपनेआप सुलझा लें? जहांतक कांग्रेस का संबंध है, उसे ज्यादा मुश्किल नहीं है; क्योंकि उसने तो बहुत दिनों से अल्पसंख्यकों को अधिकार देने के लिए अपनेको तैयार कर लिया है।

कांग्रेस अपने लिए कोई ताकत नहीं चाहती। मुझे यक़ीन है कि वह राष्ट्रीय पंचायत के फैसले को खुशी से मानेगी और जिस घड़ी राजनैतिक आज़ादी मिल जायगी, वह अपनेको खत्म कर देगी। लेकिन मौजूदा हालतों में या निकट-भविष्य में ऐसी राष्ट्रीय पंचायत बुलाई भी जा सकेगी, इसमें सन्देह है।

जितनी इसमें देर की जायगी, उतनी ही ज्यादा हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या आर्थिक समस्या बनती जायगी और आखिरकार सामाजिक और राजनैतिक तब्दीली होकर रहेगी। हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई जरूरी तौर पर दुनिया की लड़ाई का हिस्सा है जो हर जगह शोषितों के छुटकारे के लिए और एक नई सामाजिक-संस्था स्थापित करने के लिए चल रही है।

अक्तूबर १९३३।

: ६ :

राष्ट्रीय पंचायत और साम्प्रदायिकता

मैंने सलाह दी थी कि राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों समस्यायें विधान-सभा यानी राष्ट्रीय-पंचायत के द्वारा सुलझाई जानी चाहिएँ। इस बात को काफ़ी पसन्द किया गया। गांधीजी ने इसकी प्रशंसा की। और दूसरे बहुतों ने भी की है, फिर भी कुछ लोगों ने इसे ग़लत समझा है या समझने की तकलीफ़ ही गवारा नहीं की है।

अगर इसे स्वीकार किया जाय, जैसाकि होना चाहिए, कि राजनैतिक और राष्ट्रीय रूप से हिन्दुस्तानी ही अपने भाग्य के एकमात्र निर्णायक हों और इसलिए अपना विधान तैयार करने की उन्हें पूरी आजादी हो, तो इससे यह अर्थ निकलता है कि ऐसा एक राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा ही हो सकता है, जिसका निर्वाचन अधिक-से-अधिक मताधिकार पर हो। जो आजादी में विश्वास करते हैं, उनके लिए दूसरा मार्ग नहीं है। जो लोग साम्राज्यन्तर्गत स्वराज्य की बात करते हैं, वे भी इस बात से सहमत होंगे कि निर्णय हिन्दुस्तानियों को ही करना होगा। यह निर्णय किस प्रकार किया जायगा? नेताओं के दल या व्यक्तियों द्वारा नहीं और न उन आत्म-निर्वाचित संस्थाओं द्वारा जिन्हें 'आल पार्टीज कान्फ्रेंस' कहते हैं और जो अगर किसीका प्रतिनिधित्व करती हैं तो छोटे स्वार्थी दलों का करती हैं और अधिकांश जनसंख्या को छोड़ देती हैं। हमें यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रीय कांग्रेस इतनी शक्तिशाली और अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्व करनेवाली होते हुए भी वह यह निर्णय नहीं कर सकती। कांग्रेस को आजादी है कि वह आदमियों के सहयोग से राष्ट्रीय-पंचायत पर अपना प्रभाव डाले और उसपर क़ाबू रक्खे, लेकिन

अन्तिम राजनैतिक निर्णय हिन्दुस्तान के आदमी ही जन-मत से निर्वाचित राष्ट्रीय पंचायत द्वारा ही करेंगे ।

इस पचायत का उन झूठी और बेजान कौंसिलों और सभाओ से कोई सम्बन्ध नही रहेगा, जिन्हे विदेशी शासन ने हमपर लाद दिया है । उसे तो अपनी शक्ति जनता से ही प्राप्त करनी होगी । उसपर कोई बाहरी दबाव नहीं होगा । मैंने सलाह दी है कि इस पंचायत का निर्वाचन वयस्क या निकट-वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिए । निर्वाचन की पद्धति क्या होगी, यह बाद में विचार करके तय कर लिया जायगा । निजी तौर पर मे यथासम्भव चुनाव की क्रियाशील पद्धति को चलाना पसन्द करता हूँ; क्योकि वास्तविक हितों का वह कही अधिक प्रतिनिधित्व करती है । भौगोलिक पद्धति अक्सर इन हितो को ढक लेती है और उनमें गड़बड़ डाल देती है । लेकिन इनमें से किसी भी पद्धति को या दोनों को संयुक्त रूप में स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ । राष्ट्रीय पंचायत के चुनाव और काम करने में एक कठिनाई को छोड़कर, जो महत्वपूर्ण है, मुझे और कठिनाई नहीं दिखाई देती । पंचायत का काम विधान बनाने तक ही सीमित होगा और तब उस नये विधान के आधार पर चुनाव होगा ।

जिस एक कठिनाई के बारे मे मैने ऊपर कहा है वह एक बाहरी सत्ता यानी ब्रिटिश-सरकार की मौजूदगी और शासन है । यह स्पष्ट है कि जबतक यह शासन चलता है, तबतक कोई असली विधान-सभा या राष्ट्रीय पचायत नहीं बन सकती और न काम ही कर सकती है । इसलिए जरूरत पहले इस बात की है कि राष्ट्र की ताकत काफी बढ़े, जिससे हिन्दुस्तान के आदमियो की इच्छा पूरी हो सके । दो विरोधी इच्छायें एक साथ नहीं चल सकतीं । उन दोनो मे सघर्ष होगा और शासन के लिए लड़ाई होगी, जैसा कि आज हम हिन्दुस्तान मे देखते है । लाजिमी तौर पर यह सरकार हिन्दुस्तान मे अंग्रेजो के स्वार्थों को कायम रखने के लिए है और हरवक्त-पेपर उन्हींको स्थायी बनाने की कोशिश है । कोई भी राष्ट्रीय पंचायत इन जजीरो से नहीं जकड़ी जा सकती और जबतक राष्ट्र इन बंधनों को

तोड़ने के लिए काफ़ी ताक़त पैदा नहीं कर लेता तबतक ऐसी सभा काम नहीं कर सकती ।

यह पंचायत साम्प्रदायिक समस्या को भी हाथ में लेगी और मैंने सलाह दी है कि अल्प-मत के दिमाग़ से शक दूर करने के लिए अगर वह चाहे तो अपने प्रतिनिधियों का चुनाव पृथक् निर्वाचक-समूहों द्वारा कर सकती है । लेकिन यह पृथक चुनाव केवल विधान-सभा के ही लिए होगा। आगामी चुनाव का तरीका तथा विधान से संबंध रखनेवाली और सब बातें यही सभा अपने आप तय करेगी ।

मैंने यह भी कहा है कि अगर इस विधान-सभा के निर्वाचित मुसलमान प्रतिनिधि कुछ साम्प्रदायिक माँगें पेश करते हैं तो उन्हें स्वीकार कराने पर मैं ज़ोर दूंगा। साम्प्रदायिकता को मैं बुरा समझता हूँ,लेकिन मैं महसूस करता हूँ कि दमन से वह नहीं मिट सकती; बल्कि डर की भावना को दूर करने या हितों को जुदा कर देने से मिट सकती है । इसलिए हमें इस डर को दूर करना चाहिए और मुस्लिम जनता को यह महसूस करा देना चाहिए कि जो रक्षा वे वास्तव में चाहते हैं वह उन्हें मिल सकती है । यह बात महसूस कराने से, मैं समझता हूं, कि साम्प्रदायिकता की भावना बहुत-कुछ कम होजायगी ।

लेकिन मुझे पक्का यक़ीन होगया है कि असली उपाय यह है कि साम्प्रदायिक सवाल के चारों ओर और आज की असलियतों तक जो बनावटीपन पैदा होगया और फैल गया है, उससे हितों को अलग किया जाय । आजकल की अधिकांश साम्प्रदायिकता राजनैतिक प्रतिक्रिया है और इसलिए हम देखते हैं कि साम्प्रदायिक नेता अनिवार्यत: राजनैतिक और आर्थिक मामलों में प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं । उच्च-वर्गीय आदमियों के ग्रुप यह दिखाकर कि वे धार्मिक अल्पमत या बहुमत की साम्प्रदायिक माँगों को पूरा कराना चाहते हैं, अपने वर्ग के स्वार्थों को ढक लेते हैं । हिन्दुओं, मुसलमानों या दूसरे लोगों की तरफ से पेश की गई साम्प्रदायिक माँगों को अगर अच्छी तरह से देखा जाय तो पता चलेगा कि जनता से उनका कोई संबंध नहीं है । ज्यादा-से-ज्यादा

माँगें कुछ बेकार दिमागी आदमियों के लिए नौकरियों के बारे में होती हैं; लेकिन यह स्पष्ट है कि बेकार मध्यवर्गीय दिमागी आदमियों की भी समस्या राज्य की नौकरियों के फिर से बटवारे से पूरी नहीं हो सकती। मध्यवर्ग के बेकार आदमी इतने होते हैं कि राज्य में या दूसरी नौकरियों में वे सब-के-सब नहीं खप सकते और उनकी संख्या तेजी से बढ़ रही है। जहाँतक जनता का या उसकी जरूरतों का सवाल है, वहाँतक साम्प्रदायिक संगठनों द्वारा रक्खी गई माँगों का कोई संबंध नहीं है। स्पष्टरूप से सम्प्रदायवादी उन्हें ध्यान देने लायक नहीं समझते। इन साम्प्रदायिक युक्तियों में दुःखी किसानों, उनके लगान और मालगुजारी या उन्हें कुचलनेवाले कर्ज के बोझ के बारे में क्या है? और क्या है उनमें फैक्टरी, रेलवे, या दूसरे मजदूरों के बारे में जिनके वेतन लगातार कम हो रहे हैं और उनके रहन-सहन का दर्जा एकदम नीचा गिर गया है? या उन निम्न मध्य वर्गों के बारे में, जिन्हें बेकारी की वजह से जिन्दगी दूभर हो रही है? कौंसिलों में सीटों और पृथक् या संयुक्त निर्वाचनों और प्रांतों को अलहदा करने पर बड़ी गरमागरम बहस होती है। कितनों पर ये बातें असर डालती हैं या कितनों को उनमें दिलचस्पी है? क्या एक भूखा आदमी, जिसके पेट को भूख कचोटती है, इसमें दिलचस्पी ले सकता है? लेकिन हमारे साम्प्रदायिक दोस्त इन असली मसलों को उड़ाने का अच्छी तरह से ध्यान से रखते हैं; क्योंकि उनके हल से हो सकता है उनके स्वार्थों पर ही उल्टा असर पड़े। और वे लोगों का ध्यान बिलकुल अवास्तविक और जनता के दृष्टिकोण से छोटी-छोटी बातों की ओर लगाते हैं।

साम्प्रदायिकता जरूरी तौर पर तीसरी ताकत—शासक-सत्ता—की कृपा पाने की कोशिश है। सम्प्रदायवादी तो विदेशी शासन के चालू रहने की परिभाषा में ही सोच सकते हैं और उसमें अपने ही ग्रुप को ज्यादा-से-ज्यादा फायदा पहुँचाने की कोशिश करते हैं। अगर विदेशी सत्ता को हटा दिया जाय तो साम्प्रदायिक बहस और माँगें सब खत्म हो जायँगी। विदेशी सत्ता और सम्प्रदायवादी दोनों ही उच्चवर्गीय

दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिए राजनैतिक और आर्थिक विधान में कोई तब्दीली नहीं चाहते। दोनों ही अपने स्वार्थों को क़ायम और स्थायी बनाये रखने में दिलचस्पी रखते हैं। इसीकी वजह से दोनों असली आर्थिक समस्याओं को, जो आज देश के सामने हैं, हल नहीं करते; क्योंकि उनके हल से मौजूदा सामाजिक विधान बदल जायगा और स्थापित स्वार्थ भी क़ायम नहीं रहेंगे। दोनों को असली मसलों को दरगुज़र करने की शुतुरमुर्ग-जैसी यह नीति आखिर में वर्बाद कर देगी। सरकारों और साम्राज्यों से कहीं ज्यादा ताक़तवर असलियतें और आर्थिक शक्तियाँ होती हैं और अपने खतरे पर ही उन्हें भुलाया जा सकता है।

इस तरह साम्प्रदायिकता राजनैतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया का दूसरा नाम हो जाता है। और अँग्रेज़ी सरकार हिन्दुस्तान में इस प्रतिक्रिया का केन्द्र है, इसलिए कुदरतन वह अपना साया फायदेमन्द मित्र के ऊपर डालती है। असली मसले को गड़बड़ाने के लिए बहुत-से झूठे रास्ते बनाये गये हैं। इस्लामी संस्कृति और हिन्दू संस्कृति, धर्म और प्राचीन रीति-रिवाज, प्राचीन गौरव तथा ऐसी ही बातें हमसे कही जाती हैं। लेकिन इस सबके पीछे राजनैतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया है। और इसलिए साम्प्रदायिकता से सब तरफ़ से लड़ना चाहिए, कोई जगह छोड़नी नहीं चाहिए। क्योंकि साम्प्रदायिकता के अन्दरूनी रूप को अच्छी तरह से महसूस नहीं किया गया, इसलिए अक्सर उसने आडम्बर से काम लिया है और बहुत-से अनजान लोगों को फँसा लिया है। यह निस्सन्देह ठीक है कि बहुत-से कांग्रेसी क़रीब-क़रीब अनजान में उसके वशीभूत हुए और इस संकीर्ण और प्रतिक्रियावादी मत से अपने राष्ट्रवाद का मेल बैठाने की उन्होंने कोशिश की। अगर इसके असली रूप को अच्छी तरह से देखा जाय तो पता चलेगा कि दोनों के बीच में कोई सामान्य धरातल नहीं हो सकता। उनकी क़िस्में भिन्न हैं। वक़्त आगया है कि कांग्रेसी और दूसरे आदमी, जो हिन्दू या मुसलमान, सिक्ख या अन्य सम्प्रदायवाद से मज़ाक करते रहे हैं, इस स्थिति को समझें और अपना रास्ता निकालें। दोनों ही तरह से कोई उसे ग्रहण नहीं कर सकता।

राजनैनिक और सामाजिक उन्नति और खुली प्रतिक्रिया में मे किसी एक को पसन्द करना होगा। साम्प्रदायिकता के किसी भी स्वरूप मे संबंध रखने का अर्थ होता है प्रतिक्रिया के साधनों को और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को मजबूत करना; उसका अर्थ होता है सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का विरोध और अपने आदमियों के मौजूदा दु:ख को बर्दाश्त करना; उसका अर्थ होता है आँख बन्द करके दुनिया की ताकतों और घटनाओं को दरगुजर करना।

साम्प्रदायिक संगठन क्या हैं? वे मजहबी नहीं हैं, हालांकि वे अपनेको मजहबी ग्रुपों में ही मानते हैं और मजहब नाम का नाजायज फायदा उठाते हैं। सांस्कृतिक भी वे नहीं हैं। संस्कृति के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया, हालांकि वे बहादुरी के साथ प्राचीन संस्कृति की बात करते हैं। वे नैतिक ग्रुप भी नहीं हैं; क्योंकि उनकी शिक्षा में नैतिकता बिल्कुल नहीं है। आर्थिक दलबन्दी भी वह निश्चय ही नहीं है; क्योंकि उनके सदस्यों को बाँधनेवाली कोई आर्थिक कड़ी नहीं है और न आर्थिक कार्यक्रम की ही छाया उनमें है। उनमें मे कुछ तो राजनैतिक होने का दावा भी नहीं करते। तब वे हैं क्या?

असल में राजनैतिक ढंग मे वे काम करते हैं और उनकी माँगें भी राजनैतिक हैं; लेकिन जब वे अपनेको अ-राजनैतिक कहते हैं तो वे असली मसले को दरगुजर करते हैं और दूसरों के रास्ते को रोकने में ही वे कामयाब होते हैं। अगर ये राजनैतिक संगठन हैं तो हमें हक है कि यह जानें कि उनका उद्देश्य क्या है। वे हिन्दुस्तान की मुकम्मिल आज़ादी चाहते हैं या आंशिक आज़ादी—अगर वैसी भी आज़ादी कोई चीज़ है तो? क्या वे आज़ादी चाहते हैं या साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य? अच्छे-से-अच्छे शब्द भी भ्रम पैदा कर देते हैं और बहुत-से आदमी अब भी सोचते हैं कि साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य आज़ादी के ही बराबर है। असल में वे दोनों बिल्कुल भिन्न हैं, विरोधी दिशाओं में जानेवाले वे दो रास्ते हैं। यह आनों का सवाल नहीं है कि चौदह आने हैं या सोलह आने; बल्कि भिन्न-भिन्न सिक्कों-जैसा सवाल है, जिनका आपस में विनिमय नहीं हो सकता।

साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य का अर्थ है अंग्रेजों की आर्थिक व्यवस्था के मज़बूत ढांचे और स्वार्थों के अन्तर्गत काम किये जाना। साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य में इस गला घोंटनेवाले अधिकार से कोई छुटकारा नहीं है। आज़ादी का मतलब है इन बोझों से मुक्त होने की संभावना और अपने सामाजिक विधान को तै करने की आज़ादी। इसलिए साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य में हमें चाहे जितनी अधिक सीमित आज़ादी मिल जाय, फिर भी वह इंग्लैण्ड के बैंक और ब्रिटिश पूंजी के मुख्य अधिकार में होगी। हमारे मौजूदा आर्थिक विधान के चलने पर भी उसे निर्भर होना होगा। इसका अर्थ है कि हम अपनी आर्थिक समस्याओं को नहीं सुलझा सकते और न कुचलनेवाले बोझ से जनता को ही मुक्त कर सकते हैं। हम दलदल में और गहरे ही फँस सकते हैं। तब इन साम्प्रदायिक संगठनों का क्या उद्देश्य है—आज़ादी या साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य ?

व्हाइटपेपर में जो मज़ाक़िया विधान दिया गया है, उसका ज़िक्र करने की हमें ज़रूरत नहीं है। उससे तो सिर्फ़ हमें इसी बात की याद दिलाई जाती है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूँजी और स्वार्थों को हर तरह से क़ायम रक्खा जायगा, जबतक कि ब्रिटिश-सरकार में उन्हें क़ायम रखने की ताक़त है। सिर्फ़ वही आदमी जिन्हें ब्रिटिश स्वार्थों के क़ायम रखने में दिलचस्पी है या जो बहुत सीधे-सादे हैं, व्हाइटपेपर या उसके भागों को पसन्द कर सकते हैं।

राजनैतिक ध्येय से भी अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक ध्येय है। यह बात चारों तरफ़ फैली है कि राजनीति का युग गया और हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें अर्थशास्त्र राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर शासन करता है। साम्प्रदायिक संगठन इन आर्थिक मामलों के बारे में क्या चाहते हैं ? या उन्हें जनता या निम्न मध्यम वर्गों की भूख और बेकारी का कोई पता ही नहीं है ? अगर वे जनता के प्रतिनिधित्व का दावा करते हैं, तो उन्हें जानना चाहिए कि इन अभागे और दुखी लोगों के सामने सबसे बड़ी समस्या भूख की है और इस समस्या का हल, कम-से-कम उसूली ही, मिल जाना चाहिए। व्यवसाय और खेती में इन संगठनों

के विचार से क्या होना चाहिए ? मजदूरों और किसानों के दुखों को दूर करने का वे क्या उपाय निकालते हैं ? जमीन के क्या कानून होने चाहिए? किसानों के कर्ज का क्या होगा; क्या उसका शोध होगा या सिर्फ उसकी आवाज को दबा दिया जायगा, या वह बाकी रहेगा ? और बेकारी के बारे में क्या ? क्या वे समाज की मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था में विश्वास रखते हैं, या वे नई व्यवस्था क़ायम करना चाहते हैं ? ये कुछ अजीब सवाल हैं जो उठते हैं और उनका और ऐसे ही दूसरे सवालों का जवाब हमें सम्प्रदायवादियों की माँगों के दावे और आन्तरिकता को समझने में मदद देगा । अगर ये जवाब जनता तक पहुँच सकें तो उसे भी बड़ी मदद मिलेगी । हिन्दू जनता की बनिस्बत शायद मुस्लिम जनता तो और भी गरीब है; लेकिन मशहूर 'चौदह बातें' इन गरीबों के बारे मुसलमानों के बारे में कुछ नहीं कहतीं । हिन्दू सम्प्रदायवादी भी अपने स्वार्थों के कायम रखने पर जोर देते हैं और जनता की परवा नहीं करते ।

मुझे डर है कि इन सवालों का स्पष्ट या शायद कोई भी उत्तर मुझे नहीं मिलेगा; क्योंकि प्रश्न असुविधाजनक हैं, कुछ तो शायद इसलिए भी कि सम्प्रदायवादी नेता आर्थिक बातों के बारे में बहुत कम जानते हैं और उन्होंने जनता की परिभाषा में कभी नहीं सोचा है । वे तो 'फी सदी' के बारे में ही सोचने में उस्ताद हैं और उनकी लड़ाई का मैदान उनकी सभा का कमरा है, खेत, फैक्टरी या बाजार नहीं । लेकिन चाहे वे पसन्द करें या न करें, ये सवाल तो आगे आयेंगे ही और जो इनका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकेंगे उनको सार्वजनिक मामलों में स्थान नहीं मिलेगा । इन सब सवालों का जवाब हम एक व्यापक शब्द में दे सकते हैं । वह शब्द है—समाजवाद और समाज का समाजवादी विधान ।

लेकिन ठीक जवाब सोशलिज्म या कम्यूनिज्म हो या और कोई हो, एक बात निश्चित है—वह यह कि जवाब अर्थशास्त्र की परिभाषा में हो, केवल राजनीति की परिभाषा में नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान और दुनिया आर्थिक समस्याओं से परेशान है और उनसे बचा नहीं जा सकता । जब तक पूरी आर्थिक आजादी न मिलेगी, तबतक राजनैतिक विधान चाहे

जैसा हो, हमें आज़ादी नहीं मिल सकती। आर्थिक आज़ादी में राजनैतिक आज़ादी भी शामिल है। आज की असलियत यही है। और सब आडम्बर है, भ्रम है, और इसमें भी साम्प्रदायिक आडम्बर से बढ़कर और कोई आडम्बर नहीं है।

अब राष्ट्रीय पंचायत के मामले पर वापस लौट चलें। अगर वास्तविक जनता की चुनी हुई सभा आज़ादी के साथ असली मसलों पर विचार करने के लिए बैठती है, तो तुरन्त ही इन आर्थिक समस्याओं में उसका ध्यान लग जायगा। साम्प्रदायिक समस्या पीछे पड़ जायगी; क्योंकि जनता की दिलचस्पी 'फ़ी सदी' के सवाल से ज्यादा अपने पेट भरने में होगी। यह सभा उन साधनों को मुक्त कर देगी जो अबतक विदेशी शासकों और हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों के कारण दबे पड़े हैं। नेतृत्व जनता के हाथ में जायगा, और जनता जब स्वतन्त्र होगी तो कभी-कभी भूल करने पर भी वह असलियत की परिभाषा में सोचेगी और आडम्बरों से उसके लिए कोई लाभ न होगा। कार्यकर्ताओं और किसानों के हाथ में परिस्थिति होगी और उनका निर्णय, कभी-कभी अपूर्ण होने पर भी, हमें आज़ादी की ओर ले जायगा। मैं नहीं कह सकता कि राष्ट्रीय-पंचायत क्या तय करेगी। लेकिन जनता में मुझे श्रद्धा है और उसके निर्णय को मानने के लिए मैं तैयार हूँ, और मुझे विश्वास है कि जब असली जनमत की बड़ी परीक्षा होगी तब साम्प्रदायिक समस्या ख़त्म होजायगी। वह कमरों की गर्मी से पैदा हुई है और सभा के कमरों के वायुमण्डल में और तथाकथित 'सर्वदल-सम्मेलनों' में उसका पालन-पोषण हुआ है। उस बनावटी वायुमण्डल में उसको नष्ट करने का हल नहीं मिलेगा; बल्कि ताजा हवा और धूप में वह क्षीण होकर नष्ट होगी।

: ६ :

फ़ेडरेशन

मुझे ताज्जुब होता है कि लोग अब भी फेडरेशन की सम्भावना के बारे में बातें करते हैं। फेडरेशन की जोरों से मुखालफ़त करनेवाले तक उस बारे में बात करते हैं, क्योंकि उनका विचार है कि शायद फेडरेशन उनपर लागू कर दिया जाय। मैंने तो बहुत पहले से ही फेडरेशन का रास्ता बन्द कर दिया है—सिर्फ इसीलिए नहीं कि मैं उसे नापसन्द करता और उसे हिन्दुस्तान के लिए नुकसान करनेवाला समझता हूँ, बल्कि इसलिए कि मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मौजूदा हालतों में उसे लागू नहीं किया जाना चाहिए। इस बात को मैं और अच्छी तरह से समझता हूँ। मैं कोई पैग़म्बर नहीं हूँ और आज की बदलती हुई दुनिया में या तो कोई बहुत बहादुर या कोई बहुत मूर्ख ही होगा जो कहेगा कि आगे क्या होगा। हिन्दुस्तान में चाहे जो कुछ हो सकता है और यह भी मुमकिन है कि हमारे टुकड़े-टुकड़े होजायें और फेडरेशन से भी बुरी किसी चीज़ के आगे हमें झुकना पड़े। यह नामुमकिन नहीं है कि कुछ वक्त के लिए दुनियाभर पर फ़ासिज्म का शासन होजाय और आज़ादी को कुचल दिया जाय।

फेडरेशन के सवाल पर हमने पूरी तरह से भारतीय राष्ट्रवाद, भारत के स्वतन्त्र होने की इच्छा और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के बीच संघर्ष की परिभाषा में विचार किया है। साफ़तौर से यह उसका एक खास पहलू है और यह स्पष्ट है कि यह संघर्ष उसमें छिपा है और अगर फेडरेशन को लागू करने की कोशिश की गई तो वह संघर्ष सामने आजायगा। फेडरेशन की योजना की अच्छाई या बुराई पर हमें बहस करने की जरूरत नहीं है। उसके बारे में काफी कहा और लिखा जा...

ख़ास बात तो यह है कि हिन्दुस्तान उसे एकदम नापसन्द करता है और उसे स्वीकार नहीं करेगा। बस इतना ही हमारे लिए काफ़ी है। लार्ड ज़ेटलैण्ड और उनके साथी जो कुछ इस बारे में सोचते हैं, उससे हमें कोई मतलब नहीं है।

लेकिन एक और बड़ा पहलू है जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए। इन हाल के बरसों में हमने हिन्दुस्तान की समस्या पर उसके दुनिया की समस्या के सम्बन्ध में विचार करने की कोशिश की है। अगर हमने ऐसा नहीं किया होता तो भी घटनायें हमसे और दूसरों से ऐसा करा लेतीं। हरेक आदमी को यह महसूस करना चाहिए कि हम उस अवस्था में पहुँच गये हैं जबकि किसी समस्या के अलहदा राष्ट्रीय हल नहीं निकाले जा सकते; क्योंकि वे दुनिया के असली हल के संघर्ष में आते हैं। हमें दुनिया की परिभाषा में सोचना चाहिए। आज दुनिया सुगठित होकर एक इकाई बन गई है और एक हिस्से की हलचलें दूसरे हिस्सों को बिना छुए नहीं रहतीं। अधिक-से-अधिक लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं; फिर भी हमेशा की तरह असलियत तक हमारे दिमाग़ नहीं पहुँचते। लोग कहते हैं : शान्ति अखंड है, स्वतन्त्रता भी अविभाज्य है, हिन्दुस्तान को भी बांटा नहीं जा सकता, और आज किसी भी अहम मसले पर दुनिया भी एक है।

इसलिए हमारी आज़ादी की बात पर हमें दुनिया की और उसके सहयोग की परिभाषा में विचार करना चाहिए। वे दिन चले गये जब राष्ट्र अलहदा-अलहदा थे। अब तो आपस में सहयोग न होने से दुनिया छिन्न-भिन्न होजायगी और लड़ाई अगर मची और राष्ट्रों में लगातार संघर्ष चला तो सबके सब बरबाद होजायँगे।

आज दुनियाभर के अधिक-से-अधिक सहयोग के बारे में सोचना मुश्किल है; क्योंकि कुछ शक्तियाँ और कुछ ऐसे ताक़तवर राष्ट्र हैं जो दूसरी ही नीति चलाने पर कमर कसे हुए हैं। लेकिन यह मुमकिन हो-सकता है कि ध्येय ठीक रक्खा जाय और सहयोग की नींव डाली जाय, शुरू में चाहे वह दुनियाभर का सहयोग न भी हो। दुनिया के बुद्धिमान और

दूसरे बहुत-से लोग इसी बात की राह देख रहे हैं; लेकिन सरकारें, स्थापित स्वार्थ और बहुतसे दल इसके रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं।

बीस बरस पहले प्रेसिडेंट विल्सन को दुनिया के सहयोग की झलक मिली थी और उन्होंने उसे महसूस करने की कोशिश की थी। लेकिन उस युग की लड़ाइयों की सन्धियों और राजनीतिज्ञों ने उस विचार को उड़ा दिया और बहुत बड़ी आशा की क़ब्र पर बने मकबरे की तरह आज जेनेवा में राष्ट्र-संघ शोक-पीड़ित खड़ा है। फ़ेडरेशन को तो ख़त्म होना ही था, क्योंकि वह अच्छे मुहूर्त में शुरू नहीं हुआ था और मृत्यु के बीज उसके अन्दर मौजूद थे। वह तो एक ऐसी चीज़ को मज़बूत बनाने की कोशिश थी जोकि साम्राज्यवादी और शासक राष्ट्रों के विशेष स्वार्थों की रक्षा नहीं कर सकती थी। उसकी शान्ति की पुकार का मतलब था तमाम दुनिया में सामूहिक हमलों को जारी रखना और उसका प्रजातन्त्र बहुत-से राष्ट्रों को गुलामी में रखने के लिए लबादा था। फ़ेडरेशन को ख़त्म होना पड़ा; क्योंकि उसमें ज़िन्दा रहने का काफ़ी साहस नहीं था। उस मुर्दे का अब पुनर्जीवन नहीं हो सकता।

लेकिन उस विचार का पुनर्जीवन हो सकता है जिसके लिए राष्ट्र-संघ बना है। लेकिन उस संकीर्ण, चक्करदार या उलटे तरीक़े से नहीं जिसने पेरिस और जेनेवा में शक्ल अख़्तियार की थी; बल्कि स्वस्थ, ज़्यादा ताक़तवर और एक ऐसे रूप में जिसका आधार सामूहिक शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र पर हो। और किसी भी बुनियाद पर उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता और न उसे पोषण ही मिल सकता है।

पिछले कुछ बरसों में सामूहिक सुरक्षितता की बड़ी बातें हुई हैं; लेकिन इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने सुरक्षितता को ख़त्म कर दिया और उसके साथ राष्ट्र-संघ को भी ख़त्म कर दिया। नये-नये ख़तरों के सामने होने से जिनसे ख़ुद उन्हें अपनी ज़िन्दगी का डर है, इंग्लैण्ड और फ़्रान्स लड़ाई होने के डर से, अपने साथी ढूंढने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन अब वे शान्ति के लिए सामूहिक-सुरक्षितता की परिभाषा में नहीं सोचते।

बहुत-से कारणों से यह सामूहिक सुरक्षितता का विचार नाकामयाब

रहा। नाकामयावी की एक खास वजह यह थी कि उसने साम्राज्यवाद का साथ दिया। सामूहिक सुरक्षितता का तो निकट-संवन्ध प्रजातन्त्र और आजादी से है और ऐसी दुनिया में जहाँ प्रजातंत्र और आजादी सिर्फ़ एक सीमित हिस्से में है उसका नाकामयाव होना निश्चय है। इस तरह असली कठिनाई, जैसे कि मि० ल्यूनार्ड वार्न ने अपनी हाल ही की किताव में वताया है, रह जाती है साम्राज्यवाद का अंत और हिन्दुस्तान की आजादी।

वहुत-से आदमी इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि शान्ति और प्रगति के लिए राष्ट्रों के वीच निकटवर्ती सहयोग ज़रूरी है। अनिश्चित तौर से वे एक दुनियाभर की पंचायत (कामन-वेल्थ) क़ायम करने के पीछे पड़ते हैं जो राष्ट्र-संघ से कहीं ज्यादा वड़ी है। कुछ उत्साही अंग्रेज़ सोचते हैं कि ऐसी पंचायत के लिए व्रिटिश-साम्राज्य या राष्ट्र-पंचायत आधार रूप है। वे यह भूल जाते हैं कि व्रिटिश साम्राज्य का आधार साम्राज्यवाद है और अपने गुलाम देशों का शोषण करना है। साम्राज्य पर निर्भर हिस्से को छोड़ कर भी अर्ध-स्वतंत्र औपनिवेशिक राज्य भी साम्राज्य के दायरे से संवन्ध तोड़ रहे हैं। कैनेडा आज भी वहुत-सी वातों में इंग्लैण्ड की वनिस्वत अमेरिका से अधिक संवन्धित है। यह सम्भव है कि यह संवन्ध राजनैतिक शक्ल अख्तियार करले। अगर लड़ाई होती है तो यह वहुत शुवहतलव वात है कि व्रिटिश-साम्राज्य अपने इस रूप में जीवित रहेगा।

कुछ लोगों की राय है कि व्रिटिश-साम्राज्य के राष्ट्र एक-दूसरे के पास आयें और संघीय व्यवस्थापक मण्डल वनावें। इसका मतलव या तो यह हो सकता है कि अंग्रेज़ सवपर राज्य करें या यह कि हिन्दुस्तान में और व्रिटिश उपनिवेशों में साम्राज्यवाद का परिशोध हो। परिशोध के मामले में हिन्दुस्तान अपने शक्ति-गर्भित साधनों और आदमियों की ताक़त से दूसरे हिस्सों पर वहुत असर डालेगा, जिसे ये दूसरे हिस्से शायद पसंद न करें। किसी भी हालत में हिन्दुस्तान नहीं सोच सकता कि व्रिटिश साम्राज्य या पंचायत रहे। इतिहास और घटनायें ही इस वात की मुख़ालफ़त करते हैं कि ऐसे सीमित दल से हमारा सम्वन्ध हो।

आज दक्षिण अफ्रिका में हमारी जैसी हालत है, वहाँपर हमारे देशवासियों को जैसा नीचा दिखाया जा रहा है, उसे देखते हुए हमें यह कहना कि हम ऐसे समूह के मेंबर बने रहें, हमारी बेइज्जती करना है।

लेकिन दुनियाभर का सहयोग होना जरूर चाहिए और तमाम राष्ट्रों की आज़ादी पर रोक लगाकर ऐसा कर देना चाहिए जिससे दुनियाभर में व्यवस्था और शान्ति रहे। वह सहयोग ब्रिटिश दल तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, चाहे वैसा होना मुमकिन ही क्यों न हो। ब्रिटिश दल तक सीमित् करना तो उसके उद्देश्य को ही खोना है।

हाल ही में क्लेरेंस स्ट्रीट की पुस्तक 'यूनियन नाउ' निकली है, जिसने बहुत-से लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचा है। उसमें इसी समस्या पर विचार किया गया है। मि० स्ट्रीट तथाकथित प्रजातंत्रों के यूनियन की सिफारिश करते हैं। वह कहते हैं कि शुरू-शुरू में १५ मेम्बर हों— संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, संयुक्त साम्राज्य (इंग्लैंड), फ्रान्स, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड, दक्षिण अफ्रिका, न्यूज़ीलैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड, स्वीजरलैंड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन और फिनलैण्ड। ये मुल्क एक संघीय यूनियन बनावें जिनकी एक पार्लमेण्ट हो। सिर्फ़ एक संघ या संधि ही न रक्खें। यह विचार जरूर ही ब्रिटिश साम्राज्य के विचार से बढ़कर है; लेकिन इसमें दो ख़राबियाँ हैं। एक तो यह कि इसमें रूस, चीन, हिन्दुस्तान तथा दूसरे कुछ देश शामिल नहीं हैं; दूसरे साम्राज्यवाद के बारे में उसमें कुछ नहीं कहा गया है। रूस, चीन, हिन्दुस्तान की अलहदगी शायद ज्यादा दिन न रहे; लेकिन शुरू से ही ऐसा करना ठीक नहीं है। उसमें बहुत-सी खतरनाक सम्भावनायें हैं। इस यूनियन के बहुत-से देश पहले ही से अर्ध-फासिस्ट और साम्राज्यवादी हैं। हो सकता है कि वे फासिस्ट देशों की तरफ बढ़ें और उनसे समझौता करलें और रूस की मुख़ालफत करें और चीन और हिन्दुस्तान की आज़ादी के आन्दोलनों का भी विरोध करें। किसी भी प्रगतिशील यूनियन के जीवित रहने की तबतक सम्भावना नहीं है जबतक कि रूस उसमें शामिल न हो।

और न साम्राज्यवाद के ख़त्म कर देने की बुनियाद के अलावा और

किसी बुनियाद पर वास्तविक यूनियन बनाया ही जा सकता है। नहीं तो यूनियन साम्राज्यवादी सत्ताओं का होजायगा और गुलाम देशों में अपने स्थापित स्वार्थों की रक्षा करने के लिये ही होगा। पर स्वार्थों की रक्षा भी वे नहीं कर सकेंगे; क्योंकि वे आपस में लड़ेंगे। साम्राज्यवाद में से शान्ति पैदा नहीं होती। साम्राज्यवाद तो लड़ाई को ही जन्म देता है।

आज दुनियाभर के यूनियन की ज़रूरत तो है; पर बदक़िस्मती से ऐसा यूनियन बन नहीं सकता; क्योंकि जिनके हाथ में ताक़त है वे तो पुरानी दुनिया के, जो खत्म हो चुकी है, भक्त हैं और नई दुनिया की परिभाषा में न सोच सकते हैं, न काम कर सकते हैं। यूनियन तबतक क़ायम न हो सकेगा जबतक दुनिया लड़ाई से छिन्न-भिन्न न होजायगी और लाखों की जानें नहीं चली जायँगी। लेकिन यूनियन क़ायम होगा ज़रूर; क्योंकि उसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है। ऐसे यूनियन का साम्राज्यवाद से कोई वास्ता नहीं होगा, न फ़ासिज्म से। वह तो पूरे जन-तंत्र और आज़ादी पर कायम होगा। हरेक राष्ट्र को औपनिवेशिक स्वराज्य होगा। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वे सब यूनियन के व्यवस्थापक-मण्डल के आधीन होंगे, जिसमें उनके प्रतिनिधि होंगे। लाज़िमी तौर पर उन्हें मौजूदा झगड़ों को खत्म करने के लिए एक आयोजित और समाज-वादी अर्थशास्त्र के मातहत काम करना होगा।

ऐसे संघीय यूनियन में हिन्दुस्तान खुशी से भाग लेगा और दुनिया की शान्ति और प्रगति के लिए जो कुछ कर सकता है, करेगा। उसमें शामिल हिन्दुस्तान का अपना फेडरेशन होगा, जो ब्रिटेन द्वारा हमपर थोपे गये अनुचित और अनुपयुक्त फेडरेशन से बहुत भिन्न होगा। इस फेडरेशन को तो हम स्वीकार नहीं कर सकते।

में नहीं सोचता कि यह फेडरेशन ज्यों-का-त्यों या उसमें कुछ तब्दीली करके हिन्दुस्तान पर लागू किया जा सकेगा। लोग उसके बारे में बात करते हैं; लेकिन उसका विचार तो 'डोडो'[१] की तरह एकदम खत्म हो चुका है। यह मुमकिन है कि लार्ड ज़ेटलेंड और हमारे दूसरे आचार्यों

१. मारीशस की एक चिड़िया जिसका अन्त कभी का होगया।

ने इस बात को महसूस न किया हो या महसूस करके उस बात को कहना न चाहते हों; लेकिन फेडरेशन अपनी इस शक्ल और रूप में नहीं लागू किया जा सकता। हिंदुस्तान बदल गया है और दुनिया भी एकदम बदल गई है। गोलमेज-कान्फ्रेंसों का जमाना भी प्राचीनता के धुंधलेपन में विलीन होगया है। अगर अंग्रेज़ अक्लमन्दी करके अब भी उसे लागू करना चाहते हैं तो उसका मतलब होगा खतरनाक लड़ाई, और आज जो कुछ उनका हिन्दुस्तान में है वह भी छिन्न-भिन्न होजायगा। हमारे लिए उसका आखिरी नतीजा चाहे बुरा हो या अच्छा, लेकिन फेडरेशन लागू नहीं होगा।

इसलिए मेरे खयाल में फेडरेशन लागू नहीं किया जा सकता। वह तो अब मुर्दा है और कोई भी जादू का अर्क उसे जिन्दा नहीं कर सकता।

३१ मई १९३९।

: ७ :

साम्प्रदायिक निर्णय

कई मौक़ों पर अपने भाषणों में मैंने साम्प्रदायिक निर्णय पर चर्चा की है। हिन्दुस्तानी में दी हुई मेरी लम्बी-लम्बी तक़रीरों की छोटी रिपोर्टें अंग्रेजी अख़बारों में छपी हैं। वे अनिवार्यतः मैंने जो कुछ कहा था, उसका कुछ-कुछ ग़लत अन्दाज़ कराती हैं और उसकी आलोचना कभी-कभी ग़लत बातों पर निर्भर होती है। यह हमेशा ज़रूरी है कि मतभेद के मामलों पर विचार स्पष्ट हों, जिससे हममें मतभेद होते हुए भी हम कम-से-कम यह तो साफ़ तौर से महसूस करें कि मसले आखिर हैं क्या। इसलिए थोड़े-से में मैं साम्प्रदायिक निर्णय पर अपने विचार यहाँ दिये देता हूँ। ये विचार मैं पहले भी अपने लखनऊ-कांग्रेस के भाषण में ज़ाहिर कर चुका है। मैंने कहा था कि साम्प्रदायिक निर्णय और जन-तंत्र दोनों साथ-साथ कभी भी नहीं चल सकते। इस साम्प्रदायिक निर्णय की बुनियाद ही जन-तंत्र का इन्कार करती है और ज़रूरी तौर पर वह आज़ादी के रास्ते में और सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के विचार में एक बड़ी रुकावट होगी। वे समस्यायें असली समस्यायें हैं, जो हिन्दुस्तान में हमारे सामने हैं। मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई भी आदमी, जो स्पष्ट रूप से आज़ादी या सामाजिक तब्दीली की परिभाषा में सोचता है, इस साम्प्रदायिक निर्णय को स्वीकार या पसन्द करेगा। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ और अफ़सोस भी हुआ है कि हमारे बहुत-से मुसलमान दोस्तों और साथियों ने, जिनका उद्देश्य हिन्दुस्तान की आज़ादी था, इस घातक निर्णय को इतना पसन्द किया है।

इस निर्णय से मेरे तटस्थ या ग़ैरज़िम्मेदार होने का सवाल नहीं है, और न, जहाँतक मैं जानता हूँ, कांग्रेस की ही ऐसी ही स्थिति है।

अहम मामलों में तटस्थ रहने की मेरी आदत नहीं है। साम्प्रदायिक निर्णय को मैं मुखालफत करता हूँ और किसी भी वक़्त में राज़ी से उसे स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि उसे स्वीकार करने का मतलब मेरे लिए होगा स्वतन्त्रता, सामाजिक आज़ादी और जन-तन्त्रीय परम्परा को भूल जाना।

इसलिए मेरे सामने सवाल यह है कि इस निर्णय को पसन्द न करूँ या तटस्थ रहूँ। तटस्थ मैं नहीं हूँ और ज़ोरों से मैं उसे नापसन्द करता हूँ। अपनेआप ही उसका मतलब यह होता है कि इस बेहद नामुनासिब चीज़ से पीछा कैसे छुड़ाया जाय? मुझे तो इसके लिए दो ही रास्ते दिखाई देते हैं। एक रास्ता तो आज़ादी का है, जब ज़रूरी तौर पर ऐसी व्यवस्थायें होजायँगी कि ऐसी चीज़ों को अलहदा होना पड़ेगा और जन-तंत्रीय तरीक़े आयेंगे। दूसरा रास्ता यह है कि निर्णय में दिल-चस्पी रखनेवाले बड़े-बड़े दल आपस में फ़ैसला और समझौता करलें। इसमें मैं यह भी कहूँगा कि मेरे ख़याल से आज़ादी को उद्देश्य बनाकर चलनेवाले और ब्रिटिश साम्राज्य की छाया में हमेशा रहने की उम्मीद करनेवाले इन दो दलों में कोई सच्चा समझौता नहीं हो सकता। उनके विचार जुदा-जुदा हैं और वे अलहदा-अलहदा ध्येय के लिए काम करते हैं।

यह आशा करना कि इस बारे में अंग्रेज़ हमारी मदद करेंगे, एक असम्भव बात की कल्पना करना है। मदद न देने में ही साफ़ तौर से उनका फ़ायदा है। साम्प्रदायिक नेताओं से भी मदद की उम्मीद करना उतना ही नामुमकिन है। इस तरह एक ही रास्ता रह जाता है। वह यह कि जनता का ध्यान उससे कहीं ज्यादा सम्बन्ध रखनेवाली राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की तरफ़ खींच दिया जाय, जिससे वे साम्प्रदा-यिक सवाल को उसके असली रूप में देख सकें। साम्प्रदायिक निर्णय पर ज़ोर दिये जाना तो अपने ध्येय को ही खो देना है, क्योंकि उसमें आदमियों को दूसरे मसलों पर विचार करने का मौक़ा नहीं मिलता।

साम्प्रदायिक सवाल पर कांग्रेस की स्थिति तो बहुत पहले से साफ़ है। उसने कह दिया है कि उसका उद्देश्य राष्ट्रीय जन-तन्त्रीय हल निका-

लना है; लेकिन अगर साम्प्रदायिक सवाल से सम्बन्ध रखनेवाले दलों में समझौता होजाता है तो शायद वह इस निर्णय को स्वीकार करले। इसके अलावा, वह आज़ाद हिन्दुस्तान के लिए विधान बनाने के लिए और साम्प्रदायिक मसलों पर फ़ैसला देने के लिए राष्ट्रीय पंचायत पर ज़ोर देती है।

२ जून १९३६

: ८ :

पद-ग्रहण का निर्णय

कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक खत्म होने के बाद ही कुछ पत्र-
प्रतिनिधियों ने मुझसे पूछा कि कार्यसमिति के पद-ग्रहणवाले प्रस्ताव के
बारे में आपकी क्या राय है ? मैंने उनसे कह दिया कि मैं इस बारे में
कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि कार्य-समिति के मेंबर उसके प्रस्तावों
पर बहस नहीं करते। और तब सहज भाव ही से मैंने यह भी कह दिया
कि कार्य-समिति के मेंबर के लिए कार्य-समिति का प्रस्ताव ठीक ही
होना चाहिए। जबतक वह मेम्बर है तबतक उसे मानना चाहिए कि,
राजा की तरह, कार्य-समिति भी गलती नहीं कर सकती।

फिर भी मैं महसूस करता हूँ कि इस सवाल को मैं योंही नहीं टाल
सकता और कांग्रेस के अपने साथियों को उस प्रस्ताव के महत्व को बताने
की मुझे कोशिश करनी चाहिए। दो-तीन बरस से मुल्क में पद-ग्रहण के
सवाल पर बड़ा भारी वादविवाद उठ खड़ा हुआ है। बहुतसे लोगों ने
और दलों ने उसपर बहस-मुबाहिसा किया है और वे अपने-अपने विचारों
पर पक्के हैं। वे विचार वैसे ही रहते हैं, लेकिन उन विचारों के पीछे
क्या है ? मैं खयाल करता हूँ कि कुछ ही आदमियों ने पदग्रहण की इस
[illegible]लन मुखालफत की और जो क्रांतिकारी तब्दीलियों की परिभाषा में
[illegible]सोचते हैं, उन्होंने भी ऐसा नहीं सोचा कि पदग्रहण निश्चय ही [illegible]
[illegible]है। वे और बहुत से डरे कि पदग्रहण में एक बड़ा खतरा है। [illegible]
[illegible]मामूली-सी सुधार की कार्रवाइयों में फंस जायंगे और [illegible]
[illegible]छ वक्त के लिए भूल जावेंगे। उन्हें डर हुआ कि [illegible]
[illegible]य से चला जायगा और हमारी कार्रवाइयां ज्यादातर [illegible]
[illegible]घिरे और तंग दायरे तक ही सीमित हो जायंगी। [illegible]

वजह से कांग्रेस, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और कार्यसमिति ने बार-बार ज़ोर देकर कहा कि ज़रूरी काम तो असेम्बलियों और कौंसिलों के बाहर है, जनता के सम्पर्क में है। अगर हम इस बात को याद रक्खें, हमारा ध्येय हमेशा आज़ादी रहे और हम उसके लिए काम भी करें तो खतरा कम-ही-कम होता जायगा और अपने ध्येय की पूर्ति में कौंसिल-चैम्बर से भी फ़ायदा उठाया जा सकेगा।

कार्य-समिति ने वर्धा की बैठक में जो प्रस्ताव पास किया है उसके पीछे आज की कांग्रेस के ज्यादा-से-ज्यादा लोगों की राय है इसमें मुझे संदेह नहीं है। यह राय पदग्रहण के पक्ष में है। लेकिन इससे भी ज्यादा तेज़ी से और मिलकर वह कांग्रेस की बुनियादी नीति के पक्ष में है कि नये विधान से लड़ा जाय और उसका खात्मा किया जाय। पदग्रहण हमारी आज़ादी की लड़ाई का एक पहलू हो सकता है; लेकिन हमारा मुख्य ध्येय तो विधान का खात्मा करना और एक राष्ट्रीय पंचायत क़ायम करना है। वह ध्येय आज भी वैसा ही है जैसा कल था। पद-ग्रहण का रत्तीभर भी यह मतलब नहीं है कि 'गुलाम' विधान को स्वीकार कर लिया गया। उसका तो अर्थ है असेम्बलियों और कौंसिलों के भीतर और बाहर अपनी ताक़त के सब साधनों से आनेवाले फेडरेशन के खिलाफ़ लड़ाई लड़ना।

इन्हीं सब बातों पर कार्यसमिति के प्रस्ताव ने ज़ोर दिया है और इस बात को फिर साफ़ कर दिया है कि साम्राज्यवाद के साझीदार हम नहीं हो सकते, न उसे मदद ही दे सकते हैं। हमारे और ब्रिटिश-साम्राज्य के बीच की खाई पाटी नहीं जा सकती। हमारे दृष्टिकोण और ध्येय एकदम भिन्न हैं। इस तरह विधान को साधारणतया चलाने के विचार से हम असेम्बलियों में नहीं जाते, न पद स्वीकार करते हैं। यह तो फेडरेशन को फलीभूत होने से रोकने के लिए कोशिश करना है और उससे विधान को असफल बनाना और राष्ट्रीय पंचायत और आज़ादी के लिए ज़मीन तैयार करना है। यह सब जनता को मज़बूत बनाने के लिए है और विधान के तंग घेरे में, जहां कहीं मुमकिन हो, उसे सहायता देने के लिए है। हरेक कांग्रेसी को ये बातें ध्यान में रखनी चाहिएं।

: ६ :

ब्रिटेन और हिन्दुस्तान[१]

आप कहते हैं कि "ब्रिटेन पुराने साम्राज्यवाद को छोड़ता जारहा है। और अब उसका सक्रिय सम्वन्ध तो उस अराजकता को रोकने का रास्ता निकालना है जो विश्वव्यापी राष्ट्रीय आत्म-निर्णय से फैल जाती है और जिससे नई-नई लड़ाइयाँ उठ खड़ी होती हैं या साम्राज्यवाद के वारे में जिससे नई-नई वातें फैल जाती हैं।" मुझे तो कहीं भी दिखाई नहीं देता कि ब्रिटेन ऐसा कुछ भी कर रहा है। और न मुझे यही दिखाई देता है कि पुराना साम्राज्यवाद खत्म हो रहा है। हाँ, उसे क़ायम रखने, मजबूत वनाने की जी-जान से वार-वार कोशिश की जा रही है, हालाँकि कहीं- कहीं पर जनता को दिखाने के लिए वातें कुछ और ही रक्खी गई हैं। ब्रिटेन निश्चय ही नई-नई लड़ाइयाँ सिर नहीं लेना चाहता। वह तो एक सन्तुष्ट और अघाई हुई सत्ता है। इसलिए जो कुछ उसके पास है, उसे वह खतरे में क्यों डाले ? वह तो अपनी मौजूदा हालत को ही क़ायम रखना चाहता है, जो कि खास तौर से उसीके फायदे के लिए है। नये साम्राज्यवादों को वह पसन्द नहीं करता; इसलिए नहीं कि साम्राज्य वाद उसे नापसन्द है; वल्कि इसलिए कि वे उसके पुराने साम्राजवाद के संघर्ष में आते हैं।

आप हिन्दुस्तान के 'वैधानिक मार्ग' के वारे में भी कहते हैं। लेकिन यह 'वैधानिक मार्ग' है क्या ? मैं समझ सकता हूँ ऐसी जगह जहाँ प्रजातन्त्रीय विधान होता है, वैधानिक कार्रवाइयाँ हो सकती हैं; लेकिन जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वैधानिक तरीकों का कोई अर्थ

१. जनवरी १९३६ में वेडनवीलर में मिले एक अंग्रेज मित्र के खत के उत्तर में।

नहीं होता। 'वैधानिक' शब्द का मतलब तब सिर्फ़ 'क़ानूनी' होता है और 'क़ानूनी' का मतलब होता है कि एक स्वेच्छाचारी कार्यकारिणी की 'मर्ज़ी के मुताबिक'—जो क़ानून बना सकती है और बिना लोकमत का खयाल किये आज्ञा-पत्र और आर्डिनेन्स जारी कर सकती है। आज जर्मनी या इटली में वैधानिक तरीक़ा क्या है ? उन्नीसवीं या बीसवीं सदी के शुरू के या अबके हिन्दुस्तान में वैधानिक तरीका क्या है ? किसी वैधानिक तंत्र में, जिसपर हिन्दुस्तानी ज्यादा-से-ज्यादा असर डाल सकें, हिन्दुस्तान में, कोई तब्दीली होने की सम्भावना नहीं थी। (अब भी नहीं है।) हिन्दुस्तानियों के सामने तो बस दो ही रास्ते हैं। या तो वे प्रार्थना करें और नहीं तो विद्रोह करें। ज्यादा-से-ज्यादा हिन्दुस्तानी अपने मत को प्रभावशाली नहीं बना सकते, इसीसे यह ज़ाहिर है कि वैधानिक मार्ग उनके लिए खुला हुआ नहीं है। वे या तो उस चीज़ को स्वीकार करें जिसे वे बेहद नापसन्द करते हैं, या तथाकथित वैधानिक तरीके के अलावा और कोई तरीका इख्तियार करें। ये तरीके खास परिस्थितियों में ठीक हों या नहीं; लेकिन उनके वैधानिक या अवैधानिक होने का सवाल तो नहीं उठता।

मेरा खयाल है, हममें से बहुत-से अपने खास राष्ट्रीय पक्षपात को नहीं छोड़ सकते और अपनी आँख के शहतीर को अक्सर दरगुज़र कर देते हैं। मैं महसूस करता हूँ कि मैं भी पक्षपात किये बिना नहीं रह सकता; खास तौर से जब कि मैं ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्धों पर विचार करता हूँ। उसके लिए आप माफ़ करेंगे। मैं यह कहूँ कि मुझे सबसे ज्यादा ताज्जुब होता है कि अंग्रेज किस तरह अपने भौतिक हितों के पीछे अपना नैतिक जोश लगा देते हैं और किस तरह उस अकाट्य मान्यता को लेकर चलते हैं कि वे हमेशा से दुनिया की भलाई ही कर रहे हैं, मुसीबत, लड़ाई, कठिनाई तो दूसरों की हठ और बददिमाग़ी की वजह से पैदा होती है। यह मान्यता, जैसा आप जानते हैं, सबको मान्य नहीं है और यूरप, अमरीका और एशिया में तो इस बात पर हँसी-मज़ाक़ की टिप्पणियाँ भी होती हैं। हिन्दुस्तान में अगर हम उसे खास

तौर से अंग्रेज़ी राज्य के अपने पिछले और मौजूदा तजुरबों से एकदम अस्वीकार करते हैं तो क्षमा मिलनी ही चाहिए। हिन्दुस्तान में जो कुछ हुआ है, और हो रहा है, उसे देखते हुए प्रजातंत्र और विधानवाद की बात करना मुझे उन युद्धों के महत्व को ही तोड़ना-मरोड़ना मालूम होता है। राज्य करने वाली ताक़तें या जमातें अपनी ख़ुशी से ही राज्य छोड़ कर चली गई हों, ऐसा इतिहास में कहीं नहीं मिलता। और अगर इतिहास का ही सबक़ काफ़ी नहीं है तो हिन्दुस्तान में सच्चे मामलों के आधार पर हमें काफ़ी तजुरबा है।

मैं जानता हूँ कि यह ठीक है कि ब्रिटिश शासक-वर्ग में कुछ हद तक अपने को मुनासिब बातों के अनुकूल बना लेने की भावना है; लेकिन जब उनकी सत्ता की बुनियाद को ही चुनौती दी जाती है, तब इस दिखावटी भावना के लिए गुंजाइश कम रह जाती है। अगर कोई यह सोचता है कि ब्रिटिश-सरकार या पार्लमेण्ट हिन्दुस्तान की आज़ादी के ट्रस्टी हैं और वे उसीकी तरक्की के लिए राज्य कर रहे हैं तो यह बात मुझे सबसे ज्यादा फ़रेब की मालूम होती है। मुझे यकीन है बहुतसे अंग्रेज़ ऐसे हैं जो हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों के साथ हमदर्दी महसूस करते हैं; लेकिन नीति-निर्माण में उनका हाथ बिलकुल नहीं रहता और वे लोग भी, या उनमें से अधिकतर, सोचते हैं कि हिन्दुस्तान की आज़ादी ऐसी हो जो अंग्रेजों की इच्छाओं और हितों से मेल खा सके। हमसे कहा गया है कि हमें आज़ादी और ज़िम्मेदारी तब मिलेगी जब हम अपनेको उसके लायक़ साबित करेंगे। इसकी परख यह है कि कहाँतक हम ब्रिटिश-योजना में ठीक बैठ सकते हैं। ऐसी हालत में कोई भी महसूस करेगा कि वह इंग्लैण्ड के हमारे सलाहकारों और शुभचिन्तकों को यह राय दे कि वे ईसप की कहानियों की जानकारी फिर से ताजा करें और ख़ास तौर से भेड़िये और मेमने की कहानी दोबारा पढ़ें।

यह बिलकुल ठीक है कि और-और बहुत-सी चीज़ों की तरह राजनीति में भी हम कोरी स्लेट लेकर काम नहीं कर सकते। और यह भी ठीक है कि ज़िन्दगी अक्सर बड़ी जटिल होती है। आदमी की दलीलों से

काम नहीं चलता। चीज़ों को जैसी वे हैं, वैसी ही हमें स्वीकार करना पड़ता है, चाहे हम उन्हें पसन्द करें या न करें, और अपने आदर्शों का उनमें मेल बैठाना होता है. लेकिन जाना हमें सही दिशा में चाहिए। आपके कहे अनुसार इसका मतलब है सबसे पहले हिन्दुस्तान की एकता कायम रखना, तब साम्प्रदायिकता का बहिष्कार करना, स्थापित स्वार्थों पर कब्ज़ा और धीरे-धीरे उनका खात्मा करना, आदमियों की रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करना, एक हिन्दुस्तानी फौज तैयार करना और हिन्दुस्तान के नौजवानों को रचनात्मक व्यावहारिक काम की शिक्षा देना, जो एक प्रजातन्त्रीय राज्य में ज़रूरी होता है। इन सबके पीछे समाजवादी आदर्श है। आम व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वे सहरी प्रवृत्तियाँ और आदतें और बढ़ें जो उस आदर्श को सच्चे तौर पर पूरा करने के लिए ज़रूरी है। मेरे अन्दाज़ से हममें से बहुत-से इस कथन पर, जहाँतक उसका फैलाव है, एकराय होंगे, चाहे हम उसे दूसरे शब्दों में रखें और कुछ उसमें जोड़ दें और कुछ बातों पर दूसरी बातों की बनिस्बत ज्यादा ज़ोर दें। मैं आपके साथ यह भी मानता हूँ कि राजनैतिक पहलू पहले आते हैं, वास्तव में उस पहलू के बिना दूसरा और कोई पहलू मुमकिन नहीं है, सामाजिक तब्दीलियाँ (चाहे उस राजनैतिक पहलू के साथ ही) आवें या फ़ौरन ही बाद में। जहाँतक मेरा सम्बन्ध है मैं राजनैतिक प्रजातन्त्र को ही स्वीकार करने के लिए पूरी तौर से तैयार हूँ। उम्मीद यह करूँगा कि उससे सामाजिक प्रजातन्त्र हो ही जायगा। राजनैतिक प्रजातन्त्र तो उस लक्ष्य का सिर्फ एक रास्ता है, आखिरी ध्येय वह नहीं है। उसकी सच्ची माँग तो कभी-कभी अनजाने ही आर्थिक तब्दीलियों की चाह से पैदा होती है। अगर ये तब्दीलियाँ फौरन ही नहीं होतीं तो राजनैतिक ढाँचा स्थायी नहीं होता। मैं यह सोचता हूँ कि हिन्दुस्तान की आज जैसी हालत है, उसमें आर्थिक तब्दीली होना बहुत ज़रूरी होगया है। इसलिए अगर कोई बड़ी राजनैतिक तब्दीली होती है तो ज़रूरी तौर पर उसके साथ खास आर्थिक तब्दीलियाँ भी होंगी। हर हालत में राजनैतिक तब्दीली ऐसी होनी चाहिए कि वह सामाजिक तब्दीलियों के

लिए सहूलियतें पैदा करदे। अगर राजनैतिक तब्दीली उसके रास्ते में रोड़ा अटकाती है, तो वह माक़ूल तब्दीली नहीं है, और न वह ऐसी ही है कि उसे किया जाय।

मैं नहीं जानता कि ऐसा कोई ज़िम्मेदार हिन्दुस्तानी है जो हिन्दुस्तान की एकता की परिभाषा में न सोचकर दूसरी परिभाषा में सोचता है। हमारे राजनैतिक धर्म की वह ज़रूरी आयत है। और हम जो-कुछ भी करते हैं, उसका लक्ष्य वही होता है। मैं मानता हूँ वह एकता संघीय एकता होगी; लेकिन उससे नये क़ानून—फेडरेशन—जैसी किसी चीज़ से मतलब नहीं है। वह एकता सामान्य जुए के नीचे की ग़ुलामी की भी एकता नहीं है। यह मुमकिन है कि गड़बड़ी के काल में नाइत्तिफ़ाक़ी पैदा होजाय और हिन्दुस्तान में जुदा-जुदा रियासतें क़ायम हो जायँ; लेकिन यह खतरा मुझे बहुत ही अवास्तविक दिखाई देता है। सारे मुल्क में एकता की ओर प्रवृत्ति बहुत ज्यादा है।

आपके कहने के मुताबिक़ फूट के कारण हैं मज़हब, श्रेणी और भाषा। श्रेणी की अहमियत मुझे कुछ भी नहीं दिखाई देती। हिन्दुस्तान में श्रेणी तो मज़हब के साथ जुड़ गई है और कुछ-कुछ उसने जाति की शक्ल अख़्तियार कर ली है। हिन्दू और मुसलमान जुदा-जुदा श्रेणियाँ नहीं हैं, वे ज़रूरी तौर पर श्रेणियों का एकीकरण है। इस तरह, हालाँकि बहुत-सी श्रेणियाँ हैं; लेकिन वे सब एक-दूसरे में मिल जाती हैं और सब मिलाकर उनसे जातीय और सांस्कृतिक रूप में एक निश्चित इकाई बन जाती है।

हिन्दुस्तान की तथाकथित सैकड़ों भाषायें हमारे आलोचकों के लिए एक प्रिय विषय हैं। वे उनमें से किसी-किसी को थोड़ा-बहुत जानते हैं। असल में हिन्दुस्तान भाषाओं के हिसाब से बड़ी अच्छी तरह गुँथा हुआ है। यह तो सार्वजनिक शिक्षा न होने की वजह से वहाँ बहुत-सी बोलियाँ चल पड़ी हैं। कुछ थोड़े हिस्सों को छोड़कर मुल्क भर में दस बड़ी भाषायें हैं। वे दो ग्रुपों में आ जाती हैं—इंडो-आर्य और द्रविड—और इन दोनों के बीच सामान्य भाषा है संस्कृत। इंडो-आर्य भाषाओं में

गे, मै समझता हूँ, शायद आप जानते है कि हिन्दुस्तानी सब अपनी और भाषाओं के १२,००,००,००० व्यक्तियों की भाषा है। वह और फैल रही है। दूसरी इंडो-आर्य भाषायें—बंगाली, गुजराती और मराठी उसमे बहुत मिलती-जुलती है। मुझे यकीन है कि हिन्दुस्तान की एकता के लिए और-और चाहे जितनी कठिनाइयाँ पेश आवें; लेकिन भाषा के सवाल मे कभी कोई बडी मुश्किल पैदा नही होगी।

आप हिन्दुस्तान की मजहबी हालत का यूरप के पुनरुद्धार और धार्मिक-सुधार के जमाने से मुकाबिला करते हैं। यह ठीक है कि हिन्दुस्तानियों की एक सुनिश्चित धार्मिक दृष्टि है, जिसका मध्य-काल के यूरप की दृष्टि से मुकाबिला किया जा सकता है। फिर भी आपका मुकाबिला सतह से नीचे नही जाता। हिन्दुस्तान के अपने लम्बे इतिहास में कभी इतनी मजहबी लडाई नही हुई जितनी कि यूरप में हुई और जिसने यूरप का खून चूसा। हिन्दुस्तान के धर्म, संस्कृति और दर्शन सबके पीछे सहनशीलता है; दूसरे धर्मों तक को वे प्रोत्साहन देते हैं। जब इस्लाम आया तो कुछ झगड़ा उठ खडा हुआ; लेकिन वह भी मजहबी होने की बनिस्बत कही ज्यादा राजनैतिक था, हालांकि जोर मजहबी पहलू पर ही हमेशा दिया गया है। वह शासक और शासित का झगडा था। हाल की ये सब बातें हो जाने पर भी मुझे हिन्दुस्तान मे किसी खास पैमाने पर मजहबी लड़ाई आसानी से नही दिखाई देती। आज की साम्प्रदायिकता तो जरूरी तौर पर राजनैतिक, आर्थिक और मध्य-वर्गीय है। मै खयाल करता हूँ (लेकिन ऐसा मै बिना निजी जानकारी के कहता हूँ) कि आज अल्स्टर में मजहबी कट्टरता जितनी गहरी फैली हुई है, उतनी गहरी हिन्दुस्तान मे कही नहीं है। यह एक सचाई है जिसे किसीको कभी नही भूलना चाहिए कि हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिकता बाद की चीज है और उसका फैलाव हमारी आँखों के सामने हुआ है। इससे उसकी अहमियत कम नही हो जाती और न उसको हम दरगुजर ही कर सकते हैं; क्योंकि मौजूदा वक्त में वह हमारे रास्ते में बहुत बड़ी रुकावट है और उसमे हमारी आगामी तरक्की में विघ्न पडने की संभावना है। फिर भी

मेरा ख़याल है उसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया है और जोर भी उस-पर ज़रूरत से ज्यादा दिया गया है। ज़रूरी तौर पर उसका जनता पर कोई असर नहीं पड़ता, हालांकि कभी-कभी जनता में जोश भड़क उठता है। सामाजिक मसलों के आगे आने से वह पीछे पड़ जायगी। कट्टर सम्प्रदायवादियों की साम्प्रदायिक माँगों की जाँच करने से आपको पता चलेगा कि उन माँगों में से एक का भी ताल्लुक़ जनता से नहीं है। सब दलों के ये साम्प्रदायवादी नेता भी सामाजिक और आर्थिक सवालों से बहुत घबराते हैं और यह एक दिलचस्पी की बात है कि सामाजिक तरक्क़ी का विरोध करने में वे मदद देते हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य ने ज़रूर ही राजनैतिक एकता क़ायम करने में मदद दी है। सबके गुलाम होने से यह जरूरी था कि सबमें ही उससे छुटकारा पाने की चाह हो। यह याद रखना चाहिए---वह ऐसी बात है जिसे अभी काफ़ी महसूस नहीं किया गया---कि तमाम इतिहास में हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता रखने की भावना रही है। और आमदरफ्त की मौजूदा हालतों में राजनैतिक एकता की इच्छा का बढ़ना लाज़िमी था। सारे ब्रिटिश काल में सरकार की, कुछ जानबूझकर और कुछ अनजान में, यह कोशिश रही है कि इस एकता के रास्ते में रोड़े अटकाये जायँ। यही उससे उम्मीद भी की जा सकती थी; क्योंकि तमाम साम्राज्यों और शासकवर्गों की हमेशा ऐसी ही नीति रही है। उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान में जो बड़े-बड़े अफसरों ने अपनी रायें ज़ाहिर की हैं, वे पढ़ने में बड़ी दिलचस्प हैं। उस समय यह समस्या ज्यादा ध्यान देने लायक़ नहीं थी; लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के बढ़ने से, और खास तौर से पिछले तीस बरसों में, वह बड़ी विकट होगई। ब्रिटिश-सरकार पर तो उसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि फ़िरक़ों को पैदा करने और अगर संभव हो तो उन्हें पुष्ट करने के नये-नये तरीक़े निकाले जायँ। साफ़ तौर से कोई नहीं कह सकता कि हिन्दुस्तान में फ़िरकेबंदी पैदा करने की आन्तरिक प्रवृत्ति नहीं थी और राजनैतिक ताक़त के पाने की उम्मीदों से तो उसके और भी बढ़ने की आशा थी। यह मुमकिन था

कि उस प्रवृत्ति को [illegible]
की जाय। यह भी [illegible]
पर सरकार ने दूसरी नीति को [illegible] किया है [illegible]
फूट डालनेवाली प्रवृत्ति को [illegible] दिया है। [illegible]
लिए भी यह मुमकिन नहीं है कि वह लोगों की [illegible]
रोक दे; लेकिन वे उनके रास्ते में रोक लगा सकते हैं, रोड़े अटका
सकते हैं, और ऐसा उन्होंने किया भी है। इन सबमें [illegible] और
सबसे अहम 'नया क़ानून' है। आप इस क़ानून की [illegible] करते हैं
क्योंकि हिन्दुस्तानी एकता की वह अवमानना है। [illegible] से वह इसके
बिलकुल उलटा है। यह तो ज्यादा फूट फैलने की गुंजाइश है। ([illegible]
उसे रोका नहीं गया)। यह हिन्दुस्तान को मज़हबी तथा दूसरे बहुत-से
हिस्सों में बाँटता है। बहुत-से हिस्से को वह सामन्ती इलाक़ा बनाये रखता
है, जिसे कोई हाथ भी नहीं लगा सकता; लेकिन वह दूसरे हिस्सों पर
अपना असर डाल सकता है और सामाजिक और आर्थिक मसलों पर,
जिन्हें आप "आज के हिन्दुस्तान की सबसे अहम और टाली न जानेवाली
जरूरत" मानते हैं, बने मजबूत राजनैतिक दलों की भी तरक्की को
वह रोकता है।

सामाजिक मसलों पर भी अंग्रेज़ी सरकार की वैसी ही नीति है। समाजवाद को किसी भी रूप में अपनाना या स्थापित स्वार्थों पर कब्ज़ा करना या उन्हें महरूम करना तो दूर रहा, जानबूझकर उसने बहुत-से स्थापित स्वार्थों को बचाया है, नयों को पैदा किया है और जरूरी तौर पर हिन्दुस्तान में राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रतिगामियों की तरफ़दारी की है। फिर नया क़ानून तो इस नीति की पराकाष्ठा है। सबसे पहले कभी भी इन स्थापित स्वार्थों और अज्ञानियों और प्रतिक्रिया-वादियों को इतनी ताक़त नहीं मिली थी जितनी कि नये संघीय हिन्दुस्तान में उन्हें मिलेगी। आपके लिखे अनुसार उस सामाजिक तरक्की का, जो हमारा लक्ष्य होना चाहिए, यह नया क़ानून हिन्दुस्तान के तथा बाहरी स्थापित स्वार्थों को बचा के और उनकी मदद करके [illegible]

दरवाज़ा बन्द करता है। मामूली सामाजिक सुधार भी पहुँच के बाहर हैं, क्योंकि राज्य के आमदनी करने के सारे ज़रिये स्थापित स्वार्थों के पोषण के लिए रहन हो गये हैं और विशेषाधिकारों के अन्तर्गत हो गये हैं।

आज हरेक मुल्क को प्रतिक्रिया की ताक़तों और बुराई के ख़िलाफ़ भारी लड़ाई लड़नी पड़ती है। हिन्दुस्तान भी उससे बाहर नहीं है। स्थिति की दुखभरी बात तो यह है कि अंग्रेज़ अनजाने आज अपनी पार्लमेण्ट और अफ़सरों के ज़रिये हिन्दुस्तान में एकदम बुराई की ही तरफ़दारी करते हैं। जिस चीज़ को वे अपने मुल्क में थोड़ी देर के लिए भी बर्दाश्त नहीं कर सकते, उसे हिन्दुस्तान में प्रोत्साहन देते हैं। आप अब्राहम लिंकन का बड़ा नाम लेते हैं और यूनियन को जो उसने अहमियत दी थी उसकी याद मुझे दिलाते हैं। मेरे ख़याल में आप सोचते हैं कि ब्रिटिश-सरकार का काँग्रेस के आन्दोलन को दमन करने की कोशिश में यही ऊँचा उद्देश्य रहा था कि फूट डालनेवाली स्थितियों के होते हुए भी हिन्दुस्तान की एकता को क़ायम रक्खे। मुझे तो दिखाई नहीं देता कि किस तरह उस आन्दोलन से हिन्दुस्तान की एकता के भंग होने का डर था। वास्तव में मेरा तो ख़याल है कि सिर्फ़ यह या ऐसा ही कोई आन्दोलन मुल्क में अंगांगी-एकता पैदा कर सकता है। अंग्रेज़ी सरकार की कार्रवाइयाँ तो हमें दूसरी तरफ़ ढकेलती हैं इसके अलावा क्या आप यह नहीं सोचते कि लिंकन का साम्राज्यवादी ताक़त के अपने शासित मुल्क के आज़ादी के आन्दोलन के दमन करने की कोशिश से मुक़ाबिला करना बहुत दूर की बात है?

आप चाहते हैं लोगों की बुरी और ख़ुदगरज़ी की आदतें और भावनायें दूर हों। क्या आप सोचते हैं कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में इस दिशा में कुछ भी मदद कर रहे हैं? प्रतिगामियों को जो मदद दी गई है उसके अलावा, अंग्रेज़ी राज्य के आधार पर विचार करना ज़रूरी है। उसका आधार बड़ी-चढ़ी और चारों ओर फैली हिंसा पर है और डर उसका प्रधान कारण है। एक राष्ट्र की तरक्क़ी के लिए जो आज़ादी ज़रूरी

समझी जाती है, उसीका यह सरकार दमन करती है। निडर, बहादुर और काबिल आदमियों को वह कुचलती है और डरपोक, अवसरवादी, दुनियासाज, बुजदिल और दगाबाजों को आगे बढ़ाती है। उसके चारों तरफ खुफिया पुलिस, खबर देनेवाले और भड़कानेवाले आदमियों की फौज रहती है। क्या यह ऐसा वायुमण्डल है जिसमें अच्छे-अच्छे गुणों या प्रजातन्त्रीय संस्थाओं की तरक्की हो?

आप मुझसे पूछते हैं कि क्या कांग्रेस कभी बहुमत से तमाम हिन्दुस्तान के लिए असली तौर पर सम्प्रदायवादियों, देशी नरेशों और सम्पत्ति के लिए गुरुमी रियायतें देने के अलावा कोई उदार विधान कायम कर सकती थी? इससे यह मतलब निकलता है कि मौजूदा कानून रजामंदी से लिबरल विधान कायम करता है। अगर इस विधान को उदार कहा जा सकता है तो मेरे लिए यह समझना मुश्किल है कि अनुदार विधान फिर कैसा होगा। और बहुमत का जहाँतक सवाल है, मुझे सन्देह है कि जो कुछ अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तान में किया है उसके लिए कभी इतनी नाराजगी और नापसन्दगी दिखाई गई हो जितनी कि इस नये कानून के लिए दिखाई गई है। जरूरी रजामंदी लेने के लिए तमाम मुल्क में खूंखार दमन हुआ है और अब भी नये कानून को चालू करने के लिए अखिल भारतीय और प्रांतीय कानून पास किये गये हैं, जो हर तरह की नागरिक आजादी का दमन करते हैं। ऐसी हालतों में बहुमत की बात करना बड़ा अजीब-सा लगता है। इस बारे में इग्लैण्ड में बड़ी गलतफहमी फैली हुई है। अगर समस्या का मुकाबिला करना है, तो बड़ी-बड़ी बातों को दरगुजर नहीं किया जा सकता।

यह सच है कि सरकार ने देशी नरेशों और कुछ अल्पसंख्यक दलों के साथ कुछ समझौता करलिया है, लेकिन ये दल भी, कुछ हद तक, अपने प्रतिनिधित्व के बारे में कुछ मामूली समझौतों को छोड़कर, बेहद असंतुष्ट हैं। मुख्य अल्पसंख्यक मुसलमानों को ही लीजिए। कोई नहीं कह सकता कि गोलमेज कांफ्रेन्स के रईस, अर्ध-सामन्त, और दूसरे चुने मेम्बर मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। आपको यह जानकर ताज्जुब

होगा कि कांग्रेस के पीछे अब भी मुसलमानों की काफ़ी ताक़त है।

क्या कांग्रेस इससे और अच्छा कर सकती थी ? मुझे सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आन्दोलन, जिसकी कि कांग्रेस प्रतीक है और ख़ास निशान-बरदार है, इससे और अच्छा कुछ कर सकता था। कांग्रेस फिर भी मध्य-श्रेणी का संगठन है (मेरी इच्छा है कि वह और समाजवादी होती) इसलिए सम्पत्ति की योग्यता का सवाल इस अवस्था में तीक्ष्ण रूप से नहीं उठ सकता था। मैं समझता हूँ कि कम-से-कम बहुमत से साम्प्रदायिक सवाल का सामना करना पड़ता और कुछ वक्त के लिए उस सवाल को सुलझा लेना पड़ता। मुमकिन था कि थोड़ी-सी साम्प्रदायिकता फिर भी शुरू-शुरू में रह जाती, लेकिन नये क़ानून में जितनी साम्प्रदायिकता पाई जाती है उससे तो कम ही होती। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जल्दी-से-जल्दी साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए और सामाजिक आधार पर उन्नति करने के लिए स्थितियां पैदा की जातीं और धरती-सम्बन्धी समस्या का भी हल निकाला जाता। असली मुश्किलें तो दो होतीं : अंग्रेज़ी सरकार के स्थापित स्वार्थ व लन्दन शहर और देशी नरेश। असल मुश्किल तो पहली है। बाक़ी सब तो बिलकुल मामूली हैं। ऐसी हालतों में देशी नरेश बहुत हदतक नई परिस्थिति के मुताबिक अपनेको बना लेते और कांग्रेस, जैसी कि आज उसकी रचना है, उन्हें कहीं ज्यादा आज़ादी दे देती। उनकी प्रजा और जनमत का दबाव बहुत ज्यादा होता और उसका मुक़ाबला वे न कर पाते। मुमकिन है कुछ अस्थायी समझौता हो जाता, जिससे जनमत को अपना काम करने और सुधार की रूप-रेखा बनाने का मौका मिल जाता। अंग्रेज़ी सरकार देशी नरेशों की अक्षुण्ण स्वेच्छाचारिता की मदद नहीं करती तो निस्संदेह देशी राज्य धीरे-धीरे सीधे रास्ते पर आजाते। घरेलू लड़ाई का सवाल उठाने की ज़रूरत ही न होती।

जो मैं चाहता हूँ, उससे यह बहुत दूर ही होता; लेकिन कम-से-कम वह एक ठीक दिशा में निश्चित राजनैतिक और जनतंत्रीय कदम होता। जब विधान या राजनैतिक ढांचा बनाया जाता है तो उससे

सम्बन्धित सबको राजी कर लेना स्पष्ट रूप से नामुमकिन होता है। अधिक-से-अधिक लोगों को राजी करने की कोशिश की जाती है; और बाक़ी जो रजामन्द नहीं होते, वे या तो जनतन्त्रीय कार्य-पद्धति के मुताबिक़ उसमें आ मिलते हैं या दवाव और ज़ोर से उनसे वैसा कराया जाता है। अंग्रेज़ी सरकार ने स्वेच्छाचारिता और अधिकारपरम्परा का प्रतिनिधित्व करके और मुख्यत अपने ही फ़ायदों की रक्षा करने पर कमर कसके देशी नरेशों और कुछ प्रतिगामी लोगों की रजामन्दी पाने की कोशिश की और बहुत-से लोगों को दबाया। कांग्रेस की कार्य-प्रणाली निश्चय ही इससे भिन्न होगी।

ये सब हवाई बातें हैं, तथ्य इनमें कुछ नहीं है; क्योंकि इसमें एक खास साधन ब्रिटिश सरकार को भुला दिया जाता है।

एक और विचार है जो ध्यान देने योग्य है। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अहिंसा पर ज़ोर दिया है। उसने इस बात पर भी ज़ोर दिया है कि दुश्मन को दबाने के बजाय उसका हृदयपरिवर्तन होना चाहिए। इस सिद्धान्त के आदर्शवादी पहलुओं को और अंतिम अर्थों में, वह क्रियात्मक है या नहीं, इसको छोड़कर, इसमें सन्देह नहीं कि उससे घरेलू झगड़ों के ख़िलाफ़ एक दृढ़ भावना पैदा हुई और हिन्दुस्तान के जुदा-जुदा दलों को जीतने की कोशिश की गई। हिन्दुस्तान में एकता रखने और विरोध को दवाने में यह भावना हमारे लिए एक बड़ी क़ीमती चीज़ है।

लोगों में चर्चा है कि असहयोग और सविनय-क़ानून-भंग आन्दोलन वैधानिक कार्रवाइयाँ थीं या नहीं। मैं आपके सामने निवेदन करूँ कि उन्होंने मेरे ऊपर कैसा असर डाला है? इन आन्दोलनों ने अंग्रेज़ी सरकार के ऊपर बेहद ज़ोर डाला है और सरकार की मशीनरी को हिला दिया है; लेकिन मेरे ख़याल में उसकी असली अहमियत तो इस बात में है कि उसने हमारे ही आदमियों के ऊपर, खास तौर से देहाती जनता पर, कैसा असर डाला है। ग़रीबी और लम्बे स्वेच्छाचारी राज्य और उससे पैदा हुए लाज़िमी दबाव और डर ने लोगों को हीन और ज़लील बना दिया था। एक सभ्य नागरिक में जिन गुणों की ज़रूरत होती है,

वे मुश्किल से उनमें मिल सकते थे। मामूली अफसरों ने, टैक्स कलक्टरों ने, पुलिसमैनों ने, जमींदारों के गुमाश्तों तक ने उन्हें मारा-पीटा, डाँट-डपट कर धमकाया। हिम्मत उनकी एकदम खत्म होगई थी और मिलकर काम करने या जुल्म का मुक़ाबला करने की ताक़त उनमें नहीं बची थी। वे बुज़दिलों की तरह दुबकते फिरते थे और एक-दूसरे की बुराई करते थे। और जब ज़िन्दगी मुहाल हो उठी तो उन्होंने उससे मौत में छुटकारा पाया। यह तमाम बड़ा संकटापन्न और शोकजनक था; लेकिन इसके लिए उन्हें दोषी कोई मुश्किल से ही ठहरा सकता था। वे तो सर्व-शक्तिमान परिस्थितियों के शिकार थे। गाँधीजी के असहयोग ने उन्हें इस दलदल में से बाहर खींचा और उनमें आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन पैदा किया। उनमें मिलकर काम करने की आदत पड़ी; हिम्मत से उन्होंने काम किया और नाजायज़ जुल्म के सामने वे आसानी से नहीं झुकने लगे; उनकी दृष्टि फैली और थोड़ा-बहुत वे सामूहिक रूप से हिन्दुस्तान के बारे में सोचने लगे। वे राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर (निस्सन्देह उलटे-पुलटे तौर पर) बाज़ारों और सभाओं में चर्चा करने लगे। निम्न मध्यम-वर्ग पर भी वही असर पड़ा; लेकिन जनता पर जो असर पड़ा, वह बहुत महत्वपूर्ण था। वह ज़बरदस्त परिवर्तन था। और इसका श्रेय गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस को है। वह विधानों या सरकारों के ढांचों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण था। सिर्फ इसी नींव पर ही मज़बूत इमारत या विधान खड़ा किया जा सकता था।

इस सबसे पता चलता था कि हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी में एक ग़ैबी हलचल मची थी। दूसरे मुल्कों में ऐसे मौक़ों पर अक्सर बहुत ज्यादा हिंसा और नफ़रत हो आती है; लेकिन हिन्दुस्तान में महात्मा गांधी की कृपा से अपेक्षाकृत कहीं कम हिंसा और नफ़रत हुई। लड़ाई के बहुत-से गुण हमने अपना लिये और उसकी खौफ़नाक बुराइयों को छोड़ दिया, और हिन्दुस्तान की असली मौलिक एकता इतनी पास आगई जितनी पहले कभी नहीं आई थी। मज़हबी और साम्प्रदायिक झगड़ों तक की आवाज़ दब गई। आप जानते हैं कि सबसे खास सवाल जो देहाती—

हिन्दुस्तान यानी हिन्दुस्तान के ८५ फीसदी हिस्से पर असर डालता है, वह जमीन का सवाल है; किसी भी दूसरे मुल्क में ऐसी हलचल और खूंखार आर्थिक संकट में किसानों का विद्रोह मच जाता। यह गैर-मामूली बात है कि हिन्दुस्तान उस सबसे बच गया। ऐसा सरकार के दमन की वजह से नहीं हुआ; बल्कि गांधीजी की शिक्षा और कांग्रेस के सन्देश के बदौलत हुआ।

इस तरह कांग्रेस ने मुल्क में सब जीवित शक्तियों को आज़ादी दी और बुराई और फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों का दमन किया। ऐसा उसने शांत, व्यवस्थित और सभ्य तरीके से किया, जहांतक कि उन परिस्थितियों में मुमकिन हो सकता था, हालांकि इस तरह जनता को आज़ादी देने में खतरा भी था। सरकार पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई? उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। सरकार ने उन जीवित और बहादुराना ताकतों को कुचलने की कोशिश की; तमाम बुरी और फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन दिया। यह सब उसने बड़े ही असभ्य ढंग से किया। पिछले छः सालों में सरकार बिलकुल फासिस्ट तरीकों पर चली है। फर्क सिर्फ इतना रहा है कि उसने खुले तौर से इस बात में गर्व नहीं दिखाया है, जैसा कि फासिस्ट मुल्क करते हैं।

पत्र बेहद लम्बा हो गया है और अब मैं नये वैधानिक कानून पर विस्तार से विचार नहीं करना चाहता। यह जरूरी भी नहीं है, क्योंकि हिन्दुस्तान में बहुत-से आदमियों ने उसका विश्लेषण किया है और उसकी आलोचना की है। उन सबके मत अलहदा-अलहदा होने पर भी सबने एकमत होकर इस नये कानून को एकदम नापसन्द किया है। अभी हाल ही में भारतीय लिबरलों के एक खास नेता ने नये विधान के बारे में खानगी में कहा था कि वह "हमारी तमाम राष्ट्रीय तमन्नाओं का तीव्र-से-तीव्र विरोध है"। यह कोई कम मार्के की बात नहीं है कि हमारे नरम दल के राजनीतिज्ञ भी ऐसा ही सोचते हैं। फिर भी आप, हिन्दुस्तान की तमन्नाओं के लिए बड़ी हमदर्दी रखते हुए, इस कानून को पसन्द करते हैं और कहते हैं कि "वह हिन्दुस्तानियों के हाथ में महान शक्ति

सोचता है।" क्या हमारे सोचने के तरीक़े इतने भिन्न हैं? ऐसा क्यों है? यह तो राजनैतिक या आर्थिक समस्या की बनिस्वत कहीं ज्यादा मनोवैज्ञानिक समस्या बन जाती है।

मनोवैज्ञानिक पहलू आखिर है भी बहुत महत्त्वपूर्ण। पिछले कुछ सालों में हिन्दुस्तान में क्या-क्या होगया है, क्या इंग्लैण्ड में इसे महसूस किया गया है? मानवीय गौरव और भद्रता को कुचलने की जिस तरह कोशिश की गई, उसकी छाप कितनी गहरी हिन्दुस्तानियों पर पड़ी है? शरीर से कहीं ज्यादा वह आत्मा की चोट थी। इतना अच्छी तरह मैंने पहले कभी महसूस नहीं किया था कि ताकत का जल्लादी इस्तैमाल ताकत का प्रयोग करनेवाले और उसे सहनेवाले दोनों को ज़लील बना देता है। जबतक हममें भद्रता और स्वाभिमान है, तबतक इसे हम कैसे भूलें? जुल्म जब रोजमर्रा होते हैं तो हम उन्हें कैसे आँख-ओझल करें? क्या यह आज़ादी की शुरुआत है और क्या यही महान् शक्ति का हिन्दुस्तानियों के हाथ में सौंपा जाना है?

लोगों में ज़ुल्म की अलहदा-अलहदा तरीक़ों से प्रतिक्रियायें होती हैं। कुछ तो छिन्न-भिन्न होजाते हैं; कुछ मज़बूत होजाते हैं। हिन्दुस्तान में भी और जगहों की तरह ये दोनों प्रतिक्रियायें मौजूद हैं। हममें से बहुत-से अपने साथियों को, जो जेल में या दूसरी तरह से दुःख उठाते हैं, नहीं छोड़ सकते, इसके लिए चाहे जो क्यों न भुगतना पड़े। हममें से बहुत-से गाँधीजी का अपमान सहन नहीं कर सकते, चाहे हम उनके विचारों से सहमत हों या न हों; क्योंकि हमारे लिए गांधी हिन्दुस्तान का गौरव हैं। उनके जैसा कोई भी आदमी लड़ाई और दुःख को पसन्द नहीं करता और न आफ़तों को। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने यथाशक्ति इस तरीक़े को छोड़ने की कोशिश की है, यद्यपि साथ ही उसकी मौजूदगी की बुनियाद को नहीं छोड़ा; लेकिन अंग्रेज़ी सरकार उसी रास्ते पर बढ़ती गई है और उसका अहिंसात्मक हल निकालना मुश्किल-से-मुश्किल बना दिया है। अगर सरकार सोचती है कि सिर्फ़ उसी दिशा में चले चलने से उसे कामयाबी मिल जायगी, तो मालूम होता है कि

उसने इतिहास और हिन्दुस्तानियों के मौजूदा स्वभाव को बड़े गलत तरीके से समझा है। अगर मुसीबत टालनी है तो अंग्रेज़ी सरकार को ज़रूर अपने कदम पीछे रखने होंगे।

: १० :

विद्यार्थी और राजनीति

आजकल हिन्दुस्तान की हालत बड़ी विचित्र होरही है और जो सवाल उठाये जाते हैं, वे हमें अचरज में डाल देते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि आज़ादी भारत के लिए बुरी साबित होगी और असल में आज़ादी न मिलना ही उसके लिए फायदेमंद होगा। ग़ैबी ताक़त मेरे पास नहीं है, इसलिए इन जटिल समस्याओं को समझने में मुझे कुछ कठिनाई होती है। एक और अजीब सवाल है, जो विद्यार्थियों और राजनीति से सम्बन्ध रखता है। कुछ लोग कहते हैं कि विद्यार्थियों को राजनीति में हर्गिज़ हिस्सा नहीं लेना चाहिए। राजनीति है क्या? भारत में (सरकारी भारत में) आमतौर से जो उसका मतलब लगाया जाता है, उसके अनुसार सरकार की मदद करना या उसका समर्थन करना राजनीति नहीं है; राजनीति तो भारत की मौजूदा सरकार की आलोचना करना या सरकार के ख़िलाफ़ काम करना है।

विद्यार्थी कौन हैं? प्राथमिक स्कूलों के बच्चों से लेकर कालेजों के नवयुवक और नवयुवतियों तक सब विद्यार्थी हैं। स्पष्टतः एक-से सिद्धान्त दोनों पर लागू नहीं हो सकते।

आज बहुत-से वयस्क विद्यार्थियों को आनेवाले प्रांतीय चुनावों में वोट देने का अधिकार है। वोट देना राजनीति में हिस्सा लेना है। समझबूझकर वोट देने के लिए ज़रूरी होता है कि राजनैतिक मसलों को समझा जाय, मसलों के समझने से अक्सर एक राजनैतिक नीति को भी मानना पड़ जाता है। नीति मानने पर नागरिक का कर्त्तव्य होजाता है कि उस नीति का प्रचार करे और दूसरों का मत बदलकर उन्हें उसपर चलावे। इस तरह वोटर ज़रूरी तौर पर राजनीतिज्ञ होना चाहिए। और अगर वह एक तेज नागरिक है तब तो उसे एक चतुर राजनीतिज्ञ

होना चाहिए। जिनमें राजनैतिक या सामाजिक भावनायें नहीं हैं वे ही निष्क्रिय, तटस्थ या उदासीन रह सकते हैं।

वोटर के इस कर्तव्य से जुदा भी हरेक विद्यार्थी को, अगर उसे ठीक-ठीक शिक्षा मिली है, जिन्दगी और उसके मसलों के लिए अपनेको तैयार करना चाहिए; नहीं तो उसकी शिक्षा पर की गई मेहनत बेकार होजायगी। राजनीति और अर्थशास्त्र ऐसे मसलों को सुलझाते हैं। इसलिए आदमी जबतक उन्हें नहीं समझता, तब तक उसे ठीक पढ़ा-लिखा नहीं कहा जा सकता। बहुतसे आदमियों के लिए शायद यह मुश्किल है कि जीवन के निविड़ वन में साफ-साफ रास्ता देखें। पर इससे क्या? चाहे हम उन मसलों का हल जानते हों, या न जानते हों, कम-से-कम हमें उसकी खासियत का अन्दाज तो होना ही चाहिए। जिन्दगी कौन-कौनसे सवाल हमसे करती है? जवाब इसका मुश्किल है, लेकिन अजीब बात तो यह है कि आदमी बिना सवालों को ठीक-ठीक समझे उनका जवाब देने की कोशिश करते हैं। ऐसा बेकार रुख कोई गंभीर या विचारवान विद्यार्थी नहीं ले सकता।

तरह-तरह के वाद जो आजकल की दुनिया में अपनी अहमियत रखते हैं—राष्ट्रवाद, उदारवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, फासिज्म वग़ैरा—से जुदा-जुदा दलों के इन्हीं जिन्दगी के सवालों के हल करने की कोशिशें हैं। इनमें कौनसा हल ठीक है? या वे सब गलती पर हैं? हर हालत में हमें अपना निर्णय करना है और निर्णय करने के लिए जरूरी है कि ठीक-ठीक निर्णय करने की हममें समझ हो और ताकत हो। विचारों और कार्यों की स्वतन्त्रता पर दबाव होने से ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। अगर विशाल सत्ता हमारे सिर पर बैठती है और हमें आजादी से सोचने से रोकती है, तब भी ऐसा नहीं किया जा सकता।

इस तरह सब विचारवान लोगों के लिए, खास तौर से और लोगों की बनिस्बत विद्यार्थियों के लिए, यह जरूरी हो जाता है कि वे राजनीति में पूरा-पूरा सैद्धान्तिक भाग लें। कुदरतन यह बात कम उमर के विद्यार्थियों की बनिस्बत, जिनके सामने जिन्दगी के मसले सपने में भी

नहीं हैं, बड़ी उमर के विद्यार्थियों पर ही लागू होगी जो ज़िन्दगी में पैर रख रहे हैं। लेकिन सैद्धान्तिक विचार ही ठीक तरह से समझने के लिए काफ़ी नहीं हैं। सिद्धान्त के लिए भी व्यवहार की जरूरत होती है। पढ़ाई के खयाल से ही विद्यार्थियों को चाहिए कि वे लेक्चर-हॉल को छोड़कर गाँवों, शहरों, खेत और कारखानों में जायँ और वहाँकी असलियत की जाँच करें और आदमियों के कामों में, जिनमें राजनैतिक काम भी शामिल हैं, कुछ हद तक हाथ बंटावें।

आमतौर से हरेक को अपने काम की हद बाँधनी होती है। विद्यार्थी का पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने दिमाग़ और जिस्म को शिक्षित करे और उन्हें विचार करने, समझने और काम करने के लिए तेज़ औज़ार बनाये। जबतक विद्यार्थी को शिक्षा नहीं मिलती, तबतक वह चतुराई के साथ न तो सोच सकता है और न काम कर सकता है। पर शिक्षा पवित्र सलाह पाकर ही नहीं मिल जाती। उसके लिए थोड़ा-बहुत काम में लगना पड़ता है। उस काम के लिए, मामूली हालतों में, सैद्धान्तिक शिक्षा मिलनी चाहिए; लेकिन काम को उड़ाया नहीं जा सकता, नहीं तो शिक्षा ही अधूरी रहेगी।

यह हमारी बदक़िस्मती है कि भारत में पढ़ाई का तरीक़ा एकदम नामौजूं है; लेकिन उससे भी बड़ी बदक़िस्मती उच्चाधिकार का वायुमण्डल है, जो उसको चारों ओर से घेर रहा है। अकेली शिक्षा में ही नहीं; बल्कि हिन्दुस्तान में हर जगह लाल पोशाक वाली दिखावटी और अक्सर खाली मग़ज़ वाली ताक़त आदमियों को अपने ही तरीक़े के ढांचे में ढालने की कोशिश करती है और दिमाग़ की तरक्क़ी और खयालात के फैलाव को रोकती है। हाल ही में हमने देखा है कि उस ताक़त ने खेल-कूद के राज्य में भी कितनी गड़बड़ कर डाली है और इंगलैंड में हमारी क्रिकेट-टीम को, जिसमें होशियार खिलाड़ी थे, उन नाजानकारों ने लँगड़ा कर दिया जिनका उसपर अधिकार था। क़ाबिल आदमियों का बलिदान किया गया, जिससे उस ताक़त की जीत हो। हमारी यूनीवर्सिटियों में यही ताकत की भावना फैली हुई है और व्यवस्था रखने के बहाने वह उन सबको कुचल

डालती है जो चुपचाप उसके हुक्म को नहीं मान लेते। वे ताकतें उन गुणों को पसंद नहीं करतीं जिन्हें आजाद मुल्कों में प्रोत्साहन दिया जाता है। वे साहस की भावना और आजाद जिस्मों में आत्मा के बहादुराना कामों को भी नहीं बर्दाश्त कर सकतीं। तब अगर हममें से ऐसे आदमी नहीं पैदा हो सकते जो ध्रुवों को या एवरेस्ट को जीतने की कोशिश करें, तत्वों को जीतकर आदमी के लिए फायदेमन्द बनावें, आदमी की नाजानकारी और डरपोकपन, सुस्ती और छुटाई को दूर करें और उसे ऊँचा बनाने की कोशिश करें, तो इसमें अचरज क्या है ?

क्या विद्यार्थियों को जरूर ही राजनीति में हिस्सा लेना चाहिए ? जिन्दगी में भी क्या वे हिस्सा लें—जिन्दगी की तरह-तरह की क्रियाओं में पूरा-पूरा हिस्सा ? या क्लर्क बने ऊपर से आये हुक्मों को बजाते रहें ? विद्यार्थी होते हुए वे राजनीति से बाहर नहीं रह सकते। भारतीय विद्यार्थियों को और भी राजनीति के सम्पर्क में रहना चाहिए। फिर भी यह सच है कि मामूली तौर से अपनी बढ़ोतरी के काल में दिमागी और जिस्मानी शिक्षा की ओर उनका विशेष ध्यान होना चाहिए। उन्हें कुछ नियमों का पालन करना चाहिए, लेकिन नियम ऐसे न हों कि उनके दिमाग को ही कुचल डालें और उनके जोश को ही खत्म करदें।

ऐसा मामूली तौर से हो, लेकिन जब मामूली कायदों को नहीं माना जाता तो गैर-मामूली हालतें पैदा हो जाती हैं। महायुद्ध में इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी के विद्यार्थी कहाँ थे ? अपने कॉलिजों में नहीं, बल्कि खाइयों में मौत का मुकाबिला कर रहे थे और मर रहे थे। आज स्पेन के विद्यार्थी कहाँ हैं ?

एक गुलाम मुल्क में कुछ हद तक गैर-मामूली हालतें होती हैं। भारत भी आज वैसा ही मुल्क है। इन हालतों का खयाल करते वक्त हमें अपनी परिस्थितियों और दुनिया की बढ़ती हुई गैर-मामूली हालतों का भी खयाल रखना चाहिए। और चूँकि हम उन्हें समझने की कोशिश करते हैं, इसलिए घटनाओं के निर्माण में, चाहे कितना ही थोड़ा क्यों न हो, हमें हिस्सा लेना पड़ता है।

१ अक्टूबर १९३६।

: ११ :

फ़ासिज़्म और साम्राज्य

'व्हाइट इंडिया कमेटी' ने किंग्सवे हॉल में जिस प्रदर्शन का आयोजन किया है, उसमें मैं खुशी के साथ शामिल होता हूँ। चाहे हम पड़ोस के यूरोप के दूसरे देशों में हों, चाहे दूर हिन्दुस्तान में, स्पेन और उसका दुःख-भरा नाटक, जो वहाँ खेला जा रहा है, हमारे मन पर चढ़ा हुआ है; क्योंकि यह नाटक और झगड़ा सिर्फ़ स्पेन का ही नहीं है, बल्कि तमाम दुनिया का है। हमारे इतना ख़याल करने का एक सबब और है। स्पेन में आख़िर में जो होगा, उसीपर हमारा भविष्य निर्भर करता है। बहुत-से आदमी जान गये हैं कि स्पेन की लड़ाई अब स्पेन की ही लड़ाई नहीं रही है, और न स्पेन के जुदा-जुदा दलों का वह घरेलू झगड़ा ही है। वह तो स्पेन की धरती पर यूरोपभर की लड़ाई है। और सही कहा जाय तो, वह बाहर से दो फ़ासिस्ट ताक़तों का और खुदग़रजों का स्पेन पर हमला है। इसलिए स्पेन में दो विरोधी ताक़तें—फ़ासिज्म और फ़ासिज्म-विरोधी—अपने-अपने प्रभुत्व के लिए लड़ रही हैं। और प्रजातन्त्र, जो यूरोप के बहुत-से देशों में कुचल दिया गया है, अपनी ज़िन्दगी के लिए जी-जान से लड़ रहा है।

एक तरफ़ इटली के फ़ासिज्म और जर्मनी के नाज़ीज्म हैं तथा दूसरी ओर स्पेन का प्रजातन्त्र। उन्हीं की यह लड़ाई है। यह बात तो बिलकुल साफ़ दिखाई देती है। और मेरा ख़याल है कि ज्यादातर अंग्रेज़ जो प्रजातन्त्र और आज़ादी के समर्थक हैं, वे स्पेन के आदमियों के साथ हमदर्दी रखते हैं। लेकिन इन्हीं आदमियों में से बहुत-से ऐसे हैं जो स्पेन के सम्बन्ध में ब्रिटिश-सरकार की नीति को शायद उतना साफ़-साफ़ नहीं समझते; लेकिन जब वे कुछ और आगे बढ़कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हिन्दुस्तान

के सम्बन्ध पर विचार करते हैं तो एकदम उलझन में पड़ जाते हैं।

स्पेन में हमें असली बात यह मालूम होती है कि फासिज्म और साम्राज्यवाद सहोदर हैं। साथ-साथ वे आगे बढ़ रहे हैं। उनके मुँह एक-दूसरे के खिलाफ हों तो क्या, और कभी-कभी उनमें आपस में झगड़ा भी हो पड़े तो क्या? अंग्रेज तो देखते हैं कि उनकी सरकार का प्रजातन्त्र-पहलू कम या ज्यादा घरेलू घेरे में काम करे और वे इसमें नतीजा निकालते हैं कि दूसरी जगहों पर भी उनकी सरकार का प्रजातन्त्रीय आधार है; लेकिन पिछले चार वर्षों की उसकी तमाम विदेशी नीति से पता चला है कि जो ताकतें उसे चला रही हैं, उनका प्रजातन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह नीति तो फासिस्ट ताकतों के ही बढ़ने में मदद देती है, हालाँकि जब-जब उन्होंने पाया है कि उससे ब्रिटिश-साम्राज्य के हितों को हानि पहुँचेगी, तब-तब उसे रोकने की उन्होंने बे-मन और निष्फल कोशिश की है। एबीसीनिया के साथ लज्जाजनक विश्वासघात, मध्य-यूरोप के षड्यन्त्र में और स्पेन में अ-हस्तक्षेप का प्रहसन, जिसमें फलतः फासिस्ट इटली ने खुले तौर से प्रतिज्ञा की कि वह स्पेन के आदमियों का संहार करने के लिए फौजें भेजता रहेगा,—यही सुदूर-पूर्व में ब्रिटिश-नीति की कथा है।

बहुत-से आदमी ब्रिटिश विदेशी नीति की इन असम्बद्धताओं और प्रतिकूलताओं को देखकर अचरज में भर जाते हैं; लेकिन असली असम्बद्धता कुछ नहीं है। असम्बद्धता तो उन लोगों के दिमागों में है जो यह सोचते हैं कि ब्रिटिश घरेलू नीति का प्रजातान्त्रिक रूप ही उसकी विदेशी नीति में भी काम करता है। या कभी उन विदेशी मन्त्रियों और दूसरे राजनीतिज्ञों के वक्तव्यों से असम्बद्धता पैदा हो जाती है, जो शब्दों की बाजीगरी दिखाकर लोगों को इन विरोधी प्रवृत्तियों और नीतियों में मेल-मिलाप करने के लिए भ्रम में डाल देते हैं। लड़ाई के क्षेत्र में भी ब्रिटिश विदेशी-नीति लगातार बिना हिचकिचाहट के फासिज्म के साथ सम्बन्ध बनाये रखने की रही है। स्पेन का तमाम दारुण विध्वंस भी उसे अपने निश्चित मार्ग से नहीं हटा सका और न एडिस अबाबा का रक्तपान

ही रत्तीभर भी उसे इधर-उधर कर सका है। उत्तरी और मध्ययूरोप और भूमध्यसागर में फ़ासिस्ट ताक़तों के बढ़ने पर ब्रिटेन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति खतरे में पड़ जायगी, इस डर ने भी उसकी नीति में कोई खास तब्दीली नहीं की है।

ऐसा क्यों है ? क्योंकि साम्राज्यवाद और फ़ासिज्म में जरूरी तौरपर निकट का संबन्ध है और दोनों एक-दूसरे में समा जाते हैं। कभी-कभी साम्राज्यवाद के दो रूप हो जाते हैं। घरेलू जो प्रजातन्त्र की बात करता है, और औपनिवेशिक जो फ़ासिज्म में परिणत हो जाता है। इन दोनों में औपनिवेशिक रूप मुख्य है, और आखिर उसीका बड़ी-बड़ी नीतियों पर हाथ है। इसलिए हम देखते हैं कि ब्रिटेन में कोई भी सरकार हो, चाहे वह कंजरवेटिव हो या लेबर या नेशनल, हिन्दुस्तान में तो उसका रूप फ़ासिस्ट ही रहेगा। हिन्दुस्तान में फ़ासिज्म की तरफ़ रफ्तार अभी जारी है और नया विधान प्रांतों में प्रजातन्त्रीय रूप होते हुए भी सिद्धान्त और शायद व्यवहार में निश्चय ही फासिस्ट है—खास तौर पर फ़ेडरल रूप में। प्रजातन्त्रीय हिस्सा तो उसका सिर्फ़ प्रान्तों में बड़ा निर्वाचक-समूह है। इस निर्वाचक-समूह ने नये कानून को रद्द करने की घोषणा की है; लेकिन क़ानून और विधान चल रहे हैं और नये विधान के अन्तर्गत जो बहुत-से आदमी चुने गये हैं, वे शक्तिहीन हैं और कुछ नहीं कर सकते।

साम्राज्य और प्रजातन्त्र दोनों परस्पर-विरोधी हैं। एक दूसरे को हड़प कर जाता है। और आज-कल की दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक हालतों में साम्राज्य को या तो अपने को समाप्त कर देना चाहिए या फ़ासिज्म की ओर बढ़ जाना चाहिए। और इस तरह फ़ासिज्म की तरफ़ बढ़ने में अपनी घरेलू व्यवस्था को भी साथ लेलेना चाहिए।

यहाँ आकर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ब्रिटिश घरेलू-नीति से बहुत निकट संबन्ध होजाता है और साम्राज्यवाद घरेलू नीति को चलाता है। जबतक साम्राज्य का बोलबाला है तबतक ब्रिटेन में कोई खास सामाजिक परिवर्तन हो सकेगा, ऐसा विचार भी नहीं किया जा सकता, और न विदेशी नीति में ही किसी खास तब्दीली की आशा की

जामकती है। यह अधिक सभव दिखाई देता है कि हिन्दुस्तान में बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ होंगी, जिससे साम्राज्य का अन्त होजायगा, और इसमें ब्रिटेन में भारी परिवर्तन होंगे। यह भी हो सकता है कि दोनो साथ-ही-साथ हो।

इसलिए स्पेन की लडाई के पीछे प्रजातन्त्र और हर जगह आज़ादी की ताक़तों तथा फासिज्म और साम्राज्यवाद का तमाम दुनिया का सघर्ष है। यही सबक है जो आज स्पेन अपने दुःख, रक्त और पीडा से हमें सिखाता है। स्पेन के अभिभावकों को तमाम बातों के साथ इस सबक को सीखना चाहिए और दृढता से खडे होकर फासिज्म और साम्राज्य तथा उनके साथ की अन्य बातों का अन्त कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। मुसीबत को हमें समूल नष्ट करना चाहिए।

लेकिन जब हम तर्क और बहस-मुबाहिसे मे लगे है, स्पेन मे खून बह रहा है और वीर पुरुष, स्त्री और बच्चे तक लडाई मे जुट रहे है—मनुष्य-जाति की स्वाधीनता के लिए अपनी जानें झोक रहे है। सरकार उन्हे उतनी मदद नही दे रही है जो उन्हें मिलनी चाहिए; लेकिन मदद के लिए उनकी पुकार को दुनियाभर के आदमियों ने सुन लिया है और मदद भी उन्हे दी है, क्योंकि स्पेन की पुकार हर जगह के शोषितों की पुकार है।

हिन्दुस्तान मे हम खुद विवश है। जहाँ देखो वहीं क्षुधा और गरीबी से पीडित लोग हमे दिखाई देते है। हम अपनी आज़ादी के लिए लड रहे है और साथ ही उस साम्राज्य से छुटकारा पाने के लिए, जो हमारा शोषण करता है, हमें कुचलता है। अकाल, बाढ और प्राकृतिक प्रकोप भी हमारे पीछे लगे रहते है और साम्राज्य के बोझ को और भारी कर देते है। लेकिन अपनी भूख और गरीबी के होते हुए भी जो सहायता हम अपने स्पेन के साथियो को भेज सकते है, भेजेगे। वह सहायता चाहे काफी न हो, लेकिन उसके साथ हिन्दुस्तानियों की सच्ची शुभकामनायें होंगी; क्योंकि जो खुद मुसीबत उठाये हुए होते है, वे दुःख से पीडित भाइयो का दुःख अधिक महसूस कर सकते हैं।

२७ मार्च १९३७।

: १२ :

फ़ासिज्म और कम्यूनिज्म

हिन्दुस्तानी अखबार मेरे ऊपर बड़े महरबान रहे हैं और उन्होंने मेरा बड़ा खयाल रक्खा है। और अपनी राय के प्रचार के भी बहुत-से मौक़े उन्होंने मुझे दिये हैं। मैं इसके लिए उनका अहसानमंद हूँ। लेकिन कभी-कभी वे मुझे सदमा भी पहुँचाते हैं। बहुत बड़े सदमे जो हाल ही में मुझे पहुँचे हैं, उसमें एक सदमा आज का है, जो मुझे दिल्ली में कुछ मुलाक़ातियों की मुलाक़ात की रिपोर्ट से पहुँचा है। सबसे पहले दिल्ली के 'नेशनल काल' ने उसे छापा। उसे पढ़कर मुझे ताज्जुब हुआ कि मैंने जो कुछ कहा था, उसकी कैसी-कैसी बातें बना ली गई हैं। बम्बई का 'फ्री प्रेस जरनल' तो कुछ क़दम और आगे बढ़ गया और सात कालम के शीर्षक में उसने लिखा कि मैंने अपने भेद को जाहिर कर दिया और कहा कि कम्यूनिज्म से फ़ासिज्म को मैं ज्यादा पसन्द करता हूँ। मैं नहीं जानता कि अबतक मैंने कोई बात छिपा रक्खी थी। पिछले तीन महीनों में मेरी यही कोशिश रही है कि लिखकर और व्याख्यान देकर जितनी सफ़ाई के साथ मैं अपने विचारों को जाहिर कर सकता हूँ, करदूँ। वे विचार चाहे ग़लत हों या सही हों; लेकिन मैंने तो कम-से-कम यही उम्मीद की थी कि वे बिलकुल स्पष्ट हैं और कोई भी उनके बारे में ग़लती नहीं कर सकता। मुझे बड़ा सदमा हुआ है और मायूसी हुई है कि जो मैं यक़ीन करता था और जो मेरा मतलब था, ठीक उससे उलटा मतलब उसका लगाया गया है।

दिल्ली की मुलाक़ात की रिपोर्ट में इतनी ग़लतियाँ और झूठी बातें हैं कि उसे नये सिरे से दोबारा ही लिखा जा सकता है। सुधार की उसमें गुंजाइश नहीं है। दोबारा मैं लिखना नहीं चाहता। मैं जो विश्वास

करता हूँ, उसमें दिलचस्पी रखनेवालों से मैं यही कहूँगा कि वे उस विषय पर लिखी हुई मेरी रचनाओं को पढ़ें। लेकिन फासिज्म और कम्यूनिज्म के बारे में अपना रुख साफ कर देना चाहता हूँ। मैं मानता हूँ, आज जरूरी तौर पर दुनिया की पसन्दगी कुछ-कुछ कम्यूनिज्म और कुछ-कुछ फासिज्म के बीच में है, लेकिन मैं तो एकदम कम्यूनिज्म को पसन्द करता हूँ। फासिज्म मुझे बेहद बुरा लगता है और वास्तव में मैं नहीं सोच सकता कि किसी भी तरह से अपनेको कायम रखने के लिए यह मौजूदा पूँजीवादी संस्था की बेतरतीब और हैवानी कोशिश के अलावा और कोई चीज है। फासिज्म और कम्यूनिज्म के बीच का रास्ता कोई नहीं है। दोनों में से एक को ही पसन्द करना होगा। और मैं तो कम्यूनिस्ट आदर्श को पसन्द करता हूँ। जहाँतक उस आदर्श के तरीकों और उसके पास पहुँचने का सम्बन्ध है, हो सकता है, कि कट्टर कम्यूनिस्ट जिन बातों को मानते हैं, उन्हें मैं न मानूं। मेरा खयाल है कि तरीकों को बदलती हुई हालतों के मुताबिक अपनेको बनाना होगा। भिन्न-भिन्न मुल्कों में वे जुदा-जुदा हो सकते हैं, लेकिन मेरे खयाल में कम्यूनिज्म के बुनियादी विचार और उसकी तवारीख की वैज्ञानिक व्याख्या ठीक है।

मैं उम्मीद करता हूँ कि मैंने अपने विचारों को साफ कर दिया है। सिर्फ खराब दिमाग का आदमी ही अपनी बात की मुखालफत करेगा, जैसी मुखालफत मुलाकात की रिपोर्ट में दिखाई गई है। वह आदमी पागल ही होगा जो एक दिन कम्यूनिज्म को पसन्द करेगा और दूसरे दिन फासिज्म को। मेरा विश्वास है कि मेरा न तो दिमाग खराब है और न मैं पागल हूँ। मुझमें तो समझ भी है और शायद मैं गम्भीर भी हूँ।

१८ दिसम्बर १९३३।

: १३ :

कांग्रेस और समाजवाद

समाजवाद भला हो या बुरा, सुदूर भविष्य का एक सपना-मात्र हो या इस ज़माने की अहम समस्या; पर इतना तो ज़रूर है कि इसने आज हम हिन्दुस्तानियों के दिमाग़ में एक अच्छी जगह करली है। इस शब्द की काफ़ी खींचातानी हुई है और हमसे ज़ोर देकर कहा जाता है कि इसमें हिंसा की बू है या इसके पीछे कम्यूनिज्म की छाया है।

सच तो यह है कि समाजवाद क्या है, यह बहुतेरे आलोचकों की समझ में ही नहीं आया है। उनके दिमाग़ को इसकी एक धुंधली तस्वीर ही नज़र आती है। पेशेवर अर्थशास्त्री भी, सरकारी प्रचारकों की तरह, इसमें ईश्वर और धर्म को घसीटकर या विवाह और स्त्रियों के चरित्र-भ्रष्ट होने की बातें कहकर इसकी असलियत को ख़राब कर देते हैं। हमें इसके लिए उलाहना नहीं देना है, हालांकि ऐसे लोगों को, जो कहें कि हम अच्छी तरह पढ़-लिख सकते हैं, वर्णमाला समझाना एक झंझट का काम है। आश्चर्य तो यह है कि इस तरह की बातें, समाजवाद के बारे में यह गर्जन-तर्जन, वे करते हैं, जिन्हें यह पसन्द नहीं, जो इस शब्द को कोश में भी रहने देना नहीं चाहते, जो इस विचार-धारा के विरोधी हैं।

समाजवाद तो—जैसा कि हरेक स्कूली छात्र को जानना चाहिए—एक ऐसे आर्थिक सिद्धान्त का नाम है जो मौजूदा दुनिया की उलझनों को समझने और उन्हें सुलझाने की कोशिश करता है। यह इतिहास समझने का नया दृष्टिकोण और उससे मानव-समाज को संचालित करनेवाले नियमों को ढूंढ़ निकालने का नया तरीक़ा भी है। दुनिया की एक काफ़ी तादाद के लोग इसमें विश्वास करते हैं और इसे कार्य-रूप में परिणत

करना चाहते हैं। प्रशान्त महासागर से बाल्टिक सागर तक फैला हुआ प्रशस्त भूखण्ड तो इसके अधीन हो ही गया है, साथ ही फ्रास-स्पेन जैसे दूसरे-दूसरे मुल्क भी इसकी परिधि तक पहुँच गये हैं। इस समय दुनिया में शायद ही ऐसा कोई देश होगा, जहाँ इसके पक्के अनुयायी काफी तादाद में न हों। इसके सिद्धान्त को माननेवाले किसी पर खामखाह इसकी सचाई मढ़ना नहीं चाहते, लेकिन वे हम हिन्दुस्तानियों से इतनी आशा तो जरूर करते हैं कि हम इसपर गौर के साथ निष्पक्ष होकर मनन करें। वे हमसे जानना चाहते हैं कि हम अपनी आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं को किस तरह हल कर सकते हैं। इसपर सोचने के बाद हमें हक है कि हम इसे एकदम अस्वीकार कर दें या अगर सोलहों आने कबूल न करें तो कम-से-कम कुछ सबक तो सीखें। जो आन्दोलन दुनिया के करोड़ों दिलों और दिमागों पर कब्जा किये हुए है, उसकी तरफ से एकदम आँखें बन्द कर लेना अक्लमन्दी का रास्ता तो न होगा।

लेकिन हाँ, यह कहना सही है कि इस समय राजनैतिक समस्या ही प्रमुख चीज़ है। बिना आज़ादी के समाजवाद या हमारे आर्थिक संगठनों के आमूल परिवर्तन की बात बिलकुल थोथी, सिर्फ खयाली पुलाव है। समाजवाद पर किसी तरह का बहस व मुबाहिसा करने से गड़बड़ मच जाती है और हम काम करनेवालों में फूट पैदा हो जाती है। राजनैतिक आज़ादी पर ही हमें अपनी ताकत केन्द्रित करनी चाहिए। यह दलील गौर करने लायक है; क्योंकि हमारी कोई हरकत ऐसी नहीं होनी चाहिए जिससे साम्राज्यवाद के विरुद्ध लिया गया हमारा संयुक्त मोरचा टूट जाय और हम कमज़ोर पड़ जायँ। कट्टर-से-कट्टर समाजवादी भी कुछ हद तक इस बात को मानता है; क्योंकि वह समझता है कि इस समय राजनैतिक स्वतन्त्रता ही हमारा सबसे पहला और जरूरी मकसद है। दूसरी-दूसरी चीजें तो इसके बाद आप-से-आप खुद चली आयेंगी। बगैर इसके दूसरा ठोस परिवर्तन हो नहीं सकता।

इस तरह हमारे लिए एक बड़ा 'कामन ग्राउण्ड' है। राष्ट्रीयता

हमारी सबसे पहली आवश्यकता और चिन्ता है, यह तय है; लेकिन फिर भी इस सम्मिलित लक्ष्य को देखने का तरीक़ा भी एक नहीं है।

कोई नहीं चाहता कि हम कार्यकर्त्ताओं में फूट पैदा होजाय। यह तो सभी हमेशा से कहते आ रहे हैं कि हम अपने शक्तिशाली दुश्मन से संयुक्त मोरचा लें; लेकिन हम यह कैसे भुला सकते हैं कि हमारे अन्दर परस्पर स्वार्थों के संघर्ष मौजूद हैं और जैसे-जैसे हम सियासी तरक्क़ी करते जाते हैं, समाजवाद और आर्थिक बातें तो दूर रहीं, हमारे ये संघर्ष ज्यादा साफ होते जाते हैं। जब कांग्रेस गरमदलवालों के हाथ में आई तो नरमदल वाले हट गये। इसका सबब आर्थिक पहलू नहीं था; बल्कि जब हम राजनैतिक प्रगति में बहुत आगे बढ़ने लगे और नरमदलवालों ने समझकर या बिना समझे देखा कि इतना आगे बढ़ना उनके स्वार्थ के लिए ख़तरनाक साबित होगा, तो वे अलग होगये। ताज्जुब की बात तो यह है कि बावजूद इसके कि हमें अपने कुछ पुराने साथियों से जुदा होने पर बहुत अफसोस होता, इससे कांग्रेस कमज़ोर नहीं हुई। कांग्रेस ने एक दूसरी बड़ी तादाद को अपने अन्दर खींच लिया और वह एक अधिक शक्तिशाली और ज्यादा प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था होगई। इसके बाद असहयोग का जमाना आया और फिर कुछ आदमी बहुमत के साथ लम्बी छलांग मारने में असमर्थ होगये। वे भी हटे (इस बार भी राजनैतिक बुनियाद पर ही, हालांकि इसकी आड़ में बहुतेरी दूसरी बातें भी थीं)। वे हट गये, फिर भी कांग्रेस कमज़ोर नहीं हुई। एक बड़ी तादाद में नये लोग इसमें शामिल हुए और अपनी लम्बी तवारीख़ में पहली बार यह हमारे देहातों में एक ज़बर्दस्त शक्ति बनी। इस तरह यह पहलेपहल भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाली और अपने आदेशों से करोड़ों नर-नारियों को जीवन-मय करनेवाली सिद्ध हुई। यहां जैसे ही हम राजनैतिक क्षेत्र में आगे बढ़े, छोटे-छोटे गिरोहों और हमारी विशाल जन-राशि के बीच का पुराना संघर्ष ज्यादा साफ़ मालूम पड़ा। यह संघर्ष हमने पैदा नहीं किया। इसकी ओर बिना ख़याल किये हम आगे बढ़े और इससे हमारे बल और प्रभाव में तरक्क़ी हुई।

धीरे-धीरे हमारे राजनैतिक आकाश में नये मामलों के नये रंगों का आविर्भाव हुआ। गांधीजी ने किसानों के बारे में आवाज उठाई। उनके नेतृत्व में चम्पारन और खेड़ा में जबर्दस्त आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। यह कोई राजनैतिक चाल नहीं थी, हालांकि राजनीति का ही दुष्परिणाम था, जिसमें बचना नामुमकिन था। हमारे आन्दोलन में उन्होंने यह नई उलझन क्यों पैदा की ? जनता की भयकर दरिद्रता का प्रचार वह क्यों करने लगे ? हमारे आन्दोलन की गहराई के केन्द्र को बदलने के लिए यह एक नई चर्चा, हमारे रास्ते का नया मोड़ था। वह इसे अच्छी तरह जानते थे और जानबूझकर हमारी राजनैतिक समस्या के आर्थिक पहलू के लिए लड़े। क्या इसी वजह से और उनके व्यक्तित्व के कारण ही कांग्रेस के झण्डे के नीचे लाखों व्यक्ति नहीं आ जुटे ? तब हम में से हर आदमी 'किसान-किसान' चिल्लाने लगे और वह पीड़ित, कुचला हुआ समाज हमारी तरफ कुछ सान्त्वना और आशा लेकर मुखातिब हुआ।

गांधीजी हिन्दुस्तान के करोड़ों की दरिद्रता पर जोर देने लगे। उसूलन हम यह बात जरूर जानते थे—क्योंकि हमने अपनी आंखों देखा था और दादाभाई, डिग्बी, रानाडे, रमेशचन्द्र दत्त आदि हमारे पहले के नेताओं ने हमें सिखलाया था। फिर भी यह हम पढ़े-लिखे मध्यमवर्गवालों के लिए किताबों और आंकड़ों की ही चीज़ थी। गांधीजी ने इसे एक जीता-जागता पहलू बनाया। हमने पहलेपहल भूख से मरते हुए पीड़ित जन-समूह का, अपने देश भारत की भयकर दरिद्रता का, दर्शन किया। इस भूख और बेकारी को दूर करने के लिए ही उन्होंने चरखे और करघे का पुनरुद्धार करने पर जोर दिया। बहुत-से लोग जो अपनेको बहुत अक्लमन्द समझते थे, इसका मखौल करने लगे, लेकिन चरखा, हालांकि यह गरीबी की समस्या को बहुत ज्यादा सुलझा न सका, बहुतों के लिए एक बड़ा आधार सिद्ध हुआ। इससे बढ़कर इसके जरिये स्वावलम्बन और सहयोग की भावना जागृत हुई, जिसका हममें सबसे ज्यादा अभाव था। हमारे राजनैतिक आन्दोलन में चरखे का जबर्दस्त हाथ रहा। यहां फिर हमने देखा कि हमारी राष्ट्रीय कशमकश में एक बाहरी चीज़, ग़ैर-

सियासी मामले, को महत्त्व मिल गया।

कुछ सालों के बाद गांधीजी हरिजन-समस्या पर भी जोर देने लगे। उनकी इस हरकत से सनातनियों के कुछ गिरोह गुस्से में आगये। यह पुराने रिवाजों के प्रतिनिधियों, स्वार्थियों और प्रगितशील ताक़तों के दरम्यान संघर्ष था। फूट के होए से डरकर गांधीजी ने इस अपने बड़े आन्दोलन को बन्द नहीं कर दिया। यह सीधा राजनैतिक मामला नहीं था, फिर भी उठाया गया, और मुनासिब तौर से उठाया गया।

इस तरह हम देखते हैं कि कांग्रेस के अन्दर और बाहर स्वार्थ सम्बन्धी संघर्ष हमेशा से ही आगे आते रहे हैं। ख्वाह यह बात शारदा-एक्ट जैसी समाज-सुधार-सम्बन्धी हो, या बहुत-से गिरोहों से सम्बन्ध रखनेवाली राजनैतिक या मजदूर-किसानों से सरोकार रखनेवाली कोई चर्चा हो, ये स्वार्थों के संघर्ष हमेशा से ही पैदा होते रहे हैं। हम फूट से बिलकुल बचना चाहिए; पर इसके अस्तित्व की हम अवहेलना कैसे कर सकते है? आखिर, हम इसके लिए कर ही क्या सकते हैं? सोलह साल तक जोर देकर कहते आये कि हम जनता के लिए हैं। इसके बाद हमें एक ही बात देखनी है और वह यह कि इस संघर्ष से जनता का कहाँ तक नुक़सान होता है? इस सवाल का जवाब गांधीजी ने अपने गोलमेज कांफ्रेंस (लन्दन १९३१) के एक व्याख्यान में दिया था। उन्होंने कहा था :—

"सबसे बढ़कर कांग्रेस उन करोड़ों मूक, भूख से अधमरे लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, जो ब्रिटिश भारत या तथाकथित भारतीय भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सात लाख गांवों में फैले हुए हैं। हरेक स्वार्थ को, अगर वह कांग्रेस की राय में सुरक्षित रक्खे जाने के क़ाबिल है, इन गूंगे करोड़ों किसान-मजदूरों के स्वार्थों का सहायक बनना होगा। इसलिए आप बार-बार कुछ स्वार्थों में परस्पर साफ़-साफ़ मुठभेड़ होते देखते हैं। और अगर कहीं सच्ची विशुद्ध मुठभेड़ हुई, तो मैं बिना किसी हिचकिचाहट के, कांग्रेस की ओर से, घोषित करता हूँ कि कांग्रेस इन गूंगे करोड़ों किसानों के हितों की खातिर हर तरह के हितों का बलिदान कर देगी।"

किसानों के साथ हमारे उत्तरोत्तर बढते हुए सरोकार ने हमें उनके दुख-दर्द के दृष्टिकोण से ज्यादा-से-ज्यादा सोचने को बाध्य किया। बारडोली, मयुक्तप्रान्त और दूसरी-दूसरी जगहो मे किसानो के आंदोलन मड़े हुए। न चाहते हुए भी स्थानीय कांग्रेस कमेटियो को 'स्वार्थो के संघर्ष' की समस्या का मुकाबिला करना पड़ा और अपने किसान मेम्बरों को कौन-सी कारवाई की जाय, इसका रास्ता भी बताना पड़ा। कुछ सूबों की सूबा-कमेटियों ने ऐसा ही किया।

सन् १९२९ के गर्मी के दिनो में खुद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपनी बम्बईवाली बैठक में इस समस्या का हिम्मत के साथ मुकाबिला किया और इसके मुतल्लिक मुल्क को एक आदर्श नेतृत्व दिया। अपने राष्ट्रीय आधार के रहते और राजनैतिक स्वतन्त्रता को महत्व देते हुए भी उसने जोरदार शब्दों में घोषित किया कि हमारे समाज का वर्तमान आर्थिक सगठन हमारी गरीबी के मूल कारणो में से एक है। उसका प्रस्ताव इस तरह का था :—

"इस कमेटी की राय में भारतीय जनता की भयंकर गरीबी और दरिद्रता का कारण सिर्फ विदेशियो द्वारा उसका शोषण नहीं है, बल्कि हमारे समाज का आर्थिक सगठन भी है, जिसे कि विदेशी हुकूमत क़ायम रक्खे हुए है ताकि यह शोषण जारी रहे। इसलिए इस गरीबी और दरिद्रता को दूर करने, साथ ही भारतीय जनता की दुरवस्था को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि समाज के वर्तमान आर्थिक और सामाजिक सगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जाय और घोर विषमता हटाई जाय।"

'क्रान्तिकारी परिवर्तन' ये शब्द जब मैंने, थोड़े दिन हुए, लखनऊ शहर में इस्तेमाल करने का साहस किया तो कुछ लोगो ने समझा कि कांग्रेस के प्लेटफार्म के लिए ये बिलकुल नये है। कांग्रेस के इस दृष्टि-बिन्दु और नीति की आम घोषणा से आगे शायद ही कोई समाजवादी जा सकता है। इसपर भी यह कहना कि कांग्रेस समाजवादी होगई है, कैसी मूर्खता है! उसने भारतीय जनता की गरीबी और दरिद्रता मे

ज्यादा-से-ज्यादा सम्बन्ध बढ़ाती हुई देखकर महसूस किया है कि सिर्फ़ राजनैतिक तबादला ही काफ़ी नहीं है, कुछ और आगे जाने की जरूरत है। वह 'कुछ और' मौजूदा आर्थिक और सामाजिक संगठन में परिवर्तन—क्रान्तिकारी परिवर्तन—ही है। वह परिवर्तन कैसा होगा, यह इसने नहीं बताया। और उस वक्त यह स्वाभाविक ही था। इसलिये हमने इसे अनिश्चित और अस्पष्ट ही रख छोड़ा।

क़ानून-भंग शुरू हुआ। यह राजनैतिक उद्देश्य से एक राजनैतिक आन्दोलन था। हमने देखा, स्वार्थों की मुठभेड़ फिर सामने आई और बड़े-बड़े जमींदारों और पूंजीपतियों ने आनेवाले परिवर्तन से डरकर अंग्रेज़ी सरकार का साथ दिया। संयुक्तप्रान्त-जैसे कुछ सूबों में तो किसान-आन्दोलन के सबब से स्वार्थों की मुठभेड़ ज्यादा स्पष्ट थी।

करांची में तो हमारा रास्ता आर्थिक परिवर्तन की तरफ़ मुड़ा हुआ साफ़ दीख पड़ा। कांग्रेस इतनी दूर जाने में हिचकिचाती थी; लेकिन वह अपनेको रोक नहीं सकी। उसने फिर ऐलान किया :—

"जनता के शोषण का अन्त करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता का अंग होगा भूख से मरते हुए करोड़ों किसान-मजदूरों की सच्ची आर्थिक स्वतन्त्रता।" इसने गुज़ारे की मज़दूरी ("लिविंग वेज") जैसी चीज़ों की चर्चा की और ऐलान किया कि राज्य (सरकार) बड़े-बड़े कल-कारखानों, खानों, रेलवे और जहाज आदि की मालिक खुद होगा या उनका इंतजाम करेगा। यह एक समाजवादी प्रस्ताव था, फिर भी कांग्रेस समाजवाद से दूर रही।

इस तरह कांग्रेस घटनाओं के ज़ोर और असलियत के दबाव से आर्थिक पहलू की तरफ़ बढ़ने को बाध्य हुई। राजनैतिक आज़ादी के लिए बड़ी इच्छा रखते हुए भी वह इसे आर्थिक आजादी से जुदा न कर सकी। ये दोनों एक-दूसरे से ऐसे बंधे हुए हैं कि अलग नहीं होसकते। हमने उन्हें अलग-अलग रखने की और राजनैतिक स्वतन्त्रता पर ही सारी ताक़त लगाने की कोशिश की; लेकिन आर्थिक समस्याओं ने इसमें दखल दिया। स्वार्थों के संघर्ष की तरफ़ से हमने आँखें बन्द करलीं, फिर

भी, राजनैतिक सतह पर भी, ये संघर्ष ज्यादा साफ़ नजर आने गये। गोलमेज कान्फ्रेन्स ने अच्छा नज़ारा पेश किया। सभी भारतीय पूँजीवादी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नीचे एक पंक्ति में खड़े होगये और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए अपनेको बलिदान करनेवाली ताकत का एक स्वर में विरोध करने लगे।

कोई बात ज्यादा दिन तक याद नहीं रहा करती। बहुत-से लोग भारत और कांग्रेस का यह आधुनिक इतिहास भूल जाते हैं। कांग्रेस में समाजवाद या समाज की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन जैसे शब्द ऐसे नये नहीं हैं जो पहले कभी सुने नहीं गये हों। स्वार्थों का संघर्ष भी कोई नई चीज नहीं है। फिर भी यह एकदम सच है कि कांग्रेस आज समाजवादी नहीं है। समाजवादी हैं या नहीं, इसे जाने दीजिए, पर इतना तो जरूर है और बहुत साफ़ है कि यह पहले से ही ऐसी संस्था नहीं है जो आर्थिक बातों की अवहेलना करके सिर्फ़ राजनैतिक पहलू पर ही सोचे। इन पंक्तियों के लिखते समय किसानों की तकलीफ़ों की जाँच करना और उनके लिए कोई कार्यक्रम निश्चित करना इसके प्रमुख कामों में एक है। इसे इसका और दूसरी जरूरी समस्याओं का मुक़ाबिला करना ही होगा। और, ऐसा करने में जब कभी स्वार्थों की मुठभेड़ सामने आयगी, जैसी कि हमेशा आया करती है, तो जनता के हितों के आगे उन सबका बलिदान किया जायगा।

यह साफ़ है कि अपने राजनैतिक पहलू यानी भारत की आज़ादी पर ही अपनी ताक़तों को केन्द्रित करना चाहिए। यह हमारे लिए बेहद जरूरी है। कोई भी ऐसी हरकत, जिससे इसमें धक्का पहुँचे, अवांछनीय और त्याज्य है। इस बात पर, मैं समझता हूँ, कांग्रेस के हर दल के लोगों का एकमत है। फिर यह समाजवाद की चर्चा क्यों?

जैसा कि मैं समझता हूँ, यह इसलिए नहीं कि कोई समाजवादी कल्पना करता है कि मुल्क आज़ाद होने के पहले ही समाजवाद को जगह मिल जायगी। वह तो स्वराज्य के बाद ही तभी जगह पा सकता है जब-कि मुल्क उसके लिए तैयार होगा और बदलना चाहेगा। पर

दृष्टिकोण सियासी कशमकश में मदद पहुँचाता है। यह हमारे सामने की बातों को साफ़ कर देता है और हमें अनुभव कराता है कि सच्ची राजनैतिक स्वतन्त्रता में—सामाजिक जाने दीजिए—क्या-क्या बातें होंगी। 'स्वतन्त्रता' की ही कई तरह से व्याख्या की गई है; लेकिन समाजवादियों के लिए तो इसका एक ही अर्थ है, और वह है साम्राज्यशाही से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद। इसीलिए हमारे राजनैतिक संग्राम के 'साम्राज्यशाही-विरोधी' पहलू पर ज़ोर दिया जाता है और इससे हमारी बहुतेरी कार्रवाइयों की जाँच की जा सकती है।

इसके अलावा समाजवादी दृष्टिकोण (जैसा कि पिछले पन्द्रह सालों से कांग्रेस भिन्न-भिन्न रूपों में करती आ रही है) ज़ोर देता है कि हमें जनता के लिए खड़ा होना चाहिए और हमारी लड़ाई जनता की होनी चाहिए। आज़ादी के माने होना चाहिए जनता के शोषण का अन्त।

इससे हम समझ सकते हैं कि किस किस्म के स्वराज्य के लिए हम प्रयत्न कर रहे हैं। डाक्टर भगवानदास अर्से से आग्रहपूर्वक कह रहे हैं कि स्वराज्य की परिभाषा होजानी चाहिए। उनके बहुत-से विचारों से मैं सहमत नहीं हूँ; लेकिन उनके इस कथन से तो सहमत हूँ कि हमें अब स्वराज्य के बारे में अस्पष्ट अर्थ न रखकर, किस क़िस्म का 'स्वराज्य' हम चाहते हैं, यह साफ़ कर देना चाहिए। क्या अंग्रेज़ों के बाद मौजूदा पूंजीपतियों के ही हाथों में मुल्क का भावी शासन-सूत्र जायगा? स्पष्टतः यह कांग्रेस की नीति नहीं हो सकती है; क्योंकि हमने अक्सर यह ऐलान किया है कि हम जनता के शोषण के विरुद्ध हैं। इसलिए हमें बाध्य होकर जनता को शक्तिशाली बनाने का उद्योग करना चाहिए, ताकि भारत से साम्राज्यशाही का अन्त होते ही वह सफलतापूर्वक अपने हाथों में हुक़ूमत रख सके।

जनता को और उसके ज़रिये कांग्रेस-संगठन को मज़बूत बनाना अपने उद्देश्य के लिए ही ज़रूरी नहीं है; बल्कि लड़ाई के लिए भी ज़रूरी है। सिर्फ़ जनता ही उस लड़ाई को सच्ची ताक़त दे सकती है; सिर्फ़ वही राजनीतिक लड़ाई को आखिर तक लड़ सकती है।

इस तरह समाजवादी दृष्टिकोण हमारी मौजूदा लड़ाई में हमें मदद देता है। यह बेकार किताबी बातों की बहस बढ़ाने और उलझनों से भरे हुए सुदूर भविष्य का सवाल नहीं है; बल्कि अपनी नीति को अभी निश्चित कर लेने का प्रश्न है, ताकि हम अपने राजनैतिक संग्राम को अधिक शक्तिशाली और पुरअसर बना सकें। यह समाजवाद नहीं है। यह साम्राज्यवाद-विरोधी बात है। समाजवादी दृष्टिकोण से देखा गया राजनैतिक पहलू है।

समाजवाद इससे और आगे जाता है। उसका ध्येय है पूंजीवाद की लाश पर समाज का निर्माण। यह आज मुमकिन नहीं है। इसलिए कुछ लोगों का इसपर सोचना बेमौके और सिर्फ ज्ञान-वर्धन की ताब होगी, लेकिन ऐसा देखना दोषपूर्ण है, क्योंकि ध्येय का स्पष्टीकरण—भले ही उसका हम निश्चय न करें—और उसपर सोचना आगे बढ़ने में मदद करता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल होने के बाद शासन किसके हाथों में आयेगा? क्योंकि सामाजिक परिवर्तन इसपर निर्भर करेगा। और, अगर हम सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं तो उन्हींको यह 'शासन' कार्यरूप में लाने के लिए मिलना चाहिए। अगर हमारा उद्देश्य यह नहीं है, तो इसका मतलब होना है हमारा यह संग्राम 'अपरिवर्तनवादी' पूंजीपतियों का मार्ग निष्कण्टक बनाने के लिए है।

समाजवादी तरीका मार्क्सवादी तरीका है। यह भूत और वर्तमान इतिहास का अध्ययन करने का तरीका है। मार्क्स की महत्ता आज कोई अस्वीकार नहीं करेगा; लेकिन बहुत कम आदमी अनुभव करेंगे कि उसने घटनाओं का जैसा सच्चा मतलब लगाया है उससे इतिहास का लम्बा और पथराऊ मार्ग प्रकाशमय होगया, वह कोई आकस्मिक और चमत्कारपूर्ण नई बात नहीं थी। इसकी जड़ें भूतकाल में ही गहराई तक चली गई थीं। यह पुराने ग्रीकों, रोमनों तथा जिनेवा (जागृति) के और उसके आगे के विचारकों को मालूम था। उन्होंने इतिहास को आन्दोलन के रूप में समझा और समझा विचारों तथा स्वार्थों के संघर्ष के रूप में। मार्क्स ने इस पुराने दर्शन (फिलासफी) को विज्ञान का आधार

देकर विकसित किया और दुनिया के आगे ऐसे सुन्दर ढंग से रक्खा कि लोग मुग्ध होगये। हो सकता है कि इसमें कोई ग़लती हो या इधर-उधर कुछ बातों पर ज्यादा ज़ोर डाला गया हो। ऐसे तयशुदा सिद्धान्तों के रूप में नहीं; बल्कि सामाजिक परिवर्तन और इतिहास समझने के एक नये वैज्ञानिक ढंग के रूप में हमें इसे देखना चाहिए। इस व्यर्थ बात को तूल देकर कहा जाता है कि मार्क्स ने जीवन के आर्थिक पहलू को ही अधिक महत्व दिया है। उसने ऐसा ज़रूर किया है; क्योंकि यह आवश्यक था और लोग इसे भुला देने की तरफ़ झुक रहे थे; लेकिन उसने दूसरे पहलुओं की कभी अवहेलना नहीं की है और उन ताक़तों पर ज्यादा ज़ोर दिया है जिनकी वजह से लोगों में जान आ गई है, और घटनाओं को रूप मिला है।

मार्क्स एक ऐसा नाम है, जो उसके बारे में कम जाननेवालों को भयभीत कर देता है। उनके लिये इस सम्बन्ध में एक बहुत आदरणीय और सम्मानित ब्रिटिश लिबरल ने, जो हर्गिज़ क्रान्तिकारी नहीं हैं, थोड़े दिन पहले जो-कुछ कहा है, वह दिलचस्प हो सकता है। जून १९३१ में लार्ड लोथियन ने लण्डन-स्कूल आफ इकानामिक्स के सालाना जलसे के मौक़े पर अपने भाषण में कहा था :—

"हम लोग बहुत दिन से जो सोचने के आदी होगये हैं, क्या उसकी अपेक्षा मौजूदा समाज की बुराइयों की मार्क्स द्वारा की गई तजवीज़ में कुछ ज्यादा सचाई नहीं है ? मैं मानता हूँ कि मार्क्स और लेनिन की भविष्यवाणियाँ अत्यन्त कठोर रूप में सच हो रही हैं। जब हम पश्चिमी दुनिया की तरफ, जैसीकि वह है, और उसकी हमेशा की तकलीफ़ों की ओर निगाह करते हैं, तो क्या यह साफ़ मालूम नहीं देता कि हमें उसके मूल कारणों को—अबतक हम जिस हद तक जाने के आदी होगये हैं उससे कहीं अधिक गहराई के साथ—जरूर ढूंढ निकालना चाहिए ? और जब हम ऐसा करेंगे, तो मैं समझता हूँ, देखेंगे कि मार्क्स की तजवीज़ बहुत कुछ सही है।"

ऐसे व्यक्ति का, जो हिन्दुस्तान का वाइसराय आसानी से हो सकता

है, ऊपर लिखी बातों का स्वीकार कर लेना कुछ महत्व रखता है। अपने वातावरण के दबाव और अपनी श्रेणी की द्वेष-भावना के होते हुए भी उसकी तीव्र बुद्धि मार्क्स की तजवीज की तरफ खिंचे बिना न रह सकी। हो सकता है, पिछले पाँच साल में लार्ड लोथियन के विचार बदल गये हों। मैं नहीं कह सकता, १९३१ में उन्होंने जो-कुछ कहा उसपर किस हद तक वह आज कायम है। लेकिन आज मार्क्स का सिद्धान्त कांग्रेस के सामने नहीं है। उसके सामने बात तो यह है कि या तो हम फैली हुई बुराइयों से लड़ें या उनके कारणों को ढूंढ निकालें। जो लोग बुराइयों के खुद शिकार हैं, वे ज्यादा कर क्या सकते हैं? "उन्हें याद रखना चाहिए, वे कुपरिणामों से लड़ते हैं, उनके कारणों से नहीं। वे अन्तर्मुखी आन्दोलन को रोकते हैं, उसके रुख को नहीं बदलते, वे मर्ज को दबाते हैं, दूर नहीं करते।"

वास्तविक समस्या है—परिणाम या कारण? अगर हम कारण ढूंढना चाहते हैं, जैसा कि हमें जरूर चाहिए, तो समाजवादी विश्लेषण उसपर प्रकाश डालेगा। और इस तरह समाजवाद, हालाँकि समाजवादी शासन-स्टेट—सुदूर भविष्य का एक सपना हो सकता है और हममें से बहुतेरे उसे भोगने के लिए जिन्दा नहीं रह सकते, वर्तमान समय में खतरे से बचाने वाला प्रकाश है, जो हमारे पथ को आलोकित करता है।

समाजवादी ऐसा ही अनुभव करते हैं, लेकिन उन्हें यह जानना जरूरी है कि बहुतेरे दूसरे लोग, मौजूदा संग्राम के उनके साथी, ऐसा नहीं सोचते। उन्हें अपनेको ज्यादा अक्लमन्द समझकर—जैसा कि कुछ समझते हैं—अपना अलहदा गिरोह नहीं बना लेना चाहिए। वे दूसरे तरीक़ों से अपना काम निकाल सकते हैं और इसमें उनके दूसरे साथी और बहुत अंशों में समूचा देश उनके तरीके से सोचने को जीते जा सकते हैं। क्योंकि हम भले ही समाजवाद के बारे में सहमत या असहमत हैं, पर स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर तो एकसाथ कूच करते हैं।

१५ जौलाई १९३६।

देकर विकसित किया और दुनिया के आगे ऐसे सुन्दर ढंग से रक्खा कि लोग मुग्ध होगये। हो सकता है कि इसमें कोई ग़लती हो या इधर-इधर कुछ बातों पर ज्यादा ज़ोर डाला गया हो। ऐसे तयशुदा सिद्धान्तों के रूप में नहीं; बल्कि सामाजिक परिवर्तन और इतिहास समझने के एक नये वैज्ञानिक ढंग के रूप में हमें इसे देखना चाहिए। इस व्यर्थ बात को तूल देकर कहा जाता है कि मार्क्स ने जीवन के आर्थिक पहलू को ही अधिक महत्व दिया है। उसने ऐसा ज़रूर किया है; क्योंकि यह आवयश्क था और लोग इसे भुला देने की तरफ़ झुक रहे थे; लेकिन उसने दूसरे पहलुओं की कभी अवहेलना नहीं की है और उन ताक़तों पर ज्यादा ज़ोर दिया है जिनकी वजह से लोगों में जान आ गई है, और घटनाओं को रूप मिला है।

मार्क्स एक ऐसा नाम है, जो उसके बारे में कम जाननेवालों को भयभीत कर देता है। उनके लिये इस सम्बन्ध में एक बहुत आदरणीय और सम्मानित ब्रिटिश लिबरल ने, जो हर्गिज़ क्रान्तिकारी नहीं हैं, थोड़े दिन पहले जो-कुछ कहा है, वह दिलचस्प हो सकता है। जून १९३१ में लार्ड लोथियन ने लण्डन-स्कूल आफ इकानामिक्स के सालाना जलसे के मौक़े पर अपने भाषण में कहा था :—

"हम लोग बहुत दिन से जो सोचने के आदी होगये हैं, क्या उसकी अपेक्षा मौजूदा समाज की बुराइयों की मार्क्स द्वारा की गई तजवीज़ में कुछ ज्यादा सचाई नहीं है ? मैं मानता हूँ कि मार्क्स और लेनिन की भविष्यवाणियाँ अत्यन्त कठोर रूप में सच हो रही हैं। जब हम पश्चिमी दुनिया की तरफ़, जैसीकि वह है, और उसकी हमेशा की तकलीफ़ों की ओर निगाह करते हैं, तो क्या यह साफ़ मालूम नहीं देता कि हमें उसके मूल कारणों को—अबतक हम जिस हद तक जाने के आदी होगये हैं उससे कहीं अधिक गहराई के साथ—ज़रूर ढूंढ निकालना चाहिए ? और जब हम ऐसा करेंगे, तो मैं समझता हूँ, देखेंगे कि मार्क्स की तजवीज़ बहुत कुछ सही है।"

ऐसे व्यक्ति का, जो हिन्दुस्तान का वाइसराय आसानी से हो सकता

है, ऊपर लिखी बातों का स्वीकार कर लेना कुछ महत्व रखता है। अपने वातावरण के दबाव और अपनी श्रेणी की द्वेष-भावना के होते हुए भी उसकी तीव्र बुद्धि मार्क्स की तजवीज की तरफ खिचे बिना न रह सकी। हो सकता है, पिछले पाँच साल में लार्ड लोथियन के विचार बदल गये हों। मैं नहीं कह सकता, १९३१ में उन्होंने जो-कुछ कहा उसपर किस हद तक वह आज कायम हैं। लेकिन आज मार्क्स का सिद्धान्त कांग्रेस के सामने नहीं है। उसके सामने बात तो यह है कि या तो हम फैली हुई बुराइयों से लड़ें या उनके कारणों को ढूंढ निकालें। जो लोग बुराइयों के खुद शिकार हैं, वे ज्यादा कर क्या सकते हैं? "उन्हें याद रखना चाहिए, वे कुपरिणामों से लड़ते हैं, उनके कारणों से नहीं। वे अन्तर्मुखी आन्दोलन को रोकते हैं, उसके रुख को नहीं बदलते, वे मर्ज की दवाएं हैं, दूर नहीं करते।"

वास्तविक समस्या है—परिणाम या कारण? अगर हम कारण ढूंढना चाहते हैं, जैसा कि हमें जरूर चाहिए, तो समाजवादी विश्लेषण उसपर प्रकाश डालेगा। और इस तरह समाजवाद, हालांकि समाजवादी शासन-स्टेट—सुदूर भविष्य का एक सपना हो सकता है और हममें से बहुतेरे उसे भोगने के लिए जिन्दा नहीं रह सकते, वर्तमान समय में खतरे से बचाने वाला प्रकाश है, जो हमारे पथ को आलोकित करता है।

समाजवादी ऐसा ही अनुभव करते हैं, लेकिन उन्हें यह जानना जरूरी है कि बहुतेरे दूसरे लोग, मौजूदा संग्राम के उनके साथी, ऐसा नहीं सोचते। उन्हें अपनेको ज्यादा अक्लमन्द समझकर—जैसा कि कुछ समझते हैं—अपना अलहदा गिरोह नहीं बना लेना चाहिए। वे दूसरे तरीकों से अपना काम निकाल सकते हैं और इससे उनके दूसरे साथी और बहुत अंशों में समूचा देश उनके तरीके से सोचने को जीते जा सकते हैं। क्योंकि हम भले ही समाजवाद के बारे में सहमत या असहमत हैं, पर स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर तो एकसाथ कूच करते हैं।

१५ जौलाई १९३६।

: १४ :

समाजवादियों से

यह तो आप जानते हैं कि तमाम मसलों पर समाजवादी तरीक़े से विचार करने में मुझे बेहद दिलचस्पी है। यह ठीक है कि इस समाजवादी तरीक़े के पीछे जो उसूल हैं उन्हें हम अच्छी तरह समझ लें। उससे हमारे दिमाग़ों की उलझने दूर होंगी और हमारे काम को भी ध्येय मिलेगा। लेकिन हमारे दिमाग़ में सवाल के दो पहलू हैं। पहला तो यह कि उन तरीक़ों को हिन्दुस्तानी हालतों पर कैसे लागू किया जाय ? और दूसरे, हिन्दुस्तान की परिभाषा में समाजवाद को किस रूप में रक्खा जाय ? अगर हम चाहते हैं कि किसी मुल्क में हमारी बात समझी जाय, तो हमें उसी मुल्क की ज़ुबान बोलनी चाहिए। मैं समझता हूँ यह बात अक्सर भुला दी जाती है। यहाँ पर मेरा मतलब हिन्दुस्तान की जुदा-जुदा ज़ुबानों से नहीं है। उससे ज्यादा मैं तो मन और दिल की ज़बान की बात कहता हूँ और उस ज़ुबान के बारे में जो प्राचीन इतिहास और संस्कृति और मौजूदा परिस्थितियों के सम्पर्क से पैदा होती है। जबतक हम ऐसी ज़ुबान में न बोलें कि जिसमें हिन्दुस्तानी भावनायें आजायें तबतक हमारा प्रभाव बहुत कम होगा। ऐसे शब्दों का प्रयोग तो, जिनका हमारे लिए तो मतलब है लेकिन हिन्दुस्तान की जनता में जिनका प्रचार नहीं है, अक्सर बेकार होता है। समाजवाद के तरीकों की यही समस्या मेरे मन को घेरे रहती है। हिन्दुस्तान की परिभाषा में समाजवाद को कैसे समझाया जाय और कैसे वह अपने आशाजनक और प्रेरणात्मक सन्देश को लेकर लोगों के दिलों में घर बनावे।

यही एक सवाल है जिसपर, मैं चाहता, कि समाजवादी अच्छी तरह ग़ौर करें।

२० दिसम्बर १९३६।

: १५ :

किसान-मज़दूर संस्थायें और कांग्रेस

मेरे पास विभिन्न कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसमैनों के अनेकों पत्र आयें हैं, जिनमें यह पूछा गया है कि कांग्रेसमैनों का किसान-मजदूर-सस्थाओं के प्रति क्या कर्तव्य है? इस प्रकार के संघ बनाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए या नहीं? यदि उनको बनने दिया जाय तो उनका कांग्रेस से क्या सम्बन्ध हो? कई प्रान्तों में ये समस्यायें पैदा होगई हैं, इनपर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। कभी-कभी ये समस्यायें पूर्ण-तया व्यक्तिगत, कभी-कभी प्रान्तीय होती हैं; किन्तु इनके पीछे महत्वपूर्ण बातें छिपी होती हैं। स्थानीय समस्यायें जब हमारे सामने आती हैं तो हमें उनके विशेष अंगों तथा उनके साथ जिन व्यक्तियों का सम्बन्ध है, उनके बारे में भी विचार करना आवश्यक है। इसके साथ ही हमें इन मामलों की तह में जाने से पहले सिद्धान्तों और मुख्य समस्याओं को पूरी तरह से ध्यान में रखना चाहिए।

यह समस्या क्यों पैदा हुई? यह कुछ व्यक्तियों के प्रयत्न से पैदा नहीं हुई; बल्कि उस हलचल का परिणाम है जिसमें हम फंसे हुए हैं। यह इस बात का चिन्ह है कि जनसाधारण में जागृति पैदा होरही है और हमारा आन्दोलन जड़ पकड़ता जा रहा है। यह जागृति कांग्रेस के आन्दोलन से ही पैदा हुई है. अतः इसका श्रेय भी कांग्रेस को ही मिलना चाहिए। कांग्रेस ने इसके लिए लगातार कोशिश की है। इसलिए अगर कामयाबी मिलती है तो कांग्रेसमैनों को उसे अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिए। इस आन्दोलन के साथ कभी-कभी हमारे सामने कठि-नाइयां आजाती हैं; किन्तु फिर भी इसका स्वागत हमें करना ही चाहिए।

ऐसी स्थिति कुदरतन ही थोड़ी-बहुत विषम होती ही है। कांग्रेस ही

देश की एकमात्र राजनैतिक प्रतिनिधि संस्था है जो आज़ादी के लिए जद्दोजहद कर रही है। किसान या मजूर-संस्थायें तो वर्ग-विशेष की संस्थायें हैं। वे बस अपने वर्ग की उन्नति चाहती हैं। कांग्रेस राजनैतिक बातों को लेकर लड़ती है। कार्यकर्ताओं की संस्था क्रियाशील और आर्थिक दर्जे पर लड़ती है। दोनों की प्रगतियों में कोई विशेष भेद नहीं होता। साथ ही हमारी जद्दोजहद बढ़ने के साथ-साथ राजनैतिक जागृति पैदा होती जाती है, इससे दोनों की प्रगतियां बहुत दूर तकएकही-सी रहती हैं। कांग्रेस का जनसाधारण से सम्पर्क है, और कांग्रेस जन-साधारण की सबसे बड़ी संस्था है, इसलिए इसके लिए जनता की यानी कार्य-कर्ताओं, किसानों और दूसरों की आर्थिक मांगों के लिए जद्दोजहद करना ज़रूरी है। किसान और मजूर-संस्थायें भी इसके अलावा और कुछ नहीं करतीं। कांग्रेस और मजूर-संस्थाओं को यह समझना होगा कि आर्थिक कठिनाइयां तबतक हल नहीं होसकतीं जबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होकर जनसाधारण के हाथों में सत्ता न आजाय। इस तरह से दोनों में सामंजस्य होजायगा और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संयुक्त मोरचा क़ायम किया जा सकेगा।

हरेक ग़ुलाम देश में राजनैतिक समस्या ही सर्वोपरि होती है। इस कारण कांग्रेस स्वयं ही देश की सर्वोपरि संस्था हो जायगी। किन्तु गत वर्षों की आज़ादी की जद्दोजहद के कारण कांग्रेस को यह स्थान पहले ही प्राप्त हो चुका है। आज कांग्रेस अत्यन्त शक्तिशाली होगई है। उसे जनसाधारण का समर्थन प्राप्त है तथा किसान और मज़ूर भी अपने संघों की अपेक्षा उससे ही अधिक प्रभावित होते हैं। कांग्रेस को यह शक्ति केवल अपने राजनैतिक कार्यक्रम की वजह से नहीं मिली; किन्तु उसने जनता की सेवा की, त्याग किया तथा उससे अपना सम्पर्क स्थापित किया। जन-साधारण पूरी तरह समझ गये हैं कि कांग्रेस उनकी आर्थिक तंगी को दूर करना चाहती है। देश के कई स्थानों में कांग्रेस के शक्ति-शाली होने का मुख्य कारण यही है।

आर्थिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से देखने से पता चलता है कि

कांग्रेस को शक्तिशाली बनाना बेहद जरूरी है। जिस काम से वह कमजोर पड़ती है, उसमे आजादी की जद्दोजहद ही कमजोर नही पड़ती; बल्कि किसान और मजूर-आन्दोलन को भी हानि पहुँचती है। अभी किसान और मजूर-आन्दोलन इतना शक्तिशाली नही है कि बिना कांग्रेस के चल सके। इसी तरह से देश की समस्त संस्थायें आज यह कह रही हैं कि कांग्रेस के नेतृत्व में साम्राज्य-विरोधी मोरचा स्थापित किया जाय। कांग्रेस स्वयं ही संयुक्त मोरचा स्थापित करने पर जोर दे रही है।

इन बातों के अलावा कांग्रेस को राष्ट्रीय संस्था ही रहना है, इसलिए यह सदा मजूरों, किसानों तथा अन्य वर्गों की माँगों के लिए प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। यह मजूर-संघ या किसान-सभा की तरह का कार्य नही कर सकती। जहाँ इसका किसानों से बहुत अधिक सम्बन्ध है वहाँ यह किसान-सभा की तरह ही काम करती है। कांग्रेस की नीति देश-व्यापी किसान-आंदोलन आरम्भ करने की है और यह सदा ही रहेगी। इसके साथ-ही-साथ जबतक कांग्रेस राष्ट्रीय कांग्रेस रहेगी और उसमें एकदम कोई तब्दीली नही होगी, तबतक नेतृत्व विशेषतया निम्न मध्यश्रेणी के हाथों में ही रहेगा।

ये तो भविष्य की बातें हैं। हमारा सम्बन्ध तो मौजूदा स्थिति से है। इस समय हमारे सामने ये दो समस्यायें हैं—(१) कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो हमें हमारे उद्देश्य तक पहुंचा सकती है, अतः इसको शक्तिशाली बनाना चाहिए और (२)जनसाधारण में बढ़ती हुई जागृति। यदि इन दोनों बातों में एकता होजाय तो आन्दोलन मजबूत होजायगा और उद्देश्य की पूर्ति भी होजायगी। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए जनसाधारण से सम्पर्क बढाने पर जोर दिया जा रहा है। यह बात हिन्दू, सिख, मुसलमान और ईसाई जन-साधारण पर भी लागू होती है। साम्प्रदायिक मतभेद का इस कार्यक्रम पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। हम मुस्लिम जन-सम्पर्क की बात कहते हैं; किन्तु यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन नहीं है जिससे मुसलमानों का ही सम्बन्ध हो। हमारा कार्यक्रम हिन्दू-मुसलमानों तथा अन्य सम्प्रदायों के लिये एकता ही है। मुसलमानों

में कार्य करने के लिए कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हम 'मुस्लिम-जन-सम्पर्क' शब्द का प्रयोग करते हैं।

जन-साधारण से दो प्रकार से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। एक तरीक़ा तो यह है कि हम उन्हें कांग्रेस का सदस्य बनायें और ग्राम-कमेटियों की स्थापना करें। दूसरा यह है कि किसान और मजूर-संघों से सम्बन्ध स्थापित करें। हमारे लिए पहला मार्ग ही उचित है। बिना पहले मार्ग को ग्रहण किये दूसरे पर चला ही नहीं जा सकता; क्योंकि दूसरा पहले से सम्बन्धित है। यदि काँग्रेस का जन-साधारण से सम्पर्क नहीं होगा तो उसपर मध्यम श्रेणी का प्रभाव होना अनिवार्य है। इस प्रकार वह अपना दृष्टिकोण जन-साधारण का दृष्टिकोण न रख सकेगी। अतः प्रत्येक काँग्रेसमैन का विशेषतया उसका जो किसान-मजूरों के हितों को अधिक प्रिय समझता है, यह कर्तव्य है कि वह उन्हें कांग्रेस के सदस्य बनाकर ग्राम-कमेटियाँ स्थापित करे।

कुछ दिन हुए इस बात पर विचार किया गया था कि किसान और मजूर-संघों का काँग्रेस से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय और इसके लिए उन्हें काँग्रेस में प्रतिनिधित्व देदिया जाय। इसपर आज भी विचार होरहा है। इसके लिए काँग्रेस के विधान में परिवर्तन करना होगा। मैं नहीं जानता कि परिवर्तन हो सकेगा या नहीं और अगर हो सकेगा तो कब? व्यक्तिगत रूप से मैं यह बात मान ली जाने के पक्ष में हूँ। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने जिस बात की सिफ़ारिश की है उस-पर धीरे-धीरे अमल होना चाहिए। शुरू में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा; क्योंकि ऐसे संघ जो अच्छी तरह से संगठित हैं, बहुत कम हैं। साथ ही उन्हें अपने से सम्बन्धित करने के लिए काँग्रेस कुछ शर्तें भी रख देगी। इस समय तो यह सवाल ही पैदा नहीं होता; क्योंकि काँग्रेस के विधान में इसके लिए स्थान ही नहीं है। यह बहस का सवाल है, इसलिए इस समय हमें इधर अधिक ध्यान नहीं देना है। जो व्यक्ति इस प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में हैं, उन्हें जानना चाहिए कि इस परिवर्तन के लिए वह काँग्रेस से बाहर रहते हुए अधिक ज़ोर

नही डाल सकते । उन्हे इसके लिए मजूरो और किसानो को अधिक संख्या में कांग्रेस का सदस्य बनाना पड़ेगा । यदि कांग्रेस के बाहर की संस्थाओ में इतनी शक्ति होजायगी कि वे कांग्रेस को किसी बात के लिए विवश करदें तो इसका अर्थ होगा कि उनकी कांग्रेस से अधिक शक्ति है । ऐसी दशा में तो उन्हें कांग्रेस से सम्बन्धित होने की आवश्यकता ही नही पड़ेगी । किन्तु ऐसा होना मुमकिन नही ।

यह सब ठीक है, पर इस समय हमे इससे कुछ नही लेना । स्थानीय कांग्रेस कमेटियो और किसान-मजूर संस्थाओ में सहयोग की भावना बढ़ती जा रही है । कही-कही दोनों की बेजाब्ता कमेटियाँ भी बनी हुई है । अधिकतर इनमें काम करनेवाले भी कांग्रेस-कार्यकर्ता ही होते है । इसलिए दोनो में सहयोग होने में कोई कठिनाई नही है । यह बात दोनों में है; किन्तु इसके अलावा चारो ओर इस बात पर जोर भी दिया जा रहा है कि दोनो में सहयोग होना चाहिए और यह है भी बहुत जरूरी ।

किसानो और मजूरों को कांग्रेस का सदस्य बनाने के बारे में ऊपर विस्तार-पूर्वक विवेचना करली गई है । अब हमें यह भी विचार करना चाहिए कि मजूरो और किसानों का स्वतन्त्र संगठन होना चाहिए या नहीं । इस बात में तनिक भी सन्देह नही कि किसानो और मजूरों को अपना संगठन करने का अधिकार पुश्तैनी है । यह एक प्रकार का मौलिक अधिकार है, जिसे कांग्रेस सदा स्वीकार करती रही है । इस सम्बन्ध में किसी भी दलील की आवश्यकता नहीं । इतना ही नही, बल्कि कांग्रेस तो एक क़दम और आगे बढ़ गई है । उसने सैद्धान्तिक रूप में ऐसी संस्थायें स्थापित करने का आश्वासन दिया है ।

श्रमजीवी मजूरो का मामला तो किसानों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है । मेरी धारणा है कि जो व्यक्ति मजूर-आन्दोलन में दिलचस्पी रखता है, उसे यह मानना पडेगा कि मजूरो का अपनेको संगठित करना मुख्य कर्तव्य है । मजूर-आन्दोलन वर्तमान उद्योग-धन्धों का अनिवार्य हिस्सा है । उद्योग-धंधे जितने बढ़ेंगे उतना ही यह आन्दोलन भी बढ़ेगा । कांग्रेस जन-साधारण से सम्पर्क रखने के कारण मजूर-संघों का कार्य नहीं

में कार्य करने के लिए कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हम 'मुस्लिम-जन-सम्पर्क' शब्द का प्रयोग करते हैं।

जन-साधारण से दो प्रकार से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। एक तरीक़ा तो यह है कि हम उन्हें कांग्रेस का सदस्य बनायें और ग्राम-कमेटियों की स्थापना करें। दूसरा यह है कि किसान और मजूर-संघों से सम्बन्ध स्थापित करें। हमारे लिए पहला मार्ग ही उचित है। बिना पहले मार्ग को ग्रहण किये दूसरे पर चला ही नहीं जा सकता; क्योंकि दूसरा पहले से सम्बन्वित है। यदि कांग्रेस का जन-साधारण से सम्पर्क नहीं होगा तो उसपर मध्यम श्रेणी का प्रभाव होना अनिवार्य है। इस प्रकार वह अपना दृष्टिकोण जन-साधारण का दृष्टिकोण न रख सकेगी। अतः प्रत्येक कांग्रेसमैन का विशेषतया उसका जो किसान-मजूरों के हितों को अधिक प्रिय समझता है, यह कर्तव्य है कि वह उन्हें कांग्रेस के सदस्य बनाकर ग्राम-कमेटियाँ स्थापित करे।

कुछ दिन हुए इस बात पर विचार किया गया था कि किसान और मजूर-संघों का कांग्रेस से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय और इसके लिए उन्हें कांग्रेस में प्रतिनिधित्व देदिया जाय। इसपर आज भी विचार होरहा है। इसके लिए कांग्रेस के विधान में परिवर्तन करना होगा। मैं नहीं जानता कि परिवर्तन हो सकेगा या नहीं और अगर हो सकेगा तो कब? व्यक्तिगत रूप से मैं यह बात मान ली जाने के पक्ष में हूँ। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने जिस बात की सिफ़ारिश की है उस-पर धीरे-धीरे अमल होना चाहिए। शुरू में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा; क्योंकि ऐसे संघ जो अच्छी तरह से संगठित हैं, बहुत कम हैं। साथ ही उन्हें अपने से सम्बन्वित करने के लिए कांग्रेस कुछ शर्तें भी रख देगी। इस समय तो यह सवाल ही पैदा नहीं होता; क्योंकि कांग्रेस के विधान में इसके लिए स्थान ही नहीं है। यह बहस का सवाल है, इसलिए इस समय हमें इधर अधिक ध्यान नहीं देना है। जो व्यक्ति इस प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में हैं, उन्हें जानना चाहिए कि इस परिवर्तन के लिए वह कांग्रेस से बाहर रहते हुए अधिक ज़ोर

अर्थ यह होगा कि कांग्रेसमैन इनके सीधे सम्पर्क में हैं और आवश्यकता पड़ने पर इनको सहायता भी देते हैं।

नगरों में जो अर्धमजूर सभायें और संस्थायें बनती हैं, वे सफल नहीं होतीं; क्योंकि उनके हितों में सामंजस्य नहीं होता। उनके कांग्रेस में आने से ही सहयोग पैदा हो सकता है।

किसानों की अहम समस्या रह जाती है। उनकी समस्या हमारी तमाम समस्याओं की बनिस्बत जरूरी है। किसान वर्ग में से किसानों की भांति पंजाब तथा अन्य प्रान्तों के छोटे-छोटे जमींदार, युक्तप्रान्त और बिहार के किसानों, बंगाल और उड़ीसा के कृषकों को भी समझता हूँ। इन सबपर एक ही व्यवहार लागू नहीं हो सकता। (उसमें भिन्नता होगी।) इस समय तो मैं कांग्रेस के साथ संस्थाओं के सम्बन्ध पर विचार कर रहा हूँ।

कांग्रेस ने किसानों के संगठन को अधिकारपूर्ण रूप से स्वीकार किया है। सैद्धान्तिक रूप से मैंने जो विचार मजूर-सभाओं के प्रति प्रकट किये हैं, वे उनपर भी लागू होते हैं, किन्तु उनमें फर्क भी है। कारखानों इत्यादि में काम करनेवाले मजूरों को संगठित करना सुगम है, क्योंकि वे एकसाथ रहते हैं और कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर काम करते हैं और उनकी कठिनाइयां भी करीब-करीब एक-सी ही होती हैं। किसानों का संगठन करना उनकी बनिस्बत ज्यादा मुश्किल है; क्योंकि वे बिखरे रहते हैं और वे सामूहिक दृष्टि से नहीं सोचते, बल्कि व्यक्तिगत हितों से ही सोचते हैं। कांग्रेस का कार्य करते समय ही हमें इन सब कठिनाइयों का अनुभव हो चुका है और हमने देखा है कि यद्यपि किसानों पर कांग्रेस का ज्यादा-से-ज्यादा असर है; किन्तु उनमें से कांग्रेस के सदस्य बहुत कम हैं। करोड़ों किसान कांग्रेस पर श्रद्धा रखते हैं, किन्तु सदस्य इसकी बनिस्बत बहुत ही कम हैं।

जिन गांवों में कांग्रेस-कमेटियां जोरों से काम कर रही हैं, वहां किसान-संघ बनाने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि इसमें शक्ति का अपव्यय होगा और दोहरा प्रयत्न भी करना पड़ेगा। ग्रामीण कांग्रेस को ही

अपनी संस्था समझते हैं। हमने देखा है, कई स्थानों में किसान-आन्दोलन शक्तिशाली होते हुए भी वहाँ किसान-संघों की संख्या में वृद्धि नही हुई। जिन गाँवों में काँग्रेस कमेटियाँ ठीक तरह कार्य नहीं कर रही हैं, वहाँ देर या जल्दी से किसान-संस्थायें ज़रूर उनकी पूर्ति करेंगी। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि किसानों में जागृति पैदा हो रही है और उनमें यह भावना आती जा रही है कि उन्हें इस असह्य दशा से अपना छुटकारा करना चाहिए। यद्यपि इस जागृति का मुख्य कारण आर्थिक तंगी है; किन्तु काँग्रेस के नेतृत्व में जो आज़ादी की जद्दोजहद हो रही है, उससे भी उन्हें प्रोत्साहन मिला है और उन्हें बहुत-सी ऐसी बातों का ज्ञान होगया है, जिन्हें वे आज तक निर्जीव प्राणी के समान सहन कर रहे थे। उन्हें संगठन की अहमियत तथा सामूहिक कार्यों की ताक़त का भी पता चल गया है। इसलिए वे इंतज़ार में हैं। अगर काँग्रेस उनकी ओर आकर्षित न हुई तो कोई और संस्था उस ओर जायगी और वे उसका साथ देंगे। लेकिन वही संस्था उनके हृदय में स्थान प्राप्त कर सकती है जो उनकी मुसीबतों को दूर करने का उन्हें मार्ग दिखायगी।

हम देख रहे हैं कि आज ऐसे आदमी भी किसानों का दुःख दूर करने और उन्हें आर्थिक तंगी से मुक्त करने की बात कह रहे हैं जिन्होंने इससे पूर्व कभी भी किसानों की ओर ध्यान नहीं दिया होगा। राजनैतिक प्रतिगामी भी आज किसान-कार्यक्रम की बातें कर रहे हैं। राजनैतिक प्रतिगामियों ने कभी उनको न लाभ पहुँचाया और न पहुँचा सकते हैं; लेकिन इससे हमें यह साफ़ तौर से मालूम हो जाता है कि आज हवा का रुख किस ओर है। अब हमें गाँवों के उन झोपड़ों की ओर ध्यान देना चाहिए, जिनमें हमारे मुसीबतज़दा किसान भाई रहते हैं। यदि उनके दुःख दूर न किये गये तो एकदम भयानक उथल-पुथल मच जायगी। भारत की सबसे बड़ी समस्या अर्थात् किसानों की समस्या ही मुख्य है।

कांग्रेस ने पूरी तरह से इस बात को महसूस कर लिया है। इसलिए राजनैतिक कामों में लगे रहने के बावजूद कांग्रेस ने किसान-कार्यक्रम तैयार

किया है। हालांकि वह कार्यक्रम उनके दुखों को पूरी तरह खत्म नही कर सकता, फिर भी उससे उनका बोझ कुछ हलका होगा। मेरी समझ में कांग्रेस द्वारा तैयार किया गया किसान-कार्यक्रम किसान-सघो द्वारा तैयार किए गये कार्यक्रम से बहुत भिन्न नही है। पर केवल कार्यक्रम तैयार करना ही काफी नही है। किसानों में हमें उस कार्यक्रम को फैलाना चाहिए। उसके आधार पर ही हमें अपनी योजनायें बनानी होगी। भिन्न-भिन्न स्थानो में भिन्न-भिन्न योजनायें बनेंगी। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियो तथा धारा-सभाओ की कांग्रेस-पार्टियों को योजनायें बनानी चाहिए। हम इस कार्यक्रम को इस समय चाहे अमल में न ला सकें; लेकिन समय आने पर उसे अमल में लाने के लिये हमें तैयार रहना चाहिए।

दूसरे देशों में भी ऐसा ही हुआ है, इसलिए यहाँ भी किसान-संघों का बनना जरूरी है। जहाँ कांग्रेस कमेटियाँ हैं, उन गाँवों में किसान-संस्थायें नही चल सकती। जहाँ कांग्रेस कमेटियो का ग्रामीणो से सम्पर्क न हो, वहाँ किसान-सघो का जोर हो जायगा। कुछ भी हो, किसान-सस्थायें बनेंगी ही। हमें सोचना यह है कि उनके प्रति हमारा क्या रुख हो।

हम यह नहीं कह सकते कि किसान-सस्थायें नहीं होनी चाहिए। ऐसा कहना कांग्रेस की निश्चित नीति के खिलाफ होगा। यह उसूल ग़लत होगा और इससे मौजूदा आन्दोलन से भी सघर्ष होगा। मैं यह नही कहता कि किसान-सभायें कांग्रेस का एक अग हो और किसान-सभा का सदस्य बनने के लिए कांग्रेस का सदस्य होना जरूरी हो। किसान-सभाओ को हम अखिल भारत चर्खा-सघ या अखिल भारत ग्राम-उद्योग-सघ के रूप में भी नहीं लेना चाहते।

यह बहुत जरूरी है कि किसान-सघो और कांग्रेस में आपस में लड़ाई न हो। यह दोनो के लिए ही, विशेषतया किसान-सघों के लिए, घातक होगा। यदि ग्रामीण अधिक सख्या में कांग्रेस-सदस्य होंगे तथा प्रमुख कांग्रेस-कार्यकर्ता उनके कार्य में दिलचस्पी लेंगे तो आपस के झगडे की भावना आ ही नही सकती और एक प्रकार से वे कांग्रेस का ही एक अग हो जायेंगी।

इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाइयाँ भी पड़ेंगी और कभी-कभी मतभेद हो जाने का भी डर होगा। हमें इनका सामना करना होगा। हमारी राजनैतिक समस्यायें जितनी वास्तविक होती जाती हैं, उतना ही उनका सम्बन्ध हमारी दैनिक समस्याओं से होता जाता है। समस्याओं का रूप नित्य बदलता रहता है। उनमें विषमता भी उत्पन्न होती रहती है। जीवन ही विषम है, हमें किसी-न-किसी प्रकार इन्हें सुलझाना होगा।

जो बात सैद्धान्तिक रूप से ठीक होती है, वह सदा काम में लाने पर ठीक उतरती हो, ऐसा नहीं है। किसान-संस्थाओं के प्लेटफार्म का उपयोग कभी-कभी कांग्रेस के खिलाफ़ भी होजाता है। प्रतिक्रियावादी भी उससे लाभ उठा लेते हैं और कभी-कभी स्थानीय कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारियों से असन्तुष्ट होकर कुछ व्यक्ति इसका नाजायज़ फ़ायदा उठाते हैं। कांग्रेस-द्रोही तथा वे व्यक्ति जिनपर अनुशासनात्मक कार्रवाई की गई है, इन्हें अपना अड्डा बना लेते हैं। मुझे रिपोर्ट मिली है कि किसी ज़िले में जिला-राजनैतिक कांफ्रेन्स के अवसर पर कुछ दूरी पर किसान-सम्मेलन किये गये हैं। कहीं-कहीं जुलूसों और झण्डे के प्रश्न को लेकर भी झगड़ा हुआ है।

इस प्रकार की बातें सर्वथा आपत्तिजनक हैं। समस्त कांग्रेसमैनों को इनका विरोध करना चाहिए। इससे कांग्रेस के उद्देश्य को तो नुक़सान नहीं पहुंचता; लेकिन किसानों में गोलमाल होजाती है। झण्डे के संबंध में मैं पहले ही लिख चुका हूँ और फिर उसे दोहरा देना चाहता हूँ कि राष्ट्रीय झण्डे का अपमान, चाहे कोई भी करे, सहन नहीं किया जा सकता। हमें लाल झण्डे से कोई शिकायत नहीं। मैं उसकी इज्ज़त करता हूँ। लाल झण्डा मजूरों की जद्दोजहद की निशानी है। लेकिन उसकी राष्ट्रीय झण्डे से होड़ लगाना ठीक नहीं।

कांग्रेस पर किये जानेवाले आक्रमण को हम सहन नहीं कर सकते। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं वे कांग्रेस को हानि पहुँचाते हैं। इससे मेरा यह मतलब नहीं कि कांग्रेस की आलोचना न की जाय। आलोचना करने की सब को स्वतन्त्रता है। किसी भी संस्था के जीवन की यह निशानी है।

ऐसी घटनायें मामूली तौर पर स्थानीय होती हैं और उनपर स्थानीय रूप से विचार होना चाहिए। अगर ज़रूरत मालूम पड़े तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास इसकी रिपोर्ट भेजी जा सकती है। यदि कोई कांग्रेसमैन बार-बार कांग्रेस पर छींट डालने की कोशिश करता है और कांग्रेस की मर्यादा को हानि पहुँचाता है तो उसके मामले पर प्रांतीय कमेटी में विचार होना चाहिए।

इस महान् समस्या को सुलझाने के लिए हमें किसानों से सीधा संबंध स्थापित करना चाहिए। मेरा विचार है कि हमें किसान-सभाओं के साथ सहयोग कर दोस्ती का सम्बन्ध कायम करना चाहिए और हर तरह से कोशिश करनी चाहिए कि दोनों में आपस में झगड़ा न होने पावे। जिन उसूलों पर हमें चलना है, वे बिल्कुल स्पष्ट हैं, लेकिन किसान भी उतने ही मुख्य हैं, और अगर किसान ठीक-ठीक काम करते हैं तो मुसीबतें और झगड़े कम-से-कम होने चाहिएँ।

२८ जून १९३७

: १६ :

काँग्रेस और मुसलमान

मैंने कहा था कि जरूरी तौर पर मुल्क में सिर्फ़ दो दल हैं—सरकार और काँग्रेस। श्री जिन्ना ने अपने वक्तव्य में इसका प्रतिवाद किया है। उन्होंने मुझे याद दिलाई है कि एक तीसरा दल भी है, और वह है भारतीय मुसलमान। अपने व्याख्यान में उन्होंने कुछ बहुत मार्के की बातें कही हैं। मैं विहार में इधर-से-उधर दौड़ रहा हूँ और श्री जिन्ना की तक़रीर पर ज़रूरी ग़ौर करने के लिए मेरे पास वक़्त कहाँ है? लेकिन जो कुछ उन्होंने कहा है, वह महत्वपूर्ण है और मेरे लिए जरूरी होगया है कि अपने बेहद व्यस्त कार्यक्रम में से थोड़ा-सा समय निकालूँ और दिनभर के भारी काम के बाद उसके बारे में कुछ कहूँ।

मुझे दिखाई पड़ता है कि श्री जिन्ना ने जो कुछ कहा है वह निश्चय ही परले सिरे की साम्प्रदायिकता है। बंगाल के इस्लामी मामलों में काँग्रेस के हस्तक्षेप करने पर उन्होंने आपत्ति की है और कहा है कि मुसलमानों को काँग्रेस खुदमुख्तार रहने दे। श्री जिन्ना की यह आपत्ति और माँग बिलकुल वैसी ही बात है जैसी कि हिन्दू-सम्प्रदायवादियों की ओर से भाई परमानन्द ने अक्सर पेश की है। नतीजा देखा जाय तो श्री जिन्ना के कहने का मतलब यह है कि सार्वजनिक विभागों में इस्लामी मामलों में ग़ैर-मुस्लिमों को दस्तन्दाजी करने का कोई हक़ न हो। राजनीति में, सामाजिक और आर्थिक मामलों में मुसलमान एक दल के रूप में अलहदा काम करें, और दूसरे दलों के साथ वैसे ही व्यवहार करें जैसे कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ करता है। ऐसा ही मजदूर-संघ, किसान-संघ, व्यापार, व्यापारी-संघ और ऐसी ही संस्थाओं और कामों में हो। हिन्दुस्तान में मुसलमान वास्तव में एक अलहदा राष्ट्र हैं और जो

इस बात को भूलते हैं, वे 'पाकरुह्' के खिलाफ़ पाप करते हैं और श्री जिन्ना को नाराज़ करते हैं।

लेकिन ये मुसलमान कौन हैं ? सिर्फ़ वे जो श्री जिन्ना और मुस्लिम-लीग के अनुयायी हैं ? जब मौलाना मुहम्मदअली कांग्रेस में शामिल हुए थे, श्री जिन्ना बताते हैं कि वह मुसलमानों के खिलाफ़ लड़े थे। यह तो एक मामूली-सी बात थी कि तब हज़ारों मुसलमान कांग्रेस के सदस्य थे और लाखों की हमदर्दी उसके साथ थी। सहयोग भी उन्होंने दिया। वे मुस्लिम-लीग के घेरे से बाहर थे और श्री जिन्ना के भी कहने में नहीं चलते थे। इसलिए उन्हें ग़ैर-मुस्लिम माना जा सकता है। इसी तरह श्री जिन्ना के कहने के मुताबिक पंजाब और बंगाल के अहरार और किसान-पार्टी-जैसे ताकतवर मुसलमानी-दल भी निश्चय ही मुसलमान नहीं हैं; क्योंकि मुस्लिम-लीग के घेरे से वे बाहर हैं। धार्मिक कट्टरता की यह तो एक नई कसौटी है।

श्री जिन्ना मुसलमानों की बड़ी तादाद के साथ कांग्रेस में हम लोगों से क्या कराना चाहते हैं, यह मैं नहीं जानता। क्या वह चाहते हैं कि हम उनसे इस्तीफ़ा देने के लिए कहें और कहें कि आप घुटने के बल श्री जिन्ना के पास जाइए ? और मुसलमान-किसानों और कार्यकर्ताओं से, जो मेरी बातें सुनने आते हैं, मैं क्या कहूँ ?

यह तमाम मुझे अजीब और नुकसानदेह सिद्धान्त दिखाई पड़ता है। मुसलमानों के लिए वह बहुत ही बेजा है। उनकी 'तीसरे दल' की बात भी खुशी की बात नहीं है और न वह मुसलमानों के लिए तारीफ़ की चीज़ है। इस दल को ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के बीच मुसलमानों का एक राजनैतिक सहायक दल रहना चाहिए था, न कि एक ऐसा दल जो आपस में एक-दूसरे को धोखा दे और सार्वजनिक भलाई को छोड़कर उसकी जगह साम्प्रदायिक फायदा उठाना चाहे।

इन या ऐसी ही साम्प्रदायिक लाइनों पर मैं तो बिलकुल नहीं सोच सकता। श्री जिन्ना से मतभेद रखते हुए मैं तो यह कहूँगा कि ऐसे विचार पुराने और असामयिक हैं। उनका मौजूदा हालतों से और मसलों

से, जो ज़रूरी तौर पर आर्थिक और राजनैतिक हैं, कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म वैयक्तिक मामला है और श्रद्धा का बन्धन भी है। लेकिन धर्म को राजनैतिक और आर्थिक मामलों में ठूंसना तो निरी अज्ञानता है। उससे असली मसले किनारे होजाते हैं। मुसलमान किसानों और हिन्दू किसानों के हितों में फ़र्क ही क्या है ? और क्या मुसलमान मजूर, दस्तकार, व्यापारी, ज़मींदार, और तैयार माल पैदा करनेवाले, हिन्दुओं से भिन्न हैं ? उनके बीच में बन्धन तो सबका आर्थिक-हित है और खास तौर से एक ग़ुलाम मुल्क के बारे में वह राष्ट्रीय-हित है। धार्मिक मसले उठें, धार्मिक झगड़े हों। उनका मुकाबिला किया जाय। उन्हें तय किया जाय; लेकिन उनको सुलझाने का तरीका तो यह है कि उनके झगड़े और असर के घेरे पर हद बांध दी जाय और राजनीति और अर्थ-शास्त्र में दख़लदराज़ी करने से उन्हें रोका जाय। राजनैतिक और आर्थिक मसलों में साम्प्रदायिक विचारों को प्रोत्साहन देना तो प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन देना है और मध्यकालीन युग में पहुँचना है। यह ठीक नहीं है; क्योंकि उससे असलियत भुलादी जाती है।

आज की असलियत तो गरीबी है, क्षुधा है, बेकारी है और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के बीच संघर्ष है। इन सबपर साम्प्रदायिक रूप से कैसे विचार किया जाय ?

यों आज मुल्क में बहुत-से दल हैं, पार्टियाँ हैं, अजीबोग़रीब आदमी हैं; लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, मौजूदा लड़ाई साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद की है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से 'तीसरे दलों' और बीच के और अनिश्चित ग्रुपों वग़ैरा की कोई अहमियत नहीं है। फलस्वरूप उनकी कोई बड़ी ताक़त भी नहीं है। चुनाव या ऐसे ही मौक़े आते हैं तो वे भी काम करने लगते हैं। चुनाव बीतने पर वे भी ख़त्म हो जाते हैं। कांग्रेस भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करती है और उसपर एक महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी है। इसी की वजह से सिर्फ़ कांग्रेस ही एक संगठन है, जिसने हिन्दुस्तान में बड़ा मान पाया है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ़ खड़े होने के लिए ताक़त और इच्छा पाई है। इस तरह अन्तिम

विश्लेषण से पता चलता है कि हिन्दुस्तान में आज दो ही ताकतें हैं— ब्रिटिश साम्राज्यवाद और कांग्रेस जो भारतीय राष्ट्रवाद की प्रतिनिधि है। मुल्क में और भी बडे तबके हैं जो नये सामाजिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं; लेकिन वे कांग्रेस से सम्बद्ध हैं। साम्प्रदायिक दलबन्दियों को हालाकि कभी-कभी अहमियत दे दी जाती है; लेकिन वास्तव में उनकी असली अहमियत कुछ भी नही है।

लेजिस्लेटिव एसेम्बली में एक दल के श्री जिन्ना नेता हैं। उस दल के सदस्यों ने दिखा दिया है कि वे एक-दूसरे से और दूसरे दलों से एकदम आजाद हैं। ऐसा क्यो है? क्योकि उनके बीच कोई सामान्य सिद्धान्त या नीति नही है जो उन्हे एक-दूसरे से बाँधे रक्खे और जब कोई अन्दरूनी समस्या सामने आती है तो वे अलहदा होजाते हैं। यही हाल कुदरती तौर पर साम्प्रदायिक दलो का भी होगा।

डिक्टेटरों और उनके अनुयायियो का यहां सवाल नहीं है। कांग्रेस तो प्रजातन्त्रीय सगठन है जिसकी जडें गहरी हिन्दुस्तान की धरती में पैठी हुई हैं। उसका दरवाजा हरेक ऐसे हिन्दुस्तानी के लिए खुला है जो आजादी में विश्वास करता है। कांग्रेस के लिए अहम मसला जनता का है, जिसने हम गरीबी से और लोगों के शोषण से छुटकारा पाते। हो सकता है कि कांग्रेस कभी गलती कर दे; लेकिन वह हमेशा राष्ट्र और राष्ट्रीय आजादी की ही परिभाषा में सोचने की कोशिश करती है और जानबूझकर सकट या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को दूर रखती है।

मुसलिम-लीग का आखिर उद्देश्य क्या है? क्या वह हिन्दुस्तान के लिए आजादी पाना चाहती है, और साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहती है? मुझे यकीन है ये बातें वह नहीं चाहती। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें बहुत बड़े नामी मुसल्मान हैं; लेकिन उनका सम्बन्ध उच्च मध्यमश्रेणी के ऊँचे भागों से है और मुस्लिम-जनता से उनका कोई सबन्ध नहीं है। निम्न मध्यमश्रेणी के साथ भी उनके सम्बन्ध बहुत कम हैं। श्री जिन्ना से मैं यह कहूँगा कि मुसलिम-लीग के बहुत-से मेम्बरों की बनिस्बत मुस्लिम-जनता के सम्पर्क में मैं ज्यादा आता

हूँ। उन लोगों की वनिस्वत, जो कौंसिल में 'फ़ी सदी' सीटों और स्टेट की नौकरी की बातें करते हैं, मैं उन लोगों की भूख, ग़रीवी और मुसीवतों को ज्यादा जानता हूँ। पंजाव और दूसरी जगहों पर मेरे भापण सुनने के लिए मुसलमान ही ज्यादा आये। उन्होंने साम्प्रदायिक समस्या या 'फ़ी सदी' या पृथक् निर्वाचकों के वारे में मुझसे कुछ नहीं पूछा। उनकी दिलचस्पी तो वेहद मालगुज़ारी, लगान, कर्ज़, आवपाशी, वेकारी तथा और वहुतसे वोझों के वारे में थी, जिन्हें वे सिर पर लादे फिरते हैं।

राष्ट्रपति (कांग्रेस का अध्यक्ष) की हैसियत से मुझे देशभर के उन असंख्य मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का गौरव और मौक़ा मिला है जिन्होंने आज़ादी के जंग में एक वहादुराना हिस्सा लिया है, जिन्होंने आज़ादी के लिए वड़ी मुसीवतें उठाई हैं और जो कांग्रेस के झंडे के नीचे दूसरों के साथ कंधे-से-कन्धा मिलाये हमारे ऐतिहासिक युद्ध में खड़े रहे हैं। मैं उन वहादुर मुसलमान-साथियों का भी प्रतिनिधित्व करता हूँ जो अव भी हमारी फ़ौजों में आगे खड़े होते हैं और जो पिछले सालों के वोझ और मुसीवतों में भी कांग्रेस के प्रति सच्चे रहे हैं। लोग भूखे हैं, ग़रीव हैं, उनकी माँग है कि उन्हें रोटी मिले, ज़मीन मिले और काम मिले। और वहुत-से वोझ जो उन्हें कुचले डाल रहे हैं, उनसे भी वे छुटकारा चाहते हैं। असह्य दमन से छुटकारे की भावना उनमें है। इन वातों में मैं मुसलमानों और हिन्दुओं, दोनों का प्रतिनिधित्व करता हूँ। मैं सवका प्रतिनिधित्व करता हूँ; क्योंकि कांग्रेस उनका प्रतिनिधित्व करती है। कांग्रेस ने मुझे आदेश दिया है कि मैं उसके सिद्धान्तों को ऊँचा उठाये रहूँ और हमारे देश में फैले अन्धकार और हमारे उत्पीड़ित आदमियों को आशा, शक्ति और रोशनी देने के लिए उसने जो मशाल जलाई है, उसे भी ऊँचा रक्खूँ।

कांग्रेस हर तरह के सहयोग का स्वागत करती है। उसने साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संयुक्त मोरचा लेने की ज़रूरत पर भी वार-वार ज़ोर दिया है। वह तो खुशी के साथ मुसलिम-लीग तथा दूसरे संगठनों को सहयोग देगी; लेकिन इस सहयोग की वुनियाद में साम्राज्यवाद का

विरोध और जनता की भलाई होनी चाहिए । उसकी राय में मुट्ठीभर उच्चवर्ग के आदमियों की ऐसी किसी भी संधि या समझौते का सच्चा और स्थायी मूल्य नहीं है जो जनता के हितों को दरगुज़र करता है। कांग्रेस तो जनता के साथ है जिससे उसका सम्बन्ध है; क्योंकि सबसे अधिक जनता के हितों से ही उसका सम्बन्ध है । लेकिन कांग्रेस जानती है कि हिन्दू और मुस्लिम जनता साम्प्रदायिक सवालों की ज्यादा परवा नहीं करती । उन्हें तो तात्कालिक और सतत आर्थिक सहायता चाहिए और उसे पाने के लिए राजनैतिक आज़ादी । इस विस्तृत आधार पर देश के उन सब तत्वों का सहयोग हो सकता है जो सामूहिक रूप में मानव-जाति का हित चाहते हैं और साम्राज्यवाद से छुटकारा चाहते हैं ।

१० जनवरी १९३७ ।

: १७ :

मज़दूर और कांग्रेस

आज दुनिया जिस भारी सामाजिक और आर्थिक संकट में होकर गुजर रही है, उसमें मजदूरों के सामने बड़ा महत्वपूर्ण दायित्व है; क्योंकि अनिवार्य रूप से आदर्शवादी नेतृत्व का बोझ मजदूर के ही हाथ रहता है। हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय लड़ाई ने सामाजिक भेदों को ढक लिया है और छिपा दिया है; लेकिन दुनिया की घटनायें आज आगे बढ़ रही हैं और राष्ट्रीय आन्दोलनों को भी ज्यादा-से-ज्यादा आर्थिक और सामाजिक आन्दोलन बनाये दे रही हैं। दुनियाभर में मज़दूरों और स्थापित स्वार्थों में भारी लड़ाई चल रही हैं। दाव ऊँचे लगे हैं और इसलिए हम न तो अपनी राष्ट्रीय लड़ाई में, न सामाजिक लड़ाई में मामूली परिवर्तन कराकर ही समझौता कर सकते हैं। अगर हमें दुनिया की परिस्थिति से फ़ायदा उठाना है तो हमें पक्का विचार कर लेना चाहिए कि शासन-पद्धति को एकदम पूरी तरह से बदलने के लिए हम लड़ेंगे। और किसी से हमें संतोष न होगा, न और किसीसे हमारी समस्यायें ही सुलझेंगी।

आज हिन्दुस्तान में विचारों की कुछ गड़बड़ी फैल रही है। हिन्दुस्तान के पुराने राष्ट्रवादी आदर्श दुनिया की मौजूदा हालतों से मेल नहीं खाते। इसलिए हिन्दुस्तान विचार करने का नया तरीक़ा ग्रहण करने के लिए संघर्ष कर रहा है। यह प्राचीन को बदलकर नये पर आने की कोशिश बड़ा दुःख दे रही है और गड़बड़ी पैदा कर रही है; लेकिन कोशिश जारी ही रहनी चाहिए; क्योंकि सिर्फ़ इसी तरह सामाजिक क्रान्ति के प्रगतिशील आदर्श को लेकर हिन्दुस्तान आज़ादी की और दुनिया की लड़ाई में अच्छी तरह हिस्सा ले सकता है।

ऐसी सामाजिक लड़ाई में मजदूर का स्थान हमेशा प्रमुख रहा है।

इसलिए हिन्दुस्तान के मजदूरों को अपनी सुस्ती छोड़कर उठ बैठना चाहिए और अपने साथियों को लेकर बहादुरी और विश्वास के साथ परिस्थिति का मुकाबिला करना चाहिए। अपने डरपोक रुख को और मामूली सुधारों के लिए माँगों को छोड़ देना चाहिए और अहम मसलों में, जो हमारे और दुनिया के सामने हैं, हिस्सा लेना चाहिए। ऐसे अवसर कम ही आते हैं। हिन्दुस्तानियों की आजादी के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन और सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनों को साथ मिलकर चलना चाहिए।

मजदूर उत्पादक मजदूर-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, यानी वह वर्ग जो भविष्य का आर्थिक और ऐतिहासिक रूप में बहुत ही महत्वपूर्ण वर्ग है। इसलिए मजदूर के लिए यह संभव है कि वह कांग्रेस की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विचार रक्खे। उसूलन मजदूर मुल्क का बहुत ही क्रान्तिकारी दल होता है; क्योंकि भविष्य की शक्तियों का वह प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन दूसरे विदेशी शासन के मातहत मुल्कों की तरह, हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय समस्या सामाजिक समस्याओं को ढक देती है और राष्ट्रवाद सामाजिक लड़ाई की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी है। फिर भी दुनिया की घटनायें आर्थिक मसलों को आगे-से-आगे लाती जा रही हैं और राष्ट्रीय मस्यायें तक इन्हीं मसलों से प्रभावित हो रही हैं।

मैं स्पष्ट रूप से देखता हूँ कि मजदूरों को ट्रेड-यूनियनों में या वैसे ही संघों में बिलकुल अलहदा अपना संगठन करना चाहिए, नहीं तो वह मिले हुए राष्ट्रीय दलों में विलीन होजायगे। साथ ही मजदूरों को यह भी महसूस करना चाहिए कि आज मुल्क में राष्ट्रवाद सबसे मजबूत शक्ति है और उसे पूरी तरह से उन्हें सहयोग देना चाहिए। उन्हें आर्थिक मसलों में उसपर प्रभाव डालने की कोशिश भी करनी चाहिए।

मैं कांग्रेस के अलावा मजदूरों की और कोई राजनैतिक पार्टी बनने के उसूलन खिलाफ नहीं हूँ; लेकिन मुझे डर है कि आज ऐसी पार्टी बनाने का नतीजा यह होगा कि कुछ व्यक्ति जो मजदूर की कीमत पर अपनेको आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं, मजदूर का शोषण करेंगे।

राष्ट्रीय कांग्रेस, जैसा उसके नाम से पता चलता है, एक राष्ट्रीय संस्था है। उसका ध्येय हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय आज़ादी हासिल करना है। उसमें वहुत-सी ऐसी श्रेणियां और दल भी शामिल हैं, जिनके वास्तव में विरोधी सामाजिक हित हैं; लेकिन इस वक्त एक सामान्य राष्ट्रीय प्लेटफार्म उन्हें संगठित रख रहा है। पिछले सालों में काँग्रेस का झुकाव समाजवादी कार्यक्रम की ओर हुआ है; लेकिन समाजवादी होने से वह वहुत दूर है।

निजी तौर पर मैं चाहूँगा कि कांग्रेस खूब आगे वढ़े और पूरा समाजवादी कार्यक्रम ग्रहण करले। मैं यह भी मानता हूँ कि आज काँग्रेस में ऐसे वहुतसे दल हैं जो विचारों में वहुत पिछड़े हुए हैं और कांग्रेस को आगे वढ़ने से रोकते हैं। यह सव मानते हुए भी, मुझे ज़रा भी शुवह नहीं है कि हाल के सालों में कांग्रेस हिन्दुस्तान में कहीं अधिक युद्धशील संस्था रही है। मुझे उन आदमियों पर वड़ी हँसी आती है जो ख़ुद तो कुछ करते-कराते नहीं हैं और कांग्रेस पर दोप लगाते हैं कि वह युद्धशील नहीं है। हमारे वहुतसे तथाकथित समाजवादी युद्धशीलता को सिर्फ कहने तक ही या उसपर वढ़-चढ़कर वातें मारने तक ही सीमित रखते हैं। यह एक भारी खतरे की वात है।

उन कांग्रेसमैनों को जो मज़दूरों के मामलों में दिलचस्पी रखते हैं, अपने काम का रास्ता इस प्रकार वनाना चाहिए: वे अलहदा-अलहदा मज़दूर-संघों में काम करें और अपनी ही एक विचार-धारा और काम का कार्यक्रम वनाने में मज़दूरों की मदद करें। वह कार्यक्रम जहाँतक हो, युद्धशील हो, चाहे कांग्रेस के कार्यक्रम से आगे हो। राष्ट्रीय कांग्रेस में, मज़दूरों के कार्यक्रम से मेल रखते हुए आर्थिक-दिशा को रखने की कोशिश करनी चाहिए। अनिवार्यरूप से कांग्रेस का कार्यक्रम, जहांतक विचारों का संवन्ध है, उतना आगे नहीं होगा जितना मज़दूरों का कार्यक्रम होगा। लेकिन युद्धशील कारंवाइयों में सहयोग रखना भी विलकुल संभव है।

नवम्वर १९३३।

: १८ :

सरकार की सरहद्दी-नीति

दो महीने से कुछ कम हुए ब्रिटिश सरकार ने स्पेन की सरकार और वहाँ के विद्रोहियों को एक संदेश भेजा था। कहा गया था कि वे दोनों हवाई जहाज से नागरिक आबादी पर बम न बरसावें। यह संदेश स्पेन में लड़ने वाले दोनों दलों के लिए भेजा गया था; लेकिन असल में उसका तात्कालिक कारण यह था कि बास्क मुल्क के कुछ कस्बों पर बम बरसाये गये थे। ये बम अधिकतर जनरल फ्रैंको के मातहत जरमनी और इटली के हवाई जहाजों ने बरसाये थे। कोई साल भर से, जबसे कि स्पेन में विद्रोह शुरू हुआ है और विदेशी ताकतों ने स्पेन पर हमला किया है, तबसे उस अभागे मुल्क में फासिस्ट सैनिक गुट्ट ने जो नृशंसताएँ की हैं, उनके हवाले सुनते-सुनते दुनिया परेशान होगई है। गर्नीका के खुले शहर पर आग लगाने वाले बम बरसाये गये जिससे आठसौ नागरिकों की जानें चली गई और शहर का बहुत बड़ा हिस्सा बरबाद हो गया। दुनिया के राष्ट्रों को यह खबर सुनकर भारी धक्का लगा।

ब्रिटिश-सरकार ने इसकी मुखालफत करने और नाराजी दिखाने के लिए एक समाचार भेजा। विदेशी मामलों में समाचार भेजना भर ही अब ब्रिटिश सरकार का मुख्य काम है। और फिर भी तभी उसने खुद हिन्दुस्तान को उत्तरी-पश्चिमी सरहद पर हवाई जहाज से बम बरसाये। जरा भी देर में मौजूदा साम्राज्यवाद की असली सूरत और कायरता दिखाने का यह एक अजीबोग़रीब और महत्वपूर्ण संयोग था।

एक ही चीज जो स्पेन के लिए विकराल और खूखार है, वह हिन्दुस्तान या उसकी सरहद के लिए कैसे मुनासिब हो सकती है? औचित्य उसका चाहे जो कुछ हो, पर भयानकता तो भयानकता ही है और

आचरण के कुछ निश्चित मापों को दरगुज़र और दूर सिर्फ़ उस सभ्यता और संस्कृति के खतरे पर ही किया जा सकता है जिसे सालों तक पसीना बहाकर दुनिया ने दुःख सह-सहकर तैयार किया है। दुनियाभर के आदमी इस बात को महसूस करते हैं और हवाई जहाज से नागरिकों पर बम बरसाने की नई क्रूरता के खिलाफ़ अपनी आवाज़ उठाते हैं। लेकिन फ़ासिज्म और साम्राज्यवाद पर इस चारों तरफ़ से उठती आवाज़ का कोई असर नहीं होता। वे दोनों तो जुड़वाँ भाई ठहरे न! बेगुनाह आदमियों की वेदना और सभ्यता का विध्वंस और उस अनमोल चीज़ का पतन जिसका मनुष्यता पोषण करती है, ये सब उन्हें ज़रा भी नहीं छूते। उनका हवाई जहाज़ से बम बरसाना जारी रहता है और आदमियों और औरतों, लड़के और लड़कियों और दूध पीते बच्चों को नष्ट करना या अपाहिज़ करना भी बन्द नहीं होता।

लेकिन मनुष्यता को छोड़िए, सरहद पर बम बरसाने की बात पर हम विचार करें। कांग्रेस ने उसकी निन्दा की है, और हरेक अक्लमंद आदमी को उसकी निन्दा करनी ही चाहिए। बम बरसाने के पीछे जो असली उद्देश्य है सरहद की उग्र नीति, उसकी भी कांग्रेस ने निन्दा की है। हमसे कहा गया है कि ब्रिटिश-सरकार ने बम उन लड़कियों को बचाने और महफ़ूज रखने के लिए बरसाये, जिन्हें भगाकर लेजाया गया था। यह कैसी अजीब बात है कि लड़कियों का भगाया जाना सरकार की सरहदी नीति से मेल खाये, जैसे कि सम्प्रदायवाद हिन्दुस्तान की बड़ी नीति से मेल खाता है। हमें याद आता है कि किस प्रकार मिशनरियों के दुनिया के भिन्न-भिन्न हिस्सों में भगाये जाने से विभिन्न साम्राज्यवादी ताक़तों के साम्राज्य फैलने में मदद मिली थी। क्या वैसी ही प्रणाली सरहद में भी काम करती हमें दिखाई देती है?

यह स्पष्ट है, बहस भी उसपर नहीं की जा सकती, कि लड़कियों को भगाकर ले जाना एक वहशियाना और अमानुषिक काम है और हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। वह सरकार जो इसे नहीं रोक सकती, यही ज़ाहिर करती है कि वह अयोग्य है। लेकिन राजनीति के नौसिखिए

तब के लिए यह भी स्पष्ट है कि हवाई जहाजों से बम बरसाने और फौजी चढ़ाई करने का कोई नतीजा नहीं निकलता जबतक कि उनके पीछे नीति संबंधी कोई खास कारण न हों। हिन्दुस्तान में वह नीति क्या रही है, और है, यह हम सब जानते हैं। पुश्तों से सरकार सरहद में जुटी रही है, जाहिरा तौर से वहां की समस्या को सुलझाने की कोशिश भी उसने की है; लेकिन असल में उसने उस समस्या को और भी बिगाड़ दिया है। पूछा जा सकता है कि इस नाकामयाबी का कारण सरकार की नितान्त अयोग्यता है, या सरकार की उसे सुलझाने की इच्छा ही नहीं है जिससे कि वह लगातार भड़कानेवाली बनी रहे और जिससे बार-बार सरहदी कार्रवाइयां होती रहें जिनकी अनिवार्य प्रतिक्रिया हिन्दुस्तान की राजनीति पर होती रहे, या दोनों। लेकिन करीब-करीब हरेक आदमी इस बात को मानता है कि सरहद में सरकार की नीति एकदम नाकामयाब रही है।

यह बात देखने में सच है। लेकिन ऐसी बात कह देना तो बहुत ही मामूली बात कह देना है, क्योंकि अंग्रेज मूर्ख नहीं हैं और अपनी साम्राज्यवादी नीतियां बनाने में वे सरहद तक ही नहीं बल्कि आगे तक देखते हैं। पुराने दिनों में उन्होंने अपनी निगाह ज़ार तक फैलाई और उसके बढ़ते हुए राज्य को देखा। अब ज़ार तो चला गया, लौटकर नहीं आयगा। लेकिन वही आकर्षण अभी बना हुआ है। वे करीब-करीब हिन्दुस्तान की सरहदों तक फैले सोवियट राज्यों पर निगाह डालते हैं। मध्य-एशिया के इस हिस्से में उन्हें अपने हिन्दुस्तान के राज्य, हिन्दुस्तान के रास्ते और दुनिया में अपने दर्जे के खोने का डर लगा रहता है। सारी संकट में, जो सिर पर खड़ा है, हिन्दुस्तान की सरहद और उसके आस-पास के मुल्कों का एक निश्चित महत्व हो सकता है। यह सच है कि सोवियट यूनियन दुनिया के और दूसरे किसी भी मुल्क की बनिस्बत अधिक उत्सुकता से शान्ति चाहता है। यह भी सच है कि सोवियट यूनियन ने इंग्लैण्ड से दोस्ती करने की भारी कोशिश की है। फिर भी दोनों देशों में कुदरतन वैर तो बना ही है और संकट आने पर वह साफ़ दिखाई देने

लग सकता है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इंग्लैण्ड के कर्मचारियों ने छोटे-छोटे हितों और नेकनामी की परवा न करके अप्रत्यक्ष रूप से स्पेन के विद्रोहियों को मदद दी है और यूरप में नाज़ी-नीति का समर्थन किया है। अंग्रेज़ों की विदेशी नीति में और बहुतसे विचारों की अपेक्षा कहीं ज्यादा विचार साम्राज्यवाद और फ़ासिज्म के सच्चे संबंध बनाये रखने का होता है।

इस तरह हिन्दुस्तान की सरहद और उससे आगे के मुल्कों के बारे में सरकार सोचती है कि आगे होनेवाली लड़ाई का मोरचा वहीं होगा और उसकी तमाम नीति लड़ाई के लिए अपनेको ताकतवर बनाने की है। यह नीति सरहद की जातियों से शान्ति रखने और सहयोग की नहीं है। वह तो आखिरकार आगे बढ़ने और अधिक-से-अधिक हिस्से पर काबू करने की है, जिससे लड़ाई का मोरचा उनके मौजूदा आधार से कुछ और आगे बढ़ जावे। उनके फ़ौजी विचार राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक बातों को दरगुज़र करके राज्य को बढ़ाकर और इस तरह उसे हमलों से महफ़ूज़ बनाने की ही परिभाषा में चलते हैं। वास्तव में यह ढंग किसी भी राज्य को अक्सर कमज़ोर बना देता है। हिन्दुस्तान में ग़ैरफ़ौजी विभागों में भी हम फ़ौजी दिमाग़ को काम करते पाते हैं; क्योंकि एक ग़ैरफ़ौजी आदमी सोचता है, और ठीक ही सोचता है, कि वह खुद विदेशी फ़ौज का उतना ही मेम्बर है जितना कि एक सिपाही।

इन्हीं सबसे सरहद में तथाकथित 'उग्र नीति' चली है; क्योंकि एक उग्र कार्रवाई के लिए यह बहाना काफ़ी अच्छा है जिसका फ़ायदा उठाया जाना चाहिए। इस बुनियाद को लेकर ही हमें सरहद पर और उसके पार की मौजूदा घटनाओं पर विचार करना चाहिए।

यह उग्र नीति लड़ाई की भारी तैयारी ही बन जाती है; क्योंकि भविष्यवाणी की गई है कि वह समय दूर नहीं है, जब महायुद्ध होगा। इस उग्र नीति की तो हम मुखालफ़त करते हैं, साथ ही लड़ाई की तैयारी के रूप में भी हम उसका विरोध करते हैं। कांग्रेस ने कह दिया है कि हिन्दुस्तान साम्राज्यशाही लड़ाई में हिस्सा नहीं लेगा और कांग्रेस के इस

बयन और नीति पर हमें दृढ़ रहना चाहिए। किन्हीं खयाली कारणों से नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान के आदमियों के ठोस और स्थायी हितों और उनकी आज़ादी के लिए हमें ऐसा करना चाहिए।

इस उग्र नीति का एक पहलू—साम्प्रदायिक—और है। जिस प्रकार साम्प्रदायिकता का कीड़ा साम्राज्यवाद में पोषण पाकर हमारे सार्वजनिक जीवन और हमारी आज़ादी की लड़ाई को कमज़ोर करता है और नुक़सान पहुँचाता है, उसी तरह से यह उग्र नीति सरहद में उस कीड़े को पैदा करती है और हिन्दुस्तान और उसके पड़ोसियों में मुसीबत पैदा करती है। सरहद में ब्रिटेन की नीति सरहदी जातियों को रिश्वत देकर अपनी ओर मिलाने और फिर धात किन करने की रही है। यह नीति तो मूर्खतापूर्ण है और उसका नाकामयाब होना जरूरी है। आज़ाद हिन्दुस्तान की नीति कभी भी उनके बारे में ऐसी नहीं होगी। कांग्रेस ने बार-बार कहा है कि अपने पड़ोसियों से उसका कैसा भी कोई झगड़ा नहीं है और वह उनके साथ दोस्ताना और सहयोग का सम्बन्ध कायम करना चाहती है। इस तरह ब्रिटिश-सरकार की उग्र नीति और हमारे इरादों में सीधा संघर्ष पैदा होता है और उसमें नई समस्यायें पैदा होती हैं, जिनका भविष्य में हल निकालना मुश्किल होगा। जहाँतक हो सकता है, हमें ऐसा होने से रोकना चाहिए। इससे हमारे लिए ज़रूरी होता है कि अपने बुनियादी उसूलों पर हम पक्के रहें और किसी भी दूसरी बात का असर अपने ऊपर न होने दें।

मुझे पूरी उम्मीद है कि अगर हम दोस्ताना तरीके से मिलें, अगर हमको मिलने की आज़ादी हो, तो सरहद की मुसीबत का खात्मा हो सकता है। सिर्फ एक ही आदमी खान अब्दुलगफ्फारखाँ, जिन से सरहद में हर तरफ प्रेम किया जाता है, सरहद की समस्या को तय कर सकते थे। लेकिन अंग्रेज़ों के इन्तज़ाम ने वह अपने प्रान्त में घुस भी नहीं सकते। खान अब्दुलगफ्फारखाँ को भी छोड़िए, मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि कांग्रेस अगर समस्या को सुलझाने की कोशिश करती है तो उसे कामयाबी मिलेगी। सरहदी जातियों के सरदार जल्दी ही इस

बात को महसूस करेंगे कि उनके और हमारे हितों में कोई-संघर्ष नहीं है और वे लड़कियों के भगाने और आक्रमणकारी हमले करने के अपवादों को खत्म करने में हमारी मदद करेंगे। वे यह भी महसूस करेंगे कि इस रास्ते के अलावा और किसी भी रास्ते से, उनकी जो कुछ आजादी है, वह भी खतरे में पड़ जायगी; क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी उग्र नीति को चलाने के लिए आगे-से-आगे बढ़ने पर कमर कसे हुए हैं। वे साम्राज्यवाद को उसके काम के लिए मौक़े देकर उसके हाथों की कठ-पुतली बने हुए हैं और लड़कियों के भगाने और हमले करने में हिस्सा लेकर वे हिन्दुस्तान के साथ ग़ैरदोस्ताना भावनायें पैदा करते हैं।

सरहद में हाल ही में जो घटनायें हुई हैं, उनपर हम विचार करें। पन्द्रह-सोलह बरस की लड़की रामकुँवर किसीके साथ गायब होगई। यह घटना बिलकुल स्थानीय और वैयक्तिक मामला था और उसकी कोई बड़ी अहमियत नहीं थी; लेकिन यकायक वह एक खास घटना बन गई और पड़ौस में उससे साम्प्रदायिक भावनायें भड़क उठीं। म्यूनिसिपल और असेम्बली के चुनावों के लिए खड़े हुए उम्मीदवारों ने उससे नाजायज़ फ़ायदा उठाया। यह है साम्प्रदायिक चुनावों की खासियत! मामला साफ़ तौर से ऐसा था कि उसे निजी तौर पर तय कर दिया जाता या लड़की की अपनी इच्छा के मुताबिक अदालत से तय करा दिया जाता। ऐसी घटना से न तो हिन्दू-धर्म को, न इस्लाम को कोई फायदा पहुँचा, नुक़सान भी नहीं पहुँचा। अदालत बीच में आई और मज़े की बात यह कि रामकुँवर के साथ जानेवाले आदमी को सजा इस जुर्म की बुनियाद पर मिली कि लड़की नाबालिग़ थी, उसकी उम्र सोलह बरस से कम थी। वह लड़की को जबरदस्ती भगाकर ले जाने का मामला नहीं ठहराया गया। प्रतिवाद में लड़की ने बहुत-से वक्तव्य दिये, जैसे कि उन ग़ैर-मामूली हालतों में कोई लड़की दे सकती थी।

शायद मामला वहीं खत्म होजाता; लेकिन असेम्बली के चुनावों ने उसे और आगे बढ़ा दिया; क्योंकि उम्मीदवारों ने उससे पूरा-पूरा फायदा उठाया। इस घटना से वज़ीरिस्तान या सरहदी जातियों से कोई सम्बन्ध

नहीं है। वजीरिस्तान में उस वक्त कुछ मुसीबत पहले से ही उठ खड़ी हुई थी, उसका रामकुंवर के मामले से कोई सम्बन्ध नहीं था। कुछ अपने ही कारणों से वजीरी ब्रिटिश-सरकार के खिलाफ काम कर रहे थे। लेकिन चुनाव के दिनों में रामकुंवर के मामले के प्रचार से खासतौर से साम्प्रदायिक जोश बढ़ गया। उसने वजीरियों पर भी असर डाला और चुनाव खत्म होने पर उसके बड़े बुरे नतीजे निकले। चार हिन्दू लड़कियों को वहां के बुरे चाल-चलनवाले आदमियों की मदद से कुछ वजीरी जबरदस्ती भगाकर ले गये। ऐसा शायद रामकुंवर का बदला लेने के लिए हुआ। उसके बाद बहुतसी डकैतियां हुई।

यह सब, जहांतक मुझे याद है, बन्नू जिले में हुआ। यह एक ध्यान देने लायक बात है कि इसी जिले में एसेम्बली के चुनावों के दिनों में कांग्रेस के उम्मीदवारों की बुरी तरह हार हुई। जहां कांग्रेस मजबूत है, वहां ऐसी बात नहीं हुई। सम्प्रदायवाद और मुसीबतें साथ-साथ चलती हैं।

इन लड़कियों के भगाने और डकैतियों से दो बातें साफ निकलती है। एक तो देहातों में थोड़ी तादाद में रहनेवाले हिन्दू कुदरतन आतंकित हो गये और होश-हवास खो बैठे। सबसे ज्यादा तो वे इसलिए घबराये कि उनके मुसलमान पड़ोसियों ने, जिनकी संख्या उस आबादी में बहुत ज्यादा थी, न तो उन्हें मदद दी और न उन्हें बचाया। जो कुछ घटनायें घटीं सो तो घटीं ही, उनसे भी बुरी-बुरी खबरें इधर-उधर उड़ाई गईं।

दूसरी बात यह निकली कि उग्र नीति सामने आई। अब तो उनके लिए बहुत बहाना मिल गया है। तब तो उन्हें आगे बढ़कर लड़कियां को भगानेवाले आदमियों को और बेचारे असहाय आदमियों के यहां डकैती डालनेवालों को सजा देनी थी न? इसलिए वे जिन्होंने कमजोरों के रक्षक होने का दावा किया, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की योजनायें पूरी करने के लिए आगे बढ़े। इधर-उधर उन्होंने मनमाने बम बरसाये और वहांपर बरबादी और मुसीबतें पैदा कर दीं।

अल्पसंख्यक डरे हुए हिन्दुओं पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह आसानी

से समझी जा सकती है। पहाड़ी जातियों के गुस्से को भी समझना आसान है, जिन्होंने अपने चारों तरफ़ बरबादी और मौत देखी और उसका कारण साम्प्रदायिक विवाद माना। उन दोनों के लिए सम्प्रदायवाद की परिभाषा में सोचना और काम करना मूर्खता की बात थी; क्योंकि वे दोनों ही साम्राज्यवाद की उस बड़ी नीति के शिकार थे, जो आदमियों के दुःख की परवा न करके अपना काम करती है। हिन्दुओं के लिए उस सरहदी सूबे में साम्राज्यवाद और उसकी नीति का समर्थन करना मूर्खता और कायरता की हद ही नहीं है; बल्कि अपने लिए बरबादी को न्योता देना है। उस सूबे में बिना अपने पड़ोसियों की मदद और इच्छा के वे न तो रह सकते हैं और न खुशहाल ही हो सकते हैं। गाँवों के उन मुसलमान पड़ोसियों के लिए अपनी आँखों के सामने लड़कियों को भगाते हुए और डकैतियाँ पड़ते देखते रहना, दुनिया के सामने अपनेको पतित बनाना है। पड़ोसियों के लिए ऐसा मुनासिब नहीं है। सरहदी जातियों के लिए लड़कियों के भगाने में या हमला करने में कोई मदद देना अपनेको बदनाम करना है और अपनी आज़ादी को खतरे में डालना है।

हमारी नीति साफ़ है। हम सरकार की इस उग्र नीति का समर्थन नहीं कर सकते; क्योंकि वह बुरी नीति है और वह हमारी आज़ादी की लड़ाई की जड़ पर ही कुल्हाड़ी मारती है। वह हमारे दोस्तों को हमारा दुश्मन बनाती है। वह लड़ाई की तैयारी है और साम्राज्यवादी नीति है। हवाई जहाजों से बम बरसाने की हैवानियत और अमानुषिकता को हम नहीं सह सकते। सरहदी समस्या पर विचार करने का हमारा तरीक़ा ही दूसरा होगा। उसकी बुनियाद दोस्ती, सहयोग और दूसरों की आज़ादी की इज्जत करना और उनकी कठिनाइयों का आर्थिक हल निकालने की कोशिश करना होगा।

यह भी इतना ही साफ़ है कि हम लड़कियों के भगाये जाने, डकैतियाँ डालने, हमले करने को बर्दाश्त नहीं कर सकते। हमारी हमदर्दी इन सबसे पीड़ित लोगों के साथ है और यह हमारा कर्तव्य है कि हम उनकी रक्षा करें। हम महसूस करते हैं कि हम उनकी निश्चित रूप से रक्षा कर

सकेंगे, अगर हम दोस्ताना तरीके से उनकी समस्या को देखें और साम्प्रदायिक जोश को वे दूर करें। जो इस जोश को बढ़ाते हैं, चाहे हिन्दुओं का चाहे मुसलमानों का, वे न तो हिन्दुओं के दोस्त हैं, न मुसलमानों के। सरहदी सूबे में कांग्रेस ने पहले ही इस बारे में अच्छा काम किया है और यह ध्यान देने की बात है कि हाल की मुसीबत ज्यादातर बन्नू जिले में है, जहां पर कि बदकिस्मती से कांग्रेस-संस्था कमजोर है। सरहदी सूबे के कांग्रेस के नेता डा० खान साहब ने पहले ही से एक साफ़ और बहादुराना रास्ता दिखाया है। मुझे यकीन है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों उसपर चलेंगे। यह हिन्दू या मुसलमानों का सवाल नहीं है, यह हमारे गौरव और नाम का सवाल है। हम किसी धर्म को माननेवाले हों, यह हमारी बुद्धिमानी और अच्छी भावनाओं का और हिन्दुस्तान की आजादी का सवाल है।

२२ जून १९३७।

: १६ :

उचित दृष्टिकोण

छः सूबों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कायम हो जाने से हिन्दुस्तान के शान-शौकत से भरे और शासनानुकूल वायुमण्डल में एक ताजा हवा की लहर आगई है। नई-नई आशायें उठ खड़ी हुई हैं और जनता की आंखों के सामने आशाओं से भरे सपने चक्कर लगाने लगे हैं। कम-से-कम फ़िलहाल तो हम कुछ ज्यादा आज़ादी के साथ सांस ले रहे हैं। लेकिन हमारा काम अब कहीं ज्यादा जटिल है और ख़तरे और कठिनाइयां क़दम-क़दम पर हमें परेशान कर देती हैं। हमें ऐसा भ्रम हो सकता है कि ताक़त हमारे हाथ में है, जब कि असल ताक़त हमारी पहुँच के बाहर है और हम ग़लत भी चल सकते हैं। लेकिन लोगों की निगाहों में जिम्मेदारी तो हमारी है। अगर हम उसे उनके संतोषप्रदायक नहीं पूरा कर सकते, अगर उनकी आशायें पूरी नहीं होतीं और सपने अपूर्ण रह जाते हैं, तो भ्रम का बोझ हमारा भी होगा। कठिनाई तो यह है कि स्थिति में स्वाभाविक विरोधी बातें हैं। हिन्दुस्तान की समस्यायें बड़ी हैं, जिनका प्रभावशाली और पूरा-पूरा हल मिलना चाहिए और वह मौजूदा हालतों में हमारी ताकत में नहीं है। हमें ठीक दृष्टिकोण को हमेशा सामने रखना है। कांग्रेस का ध्येय, हिन्दुस्तान की आजादी, लोगों की ग़रीबी को ख़त्म करना, इन बातों को भी हम आंखों से ओझल नहीं कर सकते। साथ ही हमें छोटी-छोटी बातों के लिए भी परिश्रम करना है, जिससे जनता को तात्कालिक राहत मिले। इन दोनों बातों को सामने रख कर हमें एकसाथ काम करना है।

अगर हमें अपने इस कठिन कार्य में सफलता पानी है, तो ज़रूरी होगा कि हम अपने लोगों में श्रद्धा रक्खें, उनके साथ खुलकर व्यवहार

करें, उन्हें अपनी कठिनाइयाँ बतावें और यह भी बतावें कि जबतक हमें ज्यादा ताकत मिलती है तबतक हम क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते हैं। जिन सिद्धान्तों को लेकर हम बने हैं, उन्हें हमें अच्छी तरह से देख लेना चाहिए, अपने लंगर का हमें अन्दाज होना चाहिए; क्योंकि इन बातों को भूलने से तो हम मामूली बातों में फँस जायेंगे और हमारे सामने रास्ता दिखानेवाला कोई भी नहीं होगा। हमें सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

(२)

इसलिए हमारी सारी हलचलें हिन्दुस्तान की आजादी को ध्येय बनाकर होनी चाहिएँ। कोई भी कांग्रेसी, चाहे वह वजीर हो या गाँव का कार्यकर्ता, इस बात को नहीं भूल सकता, क्योंकि उसे भूलकर उसका ठीक दृष्टिकोण भी, जो कि हम सबके लिए जरूरी है, दरगुजर हो-जायगा। इस आजादी को पाने के लिये हमें नये विधान से पीछा छुड़ाना होगा। इसलिए इसी विधान के मातहत काम करनेवाले वजीर हमेशा इसी परिभाषा में सोचेंगे कि इस विधान की जगह एक दूसरा विधान लाकर रक्खें, जो कि एक राष्ट्रीय पंचायत के जरिये हिन्दुस्तानियों का बनाया हुआ हो। यही विचार, चाहे वह कुछ समय तक पूरा न हो सके, हरेक वजीर के सामने रहना चाहिए। उस दिशा में दूसरा बड़ा कदम जब लिया जायगा, जब हमारी इच्छा के विरुद्ध हमपर फ़ेडरेशन लागू करने की कोशिश की जायगी। उस कोशिश का हमें असेम्बलियों के भीतर और बाहर मुकाबिला करना होगा और हमें अपनी पूरी ताक़त फ़ेडरेशन को अमल में आने से रोकने में लगानी होगी।

वे लोग जिनपर राष्ट्रीय नीति को चलाने की जिम्मेदारी है और जिन्हें हमारे लोगों का नेतृत्व करना है, उन्हें बड़ी-बड़ी परिभाषाओं में सोचना होता है और हिन्दुस्तान की सरहदों के बाहर भी देखना होता है। अपनी समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सबन्ध में, यानी बड़े संकटों या लड़ाइयों की संभावना में, देखना होता है। कांग्रेस ने ऐसे संकटों के वक्त के लिए हमारी नीति निर्धारित करदी है और अगर हमें उस नीति को

मानना है, जैसा कि हमें चाहिए, तो हमें इस वात को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। हाल ही में जो हमारी हिन्दुस्तान की टुकड़ियाँ शंघाई भेजी गई हैं, उन्हें इसी वात की याद दिलाई जाती है कि हमारे सावनों का उपयोग किस प्रकार साम्राज्यवादी हितों को वचाने के लिए किया जाता है। जवतक हम सतर्क न होंगे तवतक हिन्दुस्तान का शोपण चलता रहेगा, वढ़ता रहेगा। करीव-करीव विना जाने ही इससे लड़ाई भी हो सकती है। हमारे लिये नही; वल्कि साम्राज्यवाद के, जिसको हम हिन्दुस्तान से हटा देना चाहते हैं, हितों के लिए। इसलिए कांग्रेसियों को हिन्दुस्तान में जो कुछ होता है, उसके अन्तर्राष्ट्रीय संवन्धों को नहीं भूलना चाहिए। हमारे वज़ीरों का इन वड़ी घटनाओं से कोई सीधा संवन्ध नहीं है; लेकिन फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से वे उनके संवन्ध में आ सकते हैं और उनपर अपना असर डाल सकते हैं।

(३)

कांग्रेस ने वार-वार नागरिक स्वतंत्रता, विचारों का स्वतंत्र व्यक्तीकरण, स्वतंत्र सम्वन्ध और संगठन, स्वतंत्र प्रेस और आत्मिक और धार्मिक स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया है। विशेप अवस्थानुकूल अधिकारों और आर्डिनेंस और हिन्दुस्तानियों को सताने के लिए विशेप कानून इस्तेमाल करने की हमने निन्दा की है और अपने कार्यक्रम में कहा है कि इन सव अधिकारों और कानूनों को खत्म करने के लिए जो कुछ किया जा सकता है, हम करेंगे। सूवों में पद-ग्रहण करने से इस नीति में कोई अन्तर नहीं पड़ता और वास्तव में उसे पूरा करने के लिए वहुत कुछ पहले ही से किया जा चुका है। राजनैतिक क़ैदी छूट गये हैं, वहुतसी संस्थाओं पर से जव्ती हट गई है और प्रेसों की ज़मानतें लौटादी गई हैं। यह सच है कि इस वारे में अभी कुछ और होना वाक़ी है; लेकिन यह इसलिए नहीं है कि काँग्रेस-मंत्रिमण्डल और आगे क़दम वढ़ाना नहीं चाहते; वल्कि वहुत सी कठिनाइयों के कारण है। मुझे यकीन है कि इस काम को जल्दी ही पूरा करना मुमकिन होगा और तमाम दमन करने-वाले, ग़ैरमामूली प्रान्तीय क़ानूनों को रद कराकर हम अपनी प्रतिज्ञा

को दूरी रक्खे। इस बीच जनता को उस समय कठिनाइयों को सह लेना चाहिए जिनमें होकर कांग्रेस के मंत्रियों को काम करना पड़ रहा है, और ऐसे कामों के लिए जिनकी जिम्मेदारी उनकी नहीं है उनपर दोष लगाने के इच्छुक नहीं होना चाहिए।

नागरिक स्वतंत्रता हमारे लिए सिर्फ हवाई सिद्धांत या पवित्र इच्छा ही नहीं है, बल्कि एक ऐसी चीज है जिसे हम एक राष्ट्र की व्यवस्थित उन्नति और प्रगति के लिए आवश्यक समझते हैं। यह एक ऐसी समस्या है जिसके बारे में लोगों में मतभेद है। उसे सुलझाने का सभ्य और अहिंसात्मक तरीका है। विरोधी मत को जबरदस्ती कुचल देना और उसे अपने को जाहिर न करने देना, क्योंकि हम उसे नापसन्द करते हैं, तो लाजिमी तौर पर ऐसा ही है जैसे कि दुश्मन की खोपड़ी फोड़ देना; क्योंकि हम उसे बुरा समझते हैं। उससे सफलता नहीं मिलती। फूटी खोपडी का आदमी तो गिरकर मर सकता है, लेकिन दमन किये गये मत या विचार यों अकस्मात खत्म नहीं हो जाते और ज्यों-ज्यों उन्हें दबाने और कुचलने की कोशिश की जाती है, वे और तरक्की करते जाते हैं। ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। सारे अनुभव से हमने सीखा है कि सचाई के हित में मत और विचारों का दबाया जाना खतरनाक है। उसने हमें यह भी सिखाया है कि ऐसा खयाल करना भी बेवकूफी है कि हम ऐसा कर सकते हैं। यह कहीं ज्यादा आसान है कि बुराई से खुले-मैदान लड़ा जाय और उसे लोगों की निगाह में ठीक लड़ाई में हराया जाय। बजाय इसके कि उसे सतह के भीतर दबा दिया जाय, उसे बेकाबू छोड़ दिया जाय या उसे ठीक तरीके से न सुलझाया जाय। बुराई छिप [illegible] की [illegible] की छाया [illegible] में अधिक पोषण पाती है।

लेकिन अच्छाई क्या है और बुराई क्या है, यह भी एक ही विचार-तत्त्व बात है। और सब कौन इस बात का [illegible] निर्णय देने में सरकारें तमाम दुनिया में विशेष सफल नहीं और [illegible] की भीड़ लगाना भी कोई आश्चर्य की चीज नहीं है। [illegible]

की सारी जिम्मेवारियाँ होती हैं और वे जहाँपर काम की जरूरत होती है, वहाँ पर किसी सवाल के तत्त्वज्ञान पर बहस नहीं कर सकतीं। हमारी इस अधूरी दुनिया में बड़ी बुराई के सामने हमें छोटी बुराई को स्वीकार करना पड़ता है।

हमारे लिए जिस कार्यक्रम को लेकर हम चले हैं उसीको क्रियाशील बनाने का ही सवाल नहीं है। सवाल तक पहुँचने का हमारा तरीक़ा ही मनोवैज्ञानिक रूप से भिन्न होना चाहिए। वह पुलिसमैन का तरीक़ा नहीं होना चाहिए जो कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ सरकार का मशहूर है, यानी बल, हिंसा और दबाव का तरीक़ा। काँग्रेस-मन्त्रिमण्डलों को चाहिए कि जहाँ-तक सम्भव हो, वे तमाम दबाव की कार्रवाइयों को छोड़ दें और अपने आलोचकों को अपने कामों से जीतने की कोशिश करें और जहाँ सम्भव हो, उन्हें अपने निजी संपर्क से जीतें। अगर अपने आलोचक को या दुश्मन को बदलने में उन्हें कामयाबी नहीं मिलती, तो भी वे उसे ऐसा तो बना ही देंगे कि वह किसीको नुक़सान न पहुँचा सके और तब जनता की हमदर्दी, जो कि अनिवार्यरूप से सरकारी कार्रवाई से दुःखी आदमी के साथ होती है, उसके साथ नहीं होगी। वे जनता को अपनी ओर कर लेंगे और इस तरह ऐसा वायुमण्डल पैदा कर देंगे जो ग़लत कार्रवाइयों के मुआफ़िक नहीं होता।

लेकिन इस तरीक़े और दबाव की कार्रवाई को छोड़ने की इच्छा रखने के बावजूद ऐसे मौक़े आ सकते हैं जब काँग्रेस-मन्त्रिमण्डलों को ऐसा करना ही पड़ता है। कोई भी सरकार हिंसा और साम्प्रदायिक झगड़ों के प्रचार को नहीं बर्दाश्त कर सकती। अगर बदक़िस्मती से ऐसा प्रचार होता है तो मामूली क़ानून की दबाव की क्रियाओं का सहारा लेकर उसे ठीक रास्ते लगाना होता है। हमारा विश्वास है कि पुलिस की निगरानी या किताबों और अख़बारों की ज़ब्ती नहीं होनी चाहिए और मतों और विचारों के व्यक्तीकरण के लिए अधिक-से-अधिक आज़ादी दी जानी चाहिए। जिस तरीक़े से ब्रिटिश-सरकार की नीति ने हमें प्रगतिशील साहित्य से दूसरों से अलहदा कर दिया है, उसे सब

जानते हैं। इन जब्तियों और निगरानियों से हमें छुटकारा पाना चाहिए और ऐसी स्वतन्त्र भूमि का पोषण करना चाहिए जिसमें बुद्धिमानों के जीवन फूले-फलें और मूल शक्तियाँ उपजें। लेकिन फिर भी इस बात को याद रखना चाहिए कि कुछ किताबें और अखबार ऐसे हो सकते हैं जो गन्दे हों, जो हिंसा का प्रचार करें या साम्प्रदायिक घृणा और संघर्ष पैदा करें। उन्हें रोकने के लिए कुछ कार्रवाई होनी चाहिए।

(४)

बहुत-से राजनैतिक कैदियों को, जिन्हें हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा मिली थी, उन्हें लम्बी सजा के बाद हाल ही में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों ने छुड़वाया है। जनता और कांग्रेसमैनों ने उनका स्वागत किया है। हमसे पूछा गया है कि क्या यह स्वागत हिंसा को पसन्द करना जाहिर नहीं करता? ऐसे सवाल से जनता के मनोविज्ञान और कांग्रेसमैनों के दिमागों की अज्ञानता का पता चलता है। जनता ने और कांग्रेसमैनों ने कैदियों का स्वागत किया तो इसलिए, कि उन्होंने जेल में बहुत दिनों तक कष्ट उठाये थे। उनमें कितनों ने अपनी जवानी जेल में खत्म की और कितनों ने अडिग रहकर मौत का मुकाबिला किया। उन्होंने गलती की और वे गलत रास्ते पर चले और उन्होंने ऐसी नीति ग्रहण की जो उनके उसी उद्देश्य के लिए हानिकारक थी जिसकी सेवा वे करना चाहते थे। लेकिन उसका बदला उन्होंने दुःख, तकलीफें सहकर और लम्बे अर्से तक काल-कोठरियों में बन्द रहकर चुकाया। उन्होंने महसूस किया कि उनकी पुरानी नीति एकदम गलत थी। इसीलिए जहाँ कहीं वे गये, जनता ने उनका स्वागत किया और उनके दोस्तों ने उनको बधाइयाँ दीं। क्या इससे उन सरकारों को सबक नहीं मिलता जो सोचती हैं कि कुछ लोगों को दबाकर वे समस्या को सुलझा सकती हैं? इससे वे समस्या को और गम्भीर ही बनाती हैं और जनता की हमदर्दी, जो कि अपराधी के कामों के खिलाफ होती, उसकी पीड़ा के कारण उसीके साथ हो जाती है।

अंडमान के कैदियों की समस्या आज हमारे सामने है और हम देखते हैं कि कैसी ताज्जुबभरी मूर्खता की नीति अख्तियार की गई है,

जिसने जनता में जोश भड़का दिया। इस तरह के जिस वायुमण्डल को सरकार ठीक करना चाहती है, उसीको उलटा भारी वना देती है।

काँग्रेस ने ठीक ही इससे भिन्न नीति ग्रहण की है; क्योंकि वह जनता की पसंदगी से आगे वढ़ना चाहती है और इन वहादुर नौजवानों को अपनी ओर मिलाना चाहती है और ऐसा वायुमण्डल पैदा करना चाहती है जो काँग्रेस के कार्यक्रम के मुआफ़िक हो। उस मुआफ़िक वायुमण्डल में गलत प्रवृत्तियां खत्म होजायँगी। हिन्दुस्तान की राजनीति में हर कोई इस वात को जानता है कि आतंकवाद हिन्दुस्तान के लिए पुरानी वात होगई है। वह और जल्दी खत्म होजाता, अगर वंगाल में सरकार की जैसी नीति रही, वह न रही होती। हिंसा का खात्मा हिंसा से नहीं होता; वल्कि भिन्न तरीक़े से, हिंसा कराने के कारणों को दूर करने से, होता है।

हमारे इन साथियों पर, जो इतने वरसों की जेल की जिन्दगी विताकर छूटे हैं, एक खास जिम्मेदारी है कि वे काँग्रेस की नीति के प्रति सच्चे रहें और काँग्रेस के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए काम करें। उस नीति का आधार अहिंसा है और उसी मजवूत नींव पर काँग्रेस की ऊँची इमारत खड़ी हुई है। यह ज़रूरी है कि काँग्रेसमैन इस वात को याद रक्खें; क्योंकि वह अवतक जितनी महत्त्वपूर्ण रही है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण वह आज है। वेकार की वातें जो हिंसा को और साम्प्रदायिक झगड़ों को प्रोत्साहन देती हैं, वे मौजूदा अवस्था में खासतौर से हानिकारक हैं और वे काँग्रेस के ध्येय को ही भारी नुक़सान पहुँचा सकती हैं और काँग्रेस-मन्त्रिमण्डलों को परेशान कर सकती हैं। राजनीति में अव हम वच्चे ही नहीं हैं, अव हम आदमी की अवस्था में आगये हैं और हमारे सिर पर वड़ा काम है, मुक़ाविला करने के लिए वड़े-वड़े झगड़े हैं, दूर करने के लिए वड़ी-वड़ी मुश्किलें हैं। आदमियों की तरह हमें हिम्मत और गौरव और अनुशासन के साथ उनका मुक़ाविला करना चाहिए। हम केवल एक वड़ी ऐसी संस्था द्वारा ही अपनी समस्याओं का मुक़ाविला कर सकते हैं जिसके पीछे जनता की स्वीकृति हो। और जनता की वड़ी-वड़ी संस्थायें अहिंसात्मक तरीक़ों से ही वनती हैं।

(५)

हिन्दुस्तान की बुनियादी समस्यायें किसानों और मजदूरों के सम्बन्ध में हैं। इन दोनों में किसानों की समस्या बहुत महत्वपूर्ण है। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों ने इसे सुलझाने की पहले से ही कोशिश शुरू कर दी है और जनता को अस्थायी राहत देने के लिए शासन-सम्बन्धी हुक्म जारी होगये हैं। इस मामूली बात से भी हमारे किसानों को बड़ी खुशी हुई है, और आशायें हुई हैं, और अब वे बड़ी-बड़ी तब्दीलियों के लिए आँख लगाये बैठे हैं। इस स्वर्ग के आने की आशा में कुछ खतरा है; क्योंकि ऐसा तात्कालिक स्वर्ग अभी है नहीं। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल दुनिया में अच्छी-से-अच्छी इच्छा लेकर भी सामाजिक व्यवस्था और मौजूदा आर्थिक पद्धति को बदलने के अयोग्य हैं। सैकड़ों तरीकों से उनके हाथ-पैर बँधे हैं और उनपर रोक-थाम है और उन्हें एक तंग दायरे में चलना पड़ता है। वास्तव में नये विधान की मुखालफत करने का हमारा यही खास कारण था, और है। इसलिए अपने आदमियों के साथ हमें बिलकुल खुला होना चाहिए और उन्हें बता देना चाहिए कि मौजूदा हालतों में हम क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते हैं। काम न कर सकने की हमारी असमर्थता ही इस बात की ज़बदस्त दलील देगी कि बड़ी-बड़ी तब्दीली होने की जरूरत है और उसीसे हमें असली ताकत मिलेगी।

लेकिन इस बीच में जहाँतक किसानों को हम राहत दे सकते हैं, हमें देनी होगी। इस कठिन परीक्षा का हमें हिम्मत से सामना करना होगा। स्थापित स्वार्थों से और हमारे रास्ते में रुकावट डालनेवालों से हमें नहीं डरना चाहिए। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों की सफलता तो तभी मानी जायगी जब वे किसानों के कानूनों को बदल देंगे और किसानों को राहत देंगे। कानूनों में यह तब्दीली असेम्बलियों और कौंसिलों द्वारा होगी; लेकिन अगर असेम्बलियों और कौंसिलों के कांग्रेसी सदस्य अपने हलकों के निकट-सम्पर्क में रहे और अपनी नीति वहाँके किसानों को बताते रहे तो उस तब्दीली का मूल्य कहीं ज्यादा होगा। असेम्बलियों और कौंसिलों की कांग्रेस-पार्टियों को भी कांग्रेस-कमेटियों और आम-

तौर पर जनमत के साथ सम्पर्क रखना चाहिए। इस खुले तरीक़े से जनता का सहयोग मिलेगा और स्थिति की असलियतों से भी सम्पर्क रहेगा। इस तरह जनता को जनतन्त्रीय ढंग से शिक्षा मिलेगी; और उसपर अनुशासन रहेगा।

धरती-सम्बन्धी क़ानूनों में तब्दीली होने से हमारे किसानों को राहत मिलेगी; लेकिन हमारा ध्येय बहुत बड़ा है और उसके लिए जरूरत है कि किसानों की संगठित ताक़त बढ़े। अपनी ताक़त से ही वे आख़िर अपने ऊपर आरूढ़ स्थापित स्वार्थों के आगे बढ़ सकते हैं और उनका मुक़ाबिला कर सकते हैं। ऊपर से ग़रीब किसानों को दिया गया वरदान बाद में छीना जा सकता है, और ऐसे अच्छे क़ानून का क्या मूल्य कि जिसको चालू ही न किया जा सके ? इस तरह जरूरी है कि गाँवों की काँग्रेस-कमेटियों में किसानों का अच्छी तरह से संगठन हो।

(६)

मजदूरों के बारे में अभीतक कांग्रेस ने कोई विस्तृत कार्यक्रम तैयार नहीं किया है; क्योंकि हिन्दुस्तान में किसानों का सवाल ही सबसे अहम है। करांची के प्रस्ताव और चुनाव की विज्ञप्ति में मजदूरों के बारे में कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त बनाये गये हैं। मजदूरों का संघ बनाने और हड़ताल करने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है और 'जीवन वेतन' का सिद्धान्त पसन्द किया गया है। हाल ही में बम्बई की सरकार ने मजदूरों के बारे में जो नीति बनाई है, उसे कार्य-समिति ने पसन्द किया है। वह नीति अन्तिम या आदर्श नीति नहीं है; लेकिन मौजूदा हालतों में और थोड़े वक़्त में जो कुछ किया जा सकता है, उसका प्रतिनिधित्व वह करती है। मुझे शुबह नहीं कि अगर इस नीति को चालू किया जाता है तो उससे मजदूरों को राहत मिलेगी और उन्हें संगठित होने की ताक़त मिलेगी, जो कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इस कार्यक्रम और नीति की बुनियाद ही मजदूरों की संस्थाओं को मजबूत बनाना है। बंबई की सरकार ने अपनी मज़दूर-नीति में कहा है कि "उसका विश्वास है कि असेम्बलियों और कौंसिलों का कोई भी कार्यक्रम मजदूरों

की संगठित ताक़त का मुकाबिला नहीं कर सकता और जबतक [illegible] के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे ट्रेड-यूनियनों की लाइनों पर मज़दूरों की संस्थाएँ न बनेंगी, न बढ़ेंगी, तबतक कोई बहुत दिनोंतक चलनेवाली शान्ति नहीं हो सकती। इसलिए सरकार मज़दूरों की संस्थाओं की उन्नति में बाधक असली मुश्किलों को दूर करने में मदद करना चाहती है और मालिक और मज़दूर के बीच सामूहिक हित की भावना पैदा करना चाहती है। मज़दूरों के सताये जाने को रोकने के लिए रास्ते निकाले जायँगे और उनका सम्बन्ध मज़दूर-संघों से कराया जायगा और [illegible] ट्रेड-यूनियनों की कारंवाई में उनके हिस्सा लेने का भी उपाय निकाला जायगा।"

मज़दूर-संबंधी झगड़ों के बारे में बंबई की सरकार ने असेंबलियों और कौंसिलों को राय दी है कि वे विश्वास दिलायें कि "मज़दूरों की मज़दूरी में कोई कमी न की जायगी या मज़दूरों को काम में लगाने की हालतों में कोई ऐसी तब्दीली न की जायगी जो उनके लिए नुकसानदेह हो, जबतक कि उस तब्दीली की सारी बातों की अच्छी तरह से जाँच न करालें और झगड़े के शान्तिपूर्वक समझौते के सभी रास्ते, आपस के समझौते द्वारा, या सुलह और पचायत द्वारा, या क़ानून की मदद से, न देख लें। इसी तरह का दायित्व उनकी माँगों के बारे में कार्यकर्ताओं का होगा।" इसका मतलब यह है कि मज़दूरों-सम्बन्धी कोई झगडा बढ़ने से पहले सुलह या पचायत द्वारा उसे तय करने की बीच की कोई अवस्था अवश्य होनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि ऐसी कोई अनिवार्य पचायत हो जिसका निर्णय सब पार्टियों को, चाहे वे उसे स्वीकार करें या न करें, पूर्णतया मान्य हो।

मज़दूरों की इच्छा की परवा न करके दिये गये अनिवार्य फैसले का मज़दूरों ने हमेशा विरोध किया है, क्योंकि वह उनके हड़ताल करने के अत्यन्त प्रिय अधिकार की जड़ पर ही कुल्हाड़ी मारता है। उन्हें यह भी डर है, और वह डर काफ़ी मुनासिब भी है, कि पूँजीवादी मुल्क में अनिवार्य फैसले में राज्य का साथ मालिकों के ही साथ रहने की संभावना है।

इसलिए उनके हाथ-पैर बँध जायेंगे और वे उस हथियार को जो उनके पास है और बरसों के झगड़ों के बाद उन्हें मिला है, इस्तेमाल नहीं कर सकेंगे। मौजूदा प्रस्ताव यह नहीं है; क्योंकि मजदूर के हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार करने की कांग्रेस की नीति के वह खिलाफ़ होगा। हड़ताल करने का अधिकार उनका पूरी तरह से माना जाता है; लेकिन उनके झगड़े को तय करने के लिए एक बीच की अवस्था भी ज़रूरी समझी जाती है। मुझे यकीन है कि यह नीति सबके लिए बहुत फ़ायदे की होगी। हमारे मजदूर कमजोर हैं, अव्यवस्थित हैं और अपने अधिकारों के लिए भी खड़े नहीं हो सकते। अव्यवस्थित रूप से जो हड़तालें हुई है, वे सब बराबर नाकामयाब रही हैं। यह ठीक है कि कभी-कभी नाकामयाब हड़तालें भी मजदूर-आन्दोलनों को मजबूत बनाती है; लेकिन उससे आंदोलन कमज़ोर भी पड़ जाते हैं, यह और भी सच है। और हमारे मजदूर-आंदोलन की मौजूदा कमज़ोर हालत इस बात की गवाही देती है। मजदूरी में कमी करने के खिलाफ़ मजदूर बरसों से लड़ रहे हैं; लेकिन उसे रोकने में वे क़रीब-क़रीब असमर्थ हैं। अगर ऐसा कानून, जैसा कि बम्बई की सरकार ने बताया है, होता तो मजदूरी को कम करना कहीं अधिक कठिन होता और मजदूर मालिकों के साथ बराबर की हालत में अच्छी तरह से सौदा करने में समर्थ होते और उनके पीछे दोस्ताना जन-मत भी होता।

हड़ताल एक मजबूत हथियार है, और मजदूरों का तो वह एकमात्र ही सच्चा हथियार है। उसका पोषण होना चाहिए, उसे सुरक्षित रक्खा जाना चाहिए और जहाँ कहीं ज़रूरत पड़े, उसे संगठित और अनुशासित ढंग से इस्तेमाल किया जाना चाहिए। उसे अक्सर और अव्यवस्थित रूप से इस्तेमाल करके तो उसकी धार को ही खराब करना है और मजदूरों को खुद कमज़ोर करना है। हड़ताल के पीछे मजबूत संगठन और जन-मत होना चाहिए। अगर पक्षपाती और अव्यवस्थित हड़तालें बार-बार की जायें और वे असफल रहें, तो ऐसा संगठन शायद ही आगे बढ़ सकता है।

इसलिए संगठन मजदूरों की पहली जरूरत है। और वे लोग जो किसानों का भला चाहते हैं, उन्हें मजबूत ट्रेड-यूनियन बनाने में मदद देनी चाहिए।

उन्हें यह याद रखना चाहिए कि किसी तरह की भी हिंसा, चाहे हड़ताल के समय में या और किसी समय में, मजदूरों के हितों के लिए हानिकारक है। इससे राज्य खिलाफ हो जाता है और उससे कही अधिक हिंसा राज्य करने लगता है। मजदूरों में अव्यवस्था फैल जाती है और जन-मन उनके विरुद्ध हो जाता है। हिन्दुस्तान में उससे कभी-कभी साम्प्रदायिक झगड़े उठ खडे होते है और मजदूरों की मांगों की तरफ से ध्यान खिचकर फौरन उन झगड़ों की तरफ हो जाता है। मजदूर साम्प्रदायिक नहीं हो सकते और न साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन ही दे सकते है।

कानपुर की हाल ही की हडताल से बहुतसी बाते हम सीखते है। वहांपर गोली चलने के बारे में अखबारों में बडी तूल-तवील खड़ी की गई थी और मेरे बारे में गलत रिपोर्ट की गई थी कि मैंने कहा है कि मैं उस गोली चलने को पसन्द करता हूँ। असलियत तो यह थी कि मैं उस गोली चलने के बारे में कुछ जानता नही था और ऐसा मैंने कहा भी था। बाद में मैंने पाया कि वह गोली चलना एक मामूली और निजी बात थी और उसकी अहमियत ज्यादा नही थी। भड़ककर किसी आदमी ने गोली चलादी थी और खुशकिस्मती से उससे किसीके भारी चोट भी नही आई। लेकिन ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि मौके-मौके पर भीड़ ने, ज्यादातर सम्प्रदायवादियों ने, जो मुसीबत से बाहर थे, पत्थर फेंके। वे समझौता नही चाहते थे। समझौता होने पर भी इन सम्प्रदायवादियों ने उसे रद करने की और मजदूरों को मिल में लौटने से रोकने की भरसक कोशिश की। खुशकिस्मती से उनका असर ज्यादा नही था और मजदूरों के नेताओं को रातभर कड़ी मिहनत से मजदूरों को सारी परिस्थिति समझाने और काम पर फिर से लगा देने में कामयाबी मिली। अगर मजदूर ट्रेड-यूनियन में ठीक-ठीक सगठित होते तो ऐसी कठिनाई कभी नही आती।

इसलिए हमें सबक मिलता है : मजदूरों के सगठन को मजबूत किया जाय और साम्प्रदायिकता और हिंसा से सावधान रहा जाय।

मजदूर और उनके नेता अच्छी तरह से जानते हैं कि कांग्रेस-मन्त्रि-

मण्डल उनके मुआफ़िक हैं और यथासंभव हर तरीके से उनकी मदद करना चाहते हैं। जितना वे करना चाहते हैं, उतना अगर आज नहीं कर सकते तो उसका कारण वे परिस्थितियाँ हैं जिनपर उनका कोई क़ाबू नहीं है। लेकिन इतिहास में यह पहला ही मौका है जब मजदूरों के आन्दोलन से हमदर्दी रखनेवाली सात प्रांतीय सरकारें सूबों में हैं और बुराइयों को दूर करने और अपनी ताक़त बढ़ाने और संगठन करने का उन्हें मौका मिला है। इन सरकारों को अगर वे परेशान करेंगे और उन्हें अपना सहयोग नहीं देंगे तो इससे वे अपने ध्येय को ही नुकसान पहुँचावेंगे।

(७)

सवाल उठते हैं कि काँग्रेस कमेटियों और काँग्रेसमैनों का आम तौर से इन मन्त्रि-मण्डलों और प्रांतीय सरकारों के जहाँपर वे काम कर रही हैं, प्रति क्या रुख हो? क्या वे उनकी आलोचना खुले तौर से करें, या सिर्फ खानगी में, या बिलकुल ही न करें? इन छः सूबों में अब हमारी सार्वजनिक कार्रवाइयाँ क्या होनी चाहिएँ?

यह साफ़ है कि किसी भी मन्त्रिमण्डल से ज्यादा महत्वपूर्ण काँग्रे है। मन्त्रिमण्डल चाहे कायम हों चाहे रद हो जाँय; लेकिन काँग्रेस जब तक हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय आज़ादी पाने का अपने ध्येय पूरा न कर लेती, तब तक वह चलेगी। अगर कुछ होगा तो वह मन्त्रिमण्ड द्वारा नहीं होगा; बल्कि काँग्रेस के जरिये काम करते हुए हिन्दुस्ता की संगठित ताकत से होगा। जब आज़ादी पूरी तरह से मिल जात तो काँग्रेस खत्म होसकती है। उसका काम पूरा होजायगा। लेकिन पूरा होने तक वह हमारी ताक़त, एकता और राष्ट्रीय ध्येय का रहेगी और उसे मजबूत बनाने की हमें हर तरह से कोशिश चाहिए। वह ताक़त उसे रोज-बरोज जनता की सेवा करने और मौलिकता पैदा करने और जनतन्त्रीय चर्चा की आदत डालने से मि

यह स्पष्ट है कि किसी कांग्रेस कमेटी के लिए काँग्रेस-मन्त्रिम निन्दा करना ग़ैरमुनासिब और वाहियात है। यह तो ऐसा है

कांग्रेस-कमेटी दूसरी कांग्रेस कमेटी की ही निन्दा करती हो। मन्त्रिमण्डल कांग्रेस ने कायम किये हैं, कांग्रेस उनका खात्मा भी चाहे जब कर सकती है। अगर मन्त्रिमण्डल ठीक नहीं हैं,तो हमें उनका अंत कर देना चाहिए या उनको सुधार देना चाहिए। अगर हम वैसा नहीं कर सकते, तो हमें जैसे वे चलते हैं, वैसे उन्हें बर्दाश्त करना चाहिए। इसलिए निन्दा करना तो बाहर की बात होजाती है। अगर किसी भी समय हम सोचते हैं कि मंत्रिमण्डलों का अन्त होजाना चाहिए, तो विधान के मुताबिक हमें ठीक कार्रवाई करके उनका अन्त कर देना चाहिए।

दूसरी तरफ, कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसमैनों का चुप और कांग्रेसी सरकारों के कामों का मूक दर्शकभर रहना भी उतना ही वाहियात है। किसानों की समस्या जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर असेम्बलियाँ और कौंसिलें विचार करेंगी और हम सबको उनमें दिलचस्पी है और होनी चाहिए। कांग्रेस कमेटियों को उनपर चर्चा करने का और अपने विचारों और सिफारिशों को और जनता की मांगों को अपनी प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियों को भेजने का पूरा अधिकार है। यह तरीक़ा असेम्बलियों, कौंसिलों और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को फायदेमन्द साबित होना चाहिए। मित्रतापूर्वक की गई आलोचनाओं और विचारों का हमेशा स्वागत होना चाहिए। मुख्य चीज तो मैत्री और उस समस्या तक पहुँचने का तरीका है। अगर हम कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों को परेशान करते हैं और उनके रास्ते में मुसीबतें पैदा करते हैं तो इससे हम अपनेको ही परेशान करेंगे। एक ही लक्ष्य के हम सब सिपाही हैं, और एक ही महान् कार्य में हम सब साथी हैं, और हम चाहे मन्त्री हों, या गाँव के मजूर, हमें एक-दूसरे के साथ सहयोग की भावना से व्यवहार करना चाहिए, एक-दूसरे की मदद करने की इच्छा करनी चाहिए, एक-दूसरे का रास्ता नहीं रोकना चाहिए। हाँ, रहना हमेशा सतर्क और तैयार चाहिए। खुशी से फूलना हमें नहीं चाहिए, जिससे हमारी सार्वजनिक कार्रवाइयाँ ही खतम होजायँ और धीरे-धीरे हमारे आन्दोलन की आत्मा ही कुचल जाय। यही भावना और उससे जो सार्वजनिक कार्रवाइयाँ निकलती हैं, वे महत्वपूर्ण हैं; क्योंकि

सिर्फ उनसे ही हमें आगे बढ़कर अपने ध्येय तक पहुँचने की शक्ति मिलती है और उसी बुनियाद पर हम प्रजातन्त्रीय स्वतन्त्रता की इमारत खड़ी कर सकते हैं। अगर उस भावना की क़ीमत पर हमें छोटे-छोटे फ़ायदे होते हों, तो हमें उन फ़ायदों की परवा नहीं करनी चाहिए।

हमारा उद्देश्य राष्ट्रीय आज़ादी और एक प्रजातन्त्रीय राज्य पाने का है। प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता है; लेकिन वह अनुशासन भी है। इसलिए अपने आदमियों में हमें प्रजातन्त्र की आज़ादी और अनुशासन दोनों पैदा करने चाहिएँ।

३० अगस्त १९३७

: २० :

देशी राज्य[१]

हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड की हाल ही की घटनाओं ने यह साफ कर दिया है कि वहांकी प्रतिगामी ताकतें हिन्दुस्तान की आजादी को रोकने या उसमें देर करने के लिए आपस में मिल रही हैं। इन ताकतों ने कोशिश की है कि हमारे आजादी के आन्दोलन को दबादें और 'व्हाइट पेपर' तो स्थापित स्वार्थों के अधिकार को ही मजबूत करने की एक कोशिश है। सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण चीज़ देशी नरेशों का एकदम प्रतिगामी दख और सरकार से उन्हें मिली मदद है।

यह अनिश्चित है कि आजाद हिन्दुस्तान एक फ़ेडरेशन होगा; लेकिन यह बिलकुल निश्चित है कि 'व्हाइट पेपर' में दिये हुए फेडरेशन से आजादी-जैसी कोई चीज़ भी नहीं मिल सकती। इस फ़ेडरेशन का मतलब तो सिर्फ हिन्दुस्तान की तरक्की को रोकना और उसे फ्यूडल तथा गई-गुजरी पद्धतियों से और जकड देना है। इस फ़ेडरेशन में तरक्क़ी करके आजादी पा लेना एकदम् नामुमकिन है, जबतक कि फेडरेशन के टुकड़े-टुकड़े न कर दिये जायें।

इसलिए मेरी राय में हम सबको—चाहे देशी राज्यों में रहते हों या उनसे बाहर हिन्दुस्तान में—इस स्थिति को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए और महसूस करना चाहिए कि हमारा एक ही रास्ता है—ऐसे किसी भी झूठे फ़ेडरेशन को एकदम नामजूर करना। हमें तो मुकम्मिल आजादी चाहिए, जिसका मतलब है विदेशी अधिकार का पूरी तरह से चला जाना और एक प्रजातन्त्रीय सरकार का कायम होना। देशी

१. ब्यावर में हुई राजपूताना स्टेट्स पीपिल्स कन्वेंशन के लिए दिया गया सन्देश।

राज्यों की पद्धति, जैसी कि वह आज है, समूल नष्ट हो जानी चाहिए।

आपकी कन्वेंशन आजकल के बहुत-से अहम मसलों पर, जैसे प्रिवेन्टिव डिटेन्शन बिल और दमनचक्र, जो देशी राज्यों में किया जा रहा है, विचार करेगी। आपके सामने ये मसले पड़े हैं; लेकिन जो प्रणाली आज चल रही है, आखिर उसीसे ये पैदा हुए हैं। इसलिए मैं उम्मीद करता हूँ कि आप अपना लक्ष्य स्पष्ट और निश्चल बनायेंगे और उसीके मुताबिक आपका कार्य-क्रम होगा।

: २१ :

देशी राज्यों में अधिकारों की लड़ाई

हिन्दुस्तान में कोई छ सौ रियासतें हैं। कुछ बड़ी हैं, कुछ छोटी, और कुछ इतनी छोटी कि नक्शे पर उन्हें दिखाया भी नहीं जा सकता। वे एक-दूसरी से बहुत भिन्न हैं। कुछ ने औद्योगिक और तालीमी तरक्की की हैं; और कुछ के राजा और मन्त्री बड़े लायक हैं। फिर भी उनमें से ज्यादातर में प्रतिक्रिया होरही हैं और कभी-कभी खोटे और जलील शख्सों की अयोग्यता और मनमानी वहां बे-रोक चलती है; लेकिन राजा चाहे अच्छा हो या बुरा, मन्त्री चाहे योग्य हो या अयोग्य, दोष तो उसमें राज्य की पद्धति का है। यह पद्धति दुनियाभर से उड़ गई है और अगर अपनेआप पर ही छोड़दी जाती तो कब की हिन्दुस्तान से भी उड़ गई होती; लेकिन उसके स्पष्ट रूप से अवनत और बेकार होने पर भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने उसे सहारा दिया है और बनावटी तरीकों से उसे कायम रक्खा है। ब्रिटिश सत्ता ने उसे पैदा किया है और उसका भरण-पोषण साम्राज्यवाद ने अपने ही फायदे के लिए किया है। इसलिए वह आज भी जिन्दा है, हालांकि बड़ी-बड़ी क्रान्तियों ने दुनिया को हिला दिया है, दुनिया को बदल भी दिया है, राज्य ढह गये हैं और नरेशों और मामूली राजाओं की भीड़-की-भीड़ गर्त में विलीन होगई है। उस प्रणाली में कोई अपनी आंतरिक विशेषता या शक्ति नहीं है। महत्व तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्ति का है। हमारे लिए तो हिन्दुस्तान में वह पद्धति साम्राज्यवाद का ही एक रूप है। इसलिए जब लड़ाई होती है तो हमें पहचानना होगा कि हमारा दुश्मन कौन है।

अब हमसे रियासतों की आजादी और सर्वोच्च सत्ता के साथ पवित्र और सुरक्षित संधियों की बात कही जाती है, जो हमेशा कायम रहती

खतरा ले। भारत-सरकार का राजनैतिक-विभाग बाजे के तारों पर उंगली फेरता है और उसकी तान पर ये पुतलियाँ नाचती हैं। स्थिति का मालिक लोकल रेज़ीडेंट है और बाद का रवैया यह रहा है कि सरकारी अफ़सर ही रियासतों के राजाओं के मन्त्री मुकर्रर किये जाते हैं। अगर यही आज़ादी है, तो यह जानना बड़े मज़े की चीज़ होगी कि बुरी-से-बुरी गुलामी और उसमें क्या फ़र्क़ है?

रियासतों में आज़ादी नहीं है और न होनेवाली है; क्योंकि भौगोलिक रूप से यह नामुमकिन है और यह हिन्दुस्तान के संयुक्त और आज़ाद होने के विचार के एकदम खिलाफ़ है, और बड़ी रियासतों के लिए यह विचारणीय बात है और उचित है कि उन्हें फ़ेडरेशन में ज़्यादा-से-ज़्यादा स्वायत्त मिले। लेकिन हिन्दुस्तान का उन्हें मुख्य अंग रहना पड़ेगा और सामान्य हितों के बड़े मामलों पर एक प्रजातन्त्रीय फ़ेडरल केन्द्र का अधिकार रहेगा। अपने राज्य के भीतर उन्हें उत्तरदायी सरकार मिल जायगी।

यह साफ़ है कि रियासतों की समस्या आसानी से हल हो जाती, अगर झगड़ा सिर्फ़ प्रजा और राजा का ही होता। बहुत-से राजों की आज़ादी हो तो वे प्रजा का साथ देंगे। अगर साथ देने का उनका विचार डाँवाडोल है, तो नीचे से ज़ोर पड़ने पर जल्दी ही वे अपने विचार बदल देंगे। ऐसा न करने से उनकी स्थिति खतरे में पड़ जायगी और तब एक ही रास्ता रहेगा कि वे राज्य से हाथ धो बैठें। कांग्रेस और जुदा-जुदा प्रजा-मण्डल हर तरह की कोशिश अबतक कर चुके हैं कि राजा अपनी प्रजा का साथ दें और रियासतों में ज़िम्मेदार हुकूमत क़ायम करें। उन्हें समझ लेना चाहिए कि ऐसा न करने से और उनके राज़ी न होने पर भी उनकी प्रजा की आज़ादी मिलने से रुकेगी नहीं, उनके विरोध से उनके और उनकी प्रजा के बीच एक मज़बूत दीवार खड़ी हो जायगी और तब दोनों में समझौता होना बेहद मुश्किल हो जायगा। पिछले सौ बरसों में दुनिया का नक्शा बहुत-सी मर्तबा बदला है, राज्य मिट गए हैं और नये मुल्क उठ खड़े हुए हैं। अब भी हम अपनी आँखों से को बदलते हुए देख रहे हैं। विश्वास के साथ यह कहने के लिए

अपनी इज्जत, परम्परा और शिक्षा के बावजूद जब अंग्रेजी-शासक-वर्ग नाकामयाब होता दिखाई दे रहा है तो हम अपने देशी नरेशों की क्या कहें, जिनका पीढ़ियों से ह्रास हो रहा है और गैर-जिम्मेदारी जिनमें भर आई है ? पोलो के टट्टुओं को चलाने की शिक्षा या कुत्तों की नस्ल पहचानने या बहुत-से बेगुनाह जानवरों को मार डालने की चतुराई से ज्यादा सरकारी समस्याओं के लिए ज्ञान की जरूरत पड़ती है ।

लेकिन अगर रियासतों के राजा रजामन्द भी हों तो भी वे कुछ नहीं कर सकते; क्योंकि उनके भाग्य का तात्कालिक मालिक तो ब्रिटिश-सरकार का एजेंण्ट है । उसको नाराज करने की हिम्मत वे नहीं कर सकते । राजकोट के मामले में हम देख ही चुके हैं कि वहां का राजा जो अपनी प्रजा से समझौता करना चाहता था, उसे किस तरह से गद्दी से उतार देने की धमकी दी गई और ब्रिटिश एजेण्टों के दबाव से किस तरह बाद में उसे अपनी प्रतिज्ञा से पीछे हट जाना पड़ा ।

इस तरह रियासतों में राजाओं के साथ तो झगड़ा सिर्फ यों ही है । वास्तव में वह झगड़ा तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से है । यही मसला है जो साफ है और निश्चित है। और इसीलिए ब्रिटिश सत्ता का प्रजा के खिलाफ रियासतों में हस्तक्षेप करना विशेषरूप से महत्वपूर्ण है । हम देखते हैं कि सरकार का हस्तक्षेप बढ़ता ही जा रहा है । हस्तक्षेप सिर्फ भारत-सरकार के राजनैतिक विभाग और उसके एजेंण्टों और रेजीडेण्टों का ही नहीं है; बल्कि सशस्त्र फ़ौजों द्वारा भी हस्तक्षेप होना है, जैसाकि उड़ीसा में हुआ है । जनसाधारण के आन्दोलन को कुचल डालने के लिए हस्तक्षेप को हम अब और बर्दाश्त नहीं कर सकते । अगर भारत-सरकार प्रजा को कुचल डालने के लिए बीच में पड़ती है तो राष्ट्रीय कांग्रेस भी जरूर पूरी ताकत से उसमें हस्तक्षेप करेगी । हमारे तरीके जुदा हैं, वे अहिंसात्मक तरीके हैं; लेकिन वे प्रभावशाली हैं, यह पिछले दिनों में जाहिर हो ही गया है ।

गांधीजी ने बार-बार ब्रिटिश-सरकार और हिन्दुस्तान के उसके एजेण्टों को इस लड़ाई के खतरनाक नतीजों से आगाह दी है । यह तो

साफ़ तौर से नामुमकिन है कि लड़ाई बस कुछ रियासतों और कांग्रेस तक ही रहे और साथ ही प्रान्तीय शासन भी चलता रहे, जिसमें ब्रिटिश-सत्ता के साथ कुछ सहकारिता भी रहे। अगह यह अहम लड़ाई ही है, तो उसका असर हिन्दुस्तान के दूर-से-दूर कोनों तक फैलेगा और इस या उस रियासत तक ही सीमित नहीं रहेगा; वल्कि ब्रिटिश सत्ता को एक-दम उड़ा देने तक सीमित होगा।

आज उस झगड़े का रूप क्या है ? यह साफ़ तौर से समझ लेना चाहिए। रियासत-रियासत में उसका रूप जुदा-जुदा है। लेकिन हर जगह माँग पूरी जिम्मेदार सरकार के लिए है। झगड़ा इस वक्त उस माँग को पूरा कराने का नहीं है, वल्कि उस माँग के लिए लोगों को संगठित करने के हक़ को क़ायम करने का है। जब वह हक़ नहीं दिया जाता और नागरिक स्वतन्त्रता कुचली जाती है, लोगों के लिए हलचल मचाने के वैधानिक तरीक़ों का रास्ता खुला नहीं रह जाता। तब चुनाव के लिए उनके सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं कि वे या तो तमाम राज-नैतिक और सार्वजनिक हलचलों को छोड़ दें और आत्मा की ज़लालत सहें और उन्हें सतानेवाले ज़ुल्म चलते रहें, या वे उससे सीधी टक्कर लें। वह सीधी टक्कर, हमारी विधि के अनुसार, बिलकुल शान्तिदायक सत्याग्रह है और हिंसा और बुराई के सामने झुकने से, नतीजा चाहे जो कुछ हो, इन्कार कर देना है। इस तरह आज का तात्कालिक मसला तो ज्यादातर रियासतों में नागरिक स्वतन्त्रता का है, हालाँकि लक्ष्य हर जगह जिम्मेदार सरकार क़ायम करने का है। जयपुर में तो कुछ हद तक समस्या और भी सीमित हो जाती है; क्योंकि वहाँ की सरकार प्रजा-मण्डल के दुर्भिक्ष-सहायता के काम के संगठन की मुख़ालफ़त करती है।

ब्रिटिश-सरकार के सदस्य अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का समर्थन करते हुए हमसे अक्सर कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में वे अमन-चैन पसन्द करते हैं और ताक़त और हिंसा के तरीकों से तो वे डरते हैं। अमन-चैन के नाम पर उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय धन बुरी-से-बुरी तरह ऐंठने और गोलबन्दी में मदद की है और प्रोत्साहन दिया है

और यूरोप में प्रजातन्त्र और आजादी को सख्त चोट पहुँचाई है। उननी नीति से उन्होंने यूरप में निर्लज्ज हिंसा का राज्य फैला दिया है। स्पेन की रिपब्लिक को, जो इतने दिनों तक शान के साथ भारी फौजों के साथ युद्ध करती रही, हमारे जमाने की सबसे दुखान्त कहानी में भी इनका हाथ रहा है। फिर भी ये ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ शान्तिदायक समझौते के गुणों की और बल-प्रयोग और हिंसा की बुराई की बात करते हैं। ऐसी पवित्र भावनायें उन्होंने यूरप में फैलाई हैं, ताकि प्रतिक्रिया और हिंसा को खुला क्षेत्र मिल जाय और आजादी को कुचलने का उन्हें काफी मौक़ा मिले।

हिन्दुस्तान में और खासतौर से रियासतों में हमें क्या दिखाई देता है? हमारे शान्तिदायक प्रचार, शान्तिदायक संगठन और शान्तिदायक समझौते की तमाम कोशिशों का रियासतों के अधिकारी वहशियानी हिंसा के साथ मुक़ाबिला कर रहे हैं। उनके पीछे ब्रिटिश सत्ता की सशस्त्र ताक़त और राजनैतिक प्रभाव है। इस तरह जनतन्त्र और आजादी की दिशा में जहाँ कहीं तब्दीली कराने की, वह तब्दीली चाहे जितनी जायज़ और लाभदायक हो, कोशिश की जाती है, वहाँ निर्दयता और ताक़त के ज़ोर पर उन्हें दबा दिया जाता है। लेकिन जहाँ फ़ासिज्म और साम्राज्य-वाद अपने निजी हितों के लिए और जनतन्त्र और आजादी को दबाने के लिए कोई तब्दीली करना चाहते है, तो हिंसा और ताक़त की पूरी मदद दी जाती है। शान्ति की नीति का अर्थ केवल उन आदमियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना होता है जो अपनी स्वतन्त्रता क़ायम रखना चाहते हैं।

क्या अब भी कोई इस बात को कहता है कि ज़ुल्म, स्वेच्छाचार और गन्दा शासन रियासतों में चालू रहना चाहिए? क्या कोई कहेगा कि ये सब वहाँसे नहीं उठ जाने चाहिएँ और उनकी जगह स्वतन्त्र संस्थाएँ नहीं कायम होनी चाहिएं? अगर उन्हें दूर करना है तो मामूली तौर से यह तब्दीली कैसे की जाय, जबतक कि शान्तिपूर्ण-संगठन और चतुर स्वावलम्बी जन-मत का विकास न हो? उन्नति के लिए जरूरी है कि नागरिक स्वतन्त्रता पूरी तौर से क़ायम की जाय। हिन्दुस्तान से यह कहना

उसकी बेइज्ज़ती की बात है कि वह रियासतों में आर्डिनेन्स राज्य को, संगठनों और सार्वजनिक सभाओं के दमन को और अक्सर गोलों से सम्बन्धित तरीक़ों को बर्दाश्त कर ले। क्या रियासतें बड़े-बड़े जेलखाने हैं, जहां मानवीय आत्मा को खत्म किया जाता है? और लोगों की धन-सम्पत्ति इसलिए है कि दरबारों के दिखावे और भोग-विलास में खर्च हो, जबकि जनता भूखों मरे और अनपढ़ और असभ्य बनी रहे? क्या वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा में मध्यकालीन हिन्दुस्तान में चालू रहने के लिए हैं?

हममें से कोई भी संघर्ष नहीं चाहता। लेकिन इस विध्वंस के काल में हर क़दम पर हमारे चारों ओर संघर्ष है और दुनिया में अशान्ति और हैवानी हिंसा का राज्य फैला हुआ है। हममें से कोई भी उस अशान्ति को हिन्दुस्तान में नहीं चाहता; क्योंकि आज़ादी की प्रस्तावना वह नहीं है। फिर भी हम जानते हैं कि ज्यों-ज्यों हमारी ताक़त बढ़ेगी, त्यों-त्यों भेद और फूट, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता, ग़ैर-ज़िम्मेदारी और मन की संकीर्णता के साधन भी बढ़ते जायँगे। हमें यह याद रखना होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद, हालाँकि केन्द्र में कमज़ोर होता जा रहा है, प्रबल शत्रु है और आज़ादी के लिए न जाने कितनी लड़ाइयाँ हमें लड़नी होंगी। न तो हम और न कोई दूसरा भविष्य को खुशदिली से देख सकता है; क्योंकि मौजूदा समय दुःख और उपद्रवों से भरा हुआ है और हिन्दुस्तान का निकट-भविष्य अंधकार के आवरण में लिपटा हुआ है। फिर भी हिन्दुस्तान में आशा की किरणें हैं, हालांकि काले-काले बादल हमें घेरे हुए हैं। आशा की इन किरणों में सबसे अधिक चमकीली किरण है रियासत के लोगों में नवीन जागृति। हम जोकि उनके झगड़े के बोझ में सहारा देना चाहते हैं, उनके ऊपर एक भारी ज़िम्मेदारी आ पड़ती है। उसे सचाई के साथ पूरा करने के लिए हमारी तमाम हिम्मत और चतुराई की ज़रूरत होगी। आडम्बरी भाषा से हमें मदद नहीं मिलेगी। वह तो अक्सर कमज़ोरी का निशान है और काम नहीं करना होता तो उसका सहारा लिया जाता है। आज तो काम की ज़रूरत है—उस होशियारी के और प्रभावशाली काम की जो हमें जल्दी ही हमारे

मंज़िल-मकसूद पर पहुँचा देगा, जो फूट के साधनों को रोकता है और जो संयुक्त भारत के हमारे सपने को पूरा करता है।

मामूली-से फ़ायदे और लाभ कभी-कभी चाहे हमें ललचा लें; लेकिन अगर वे हमारे महान् लक्ष्य के रास्ते में आते हैं तो हमें उनको अस्वीकार कर देना चाहिए और दूर कर देना चाहिए। मौक़े पर भड़क-कर हम अपने सिद्धान्त को भूल सकते हैं। अगर हम सिद्धान्तों को भूले तो अपने खतरे पर भूले। हमारा ध्येय तो महान् है, हमारे साधन भी इसलिए ऐसे होने चाहिएँ कि कोई उनकी ओर उँगली न उठा सके। बड़ी बात पर हम बाजी लगाते हैं। हमें उसके योग्य होना चाहिए। महान् ध्येय और छोटे-छोटे आदमी साथ नहीं चल सकते।

फ़रवरी १९३९।

: २२ :

नरेश और फ़ेडरेशन

नये विधान के शुरू होते ही जो वैधानिक संकट उठ खड़ा हुआ है, उससे बहुतों ने विधान की खासियत को समझा है। अर्थ या विश्लेषण से विधान उतना नहीं समझा जा सकता। चाहे नया क़ानून क़ानून की किताब में रहा आवे, ब्रिटिश सत्ता की मदद से चाहे छायामात्र मंत्रिमण्डल काम करते रहें, लेकिन यह सब हवाई है, भूत-प्रेतों के देश-जैसा। आजकी असलियत तो यह है कि एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद है और दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रवाद, जिसका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती है। यही तस्वीर के दो पहलू हैं। नये क़ानून को उसमें स्थान नहीं है। इसी लिए वह जरा-से छूने पर ही ढह रहा है। लेकिन उसे ढहाने में हमें और जल्दी करनी चाहिए। यह हमें याद रखना चाहिए कि नये क़ानून का संघीय भाग भविष्य के धुंधलेपन में अब भी सिर उठाता है। कांग्रेस ने हमें आदेश दिया है कि इस संघीय विधान के विरुद्ध हम लड़ें और उसके प्रचार को रोकें; क्योंकि सारे क़ानून में संघीय भाग के बराबर घातक और कोई चीज नहीं है।

देशी नरेशों का क्या हाल है? उड़ती हुई खबरें हमारे पास आती हैं कि कुछ उससे राजी हैं और कुछ उसमें संदेह करते हैं। पिछले सालों के राष्ट्रीय युद्ध में ये देशी नरेश, क़रीब-क़रीब सब-के-सब, ब्रिटिश सरकार के निकटतम साथी रहे हैं। इसीलिए राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति वे अनुदार रहे हैं। क्या राष्ट्रभर के विरोध करने पर भी फेडरेशन को स्वीकार करके वे अनुदारता का एक और काम करेंगे? ऐसा फैसला करना उनके लिए बड़ी गम्भीर बात होगी; क्योंकि पहले से भी अधिक हिन्दुस्तानियों का विरोध उन्हें करना होगा। देशी राज्यों की आजादी, विशेष

संधियों आदि के बारे में बहुत-सी बातें कही जा रही है, लेकिन भविष्य में महत्व की बात तो वह संधि होगी जो हिन्दुस्तानी दूसरों से करेंगे। नया कानून तो खत्म होगा और उसकी सैकड़ों दफ़ायें, विशेष अधिकार और फ़ेडरेशन, सब यों ही पड़े रहेंगे। इसलिए मैं देशी नरेशों से कहूँगा कि वे इस दृष्टिकोण से इस मामले पर विचार करें और अनावश्यक साहस न दिखावें।

३ मई १९३७।

: २३ :

हिन्दू महासभा और साम्प्रदायिकता[1]

बहुत दिनों से मेरी राय है कि हिन्दू महासभा एक छोटा-सा प्रतिगामी गुट्ट है जो दावा करता है कि हिन्दुस्तान के तमाम हिन्दुओं का, जिनका वह ज़रा भी प्रतिनिधित्व नहीं करता, पक्ष लेता है। उसके ऊँचे नाम से और परिभाषा से भ्रम भी फैला है। उस भ्रम को दूर करने का यह वक्त है। किसी भी चीज़ से मुझे इतना दुःख नहीं पहुँचा जितना हिन्दू महासभा के गुट्ट की कार्रवाइयों से पहुँचा है।

राष्ट्रवाद की आड़ में महासभा बुरी-से-बुरी और तंग-से-तंग साम्प्रदायिकता को ही नहीं छिपाती, बल्कि वह यह भी चाहती है कि बड़े-बड़े हिन्दू ज़मींदारों और नरेशों के स्वार्थों को क़ायम रक्खे। महासभा की नीति से, जिसको उसके ज़िम्मेदार नेताओं ने ज़ाहिर किया है, पता चलता है कि विदेशी सरकार को महासभा सहयोग देना चाहती है, जिससे चापलूसी करके और सरकार के सामने अपनेको ज़लील करके शायद कुछ टुकड़े उसे मिल जांय। यह आज़ादी की लड़ाई के साथ विश्वासघात करना है, राष्ट्रवाद के प्रत्येक रूप से इन्कार करना है और हिन्दुओं की माननीय भावनाओं का दमन करना है। महासभा ने समाजवाद और सामाजिक परिवर्तन के हरेक तरीके की खुले तौर पर निन्दा करके दिखा दिया है कि स्थापित स्वार्थों से उसका सम्बन्ध है। यह सोचना मुश्किल है कि हिन्दू महासभा की मौजूदा नीति से ज़लील, प्रतिक्रियात्मक, राष्ट्र-विरोधी, प्रगति-विरोधी, और नुक़सानदायक और कोई भी नीति हो सकती है। हिन्दू महासभा के नेताओं को महसूस करना

१. हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस, के विद्यार्थियों के सामने दिया गया भाषण।

चाहिए कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के दुश्मनों और मुल्क के तीव्र प्रति-गामी तत्वों के पक्ष लेने की नीति का लाज़िमी तौर पर यह नतीजा होगा कि बाकी हिन्दू और ग़ैर-हिन्दू मुल्क मिलकर उनका मुकाबिला करें, और विरोध करें और अपनी आज़ादी और ध्येय का, जिसके लिए हम सब कोशिश कर रहे हैं, उन्हें दुश्मन समझें। यह निन्दा या अलहदा होने की ही बात नहीं है, हालांकि निन्दा और अलहदगी दोनों होंगी ही, बल्कि नितान्त अवसरवादियों और मूर्खतापूर्ण नीतियों के सक्रिय और सतत विरोध की बात है।

१२ नवम्बर १९३३।

: २४ :

दो मस्जिदें

आजकल अखबारों में लाहौर की शहीदगंज मस्जिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती है। शहर में काफ़ी खलबली मची हुई है। दोनों तरफ़ मजहबी जोश दीखता है। एक-दूसरे पर हमले होते हैं, एक-दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं, और बीच में एक पंच की तरह अंग्रेजी हुकूमत अपनी ताक़त दिखलाती है। मुझे न तो वाक़यात ही ठीक-ठीक मालूम हैं कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी ग़लती थी, और न इसकी जाँच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है; लेकिन दिलचस्पी हो या न हो, पर जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय, तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हम लोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-अदनासी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं, पर अपनी गुलामी और फ़ाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मस्जिद से मेरा ध्यान भटककर एक दूसरी मस्जिद की तरफ़ जा पहुँचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मस्जिद है और क़रीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ़ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है, और उसने अपनी इस लम्बी ज़िन्दगी में न जाने कितनी बातें देखीं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रान्ति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफ़ानों को इस आलीशान इमारत ने बरदाश्त किया; बारिश ने उसको धोया; हवा ने अपने बाज़ुओं से उसको रगड़ा; मिट्टी ने उसके बाज हिस्सों को ढंका। बुज़ुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर

से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया-भर का तजुर्बा डेढ़ हज़ार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे ज़माने तक प्रकृति के थपेड़ों और तूफ़ानों को बरदाश्त करना कठिन था; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह सहा। उसके पत्थरों की ख़ामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुये और गिरे। मज़हब उठे और बैठे; बड़े-से-बड़े बादशाह, ख़ूबसूरत-से-ख़ूबसूरत औरतें, लायक़-से-लायक़ आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर ग़ायब होगये। हर तरह की बीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे; लेकिन वे पत्थर अभी क़ायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊँचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फ़रेब और बेवक़ूफ़ी? हज़ारों वर्षों में इन्होंने कितना कम सीखा! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बाँह एशिया और यूरप को यहाँ अलग करती है—एक चौड़ी नदी की भाँति बासफ़ोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बाइज़ेन्टियम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईसा की शुरू की शताब्दियों में ईराक़ तक थी; लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अक्सर हमले होते थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पच्छिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे, और उनका हटाना मुश्किल हो जाता तो कभी पूरब में ईराक़ की तरफ़ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फ़ौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट कॉन्सटेण्टाइन ने यह फ़ैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर लेजाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की

रक्षा कर सके। उसने बासफ़ोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइज़ेण्टियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईसा की चौथी सदी खतम होने वाली थी, जब कॉन्सटेण्टिनोपल (उर्फ़ कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में ज़रूर मज़बूत हो गया; लेकिन अब पश्चिमी सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े होगये—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खत्म कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और क़ायम रहा। और बाइज़ेन्टाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट् कॉन्सटेन्टाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली; बल्कि उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियाँ होती थीं। जो उनमें से रोम के देवताओं को नहीं पूजता था, या सम्राट् की मूर्त्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सज़ा मिल सकती थी। अकसर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे बाग़ी समझे जाते थे। अब एकाएक ज़मीन-आसमान का फ़र्क होगया। सम्राट स्वयं ईसाई होगया, और ईसाई-धर्म सबसे अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। अब बेचारे पुराने देवताओं को पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये, और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट फिर ऐसे हुए (जूलियन), जो ईसाई-धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं के उपासक बन गये; परन्तु तब ईसाई-धर्म बहुत ज़ोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी, और वहाँसे भी वे धीरे-धीरे ग़ायब होगये।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं, और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर हो-

गया। उस समय यूरप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था—रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहाँकी इमारतें एक नई तर्ज़ की बनी, एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज़, बुर्जियाँ, खम्भे इत्यादि अपनी तर्ज के थे, और जिसके अन्दर खम्भों वगैरा पर बारीक मोजाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती कला बाइजेण्टाइन कला के नाम से प्रसिद्ध ह। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान कैथीड्रेल (बड़ा गिरजाघर) इस कला का बनाया गया, जो सांक्टा सोफिया या सेण्ट सोफिया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सबसे बड़ा गिरजा था, और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊँचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई, और यह गिरजा अबतक बाइजेण्टाइन कला की सबसे बड़ी फतह समझा जाता है। बाद में ईसाई-धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का जिक्र है), और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक-दूसरे से अलग होगये। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया, और यूरप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहाँका ईसाई फिरका अलग होगया। यह फिरका ऑर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा था, क्योंकि वहाँकी बोली ग्रीक होगई थी। यह ऑर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आसपास भी फैला था।

सेण्टसोफिया का कैथीड्रेल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था, और नौ-सौ वर्ष तक वह ऐसा ही रहा। बीच में एक दफे रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्स—जेहाद—लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े और उसपर उन्होंने कब्जा भी कर लिया; लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिए गये।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हज़ार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेन्टसोफिया की अवस्था भी लगभग नौसौ वर्ष की

हो रही थी, तव एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पन्द्रहवीं सदी में ओस्मानली तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फ़तह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहाँका जो सबसे बड़ा ईसाई केथीड्रेल था, वह अब सबसे बड़ी मस्जिद होगई। सेण्टसोफ़िया का नाम आया सुफ़ीया होगया। उसकी यह नई ज़िन्दगी भी लम्बी निकली—सैंकड़ों वर्षों की। एक तरह से वह आलीशान मस्जिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिसपर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े-बड़े मनसूबे गाँठती थी। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमज़ोर होरहा था, और रूस बढ़ रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य-भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था, जो सर्दियों में बर्फ़ से खाली रहे और काम आ सके, इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभभरी आँखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के ज़ार (सम्राट) अपनेको पूर्वीय रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे, और उनकी पुरानी राजधानी को अपने कब्ज़े में लाना चाहते थे। दोनों का मज़हब वही ऑर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेण्टसोफ़िया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मस्जिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्ध-चन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में ज़ारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब क़रीब आने लगा, तब यूरप की और शक्तियाँ घबराईं। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई; रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई, फिर वही राजनैतिक पेंच चलने लगे। आखिरकार सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई आरम्भ हुई, और उसमें इंग्लैण्ड, फ्रान्स, रूस और इटली में खुफ़िया समझौते हुये। दुनिया के सामने तो ऊँचे सिद्धान्त रक्खे गये आज़ादी के और छोटे देशों की स्वतन्त्रता के; लेकिन परदे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तज़ार में उसके बँटवारे के मनसूबे निश्चित किए गये।

पर ये मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले ज़ारों का रूस ही ख़त्म होगया। वहाँ क्रान्ति हुई, और हुकूमत और समाज दोनों का ही उलट-फेर होगया। बोलशेविकों ने तमाम पुराने ख़ुफ़िया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि ये यूरप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कितनी धोखेबाज़ हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोलशेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं, और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाना चाहते। हरेक जाति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है।

यह सफ़ाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसन्द नहीं आई। उनकी राय में ख़ुफ़िया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफ़त की निशानी नहीं थी। ख़ैर, अगर रूस की नई हुकूमत नालायक है, तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने—ख़ासकर अँग्रेज़ों ने—कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान-ख़लीफ़ा ज़रूर मौजूद थे, लेकिन वह एक गुड्डे की भाँति थे; जिधर मोड़ दिये जायँ, उधर ही घूम जाते थे। आया सूफ़ीया भी हस्बमामूल खड़ी थी और मस्जिद थी, लेकिन उसकी वह शान कहाँ, जो आज़ाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज़ पढ़ने जाते थे?

सुलतान ने सिर झुकाया, ख़लीफ़ा ने ग़ुलामी तसलीम की, लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमें से एक मुस्तफ़ा कमाल था, जिसने ग़ुलामी से बग़ावत को बेहतर समझा।

इस अर्से में कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हक़दार पैदा हुये—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ़्त में बहुत-सी ज़मीन मिली, और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी-तक रूस रास्ते में था, और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुक़ाबिले से हट गया, और तुर्क लोग हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ़ मालूम होता था। इग्लैण्ड और फ्रान्स के बड़े आदमियों को भी राज़ी कर लिया गया, फिर दिक्क़त क्या?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफ़ा कमालपाशा। उसने ग्रीक हमले का मुक़ाबिला किया और अपने देश से ग्रीक फ़ौजों को बुरी तरह हराकर निकाला। उसने सुलतान-खलीफ़ा को जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक ग़द्दार (देश-द्रोही) कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफ़त दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्कों को, हज़ार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूंक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींचकर जाति में सबसे आगे रक्खा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपने को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबमें नई तालीम फैलाई--हज़ार वर्ष पुराने रिवाज़ों और तरीक़ों को खत्म किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ़ हज़ार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंगोरा नगर होगया—एक छोटा-सा शहर; लेकिन तुर्की की नई शक्ति का एक नमूना कुस्तुन्तुनिया नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल होगया।

और आया सुफ़ीया ? उसका क्या हशर हुआ ? वह चौदहसौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है, और जिन्दगी के ऊँच-नीच को देखती जाती है। नौसौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगन्धियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूंघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अजान की आवाज़ उसके कानों में आई और नमाज़ पढ़नेवालों की क़तारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुई।

और अब ?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है,—इसी साल १९३५ में—ग़ाज़ी मुस्तफ़ा कमालपाशा (जिनको अब खास खिताब और नाम अतातुर्क का दिया गया है) के हुक्म से आया सुफ़ीया मस्जिद नहीं रही। बग़ैर किसी धूमधाम के वहाँके होजा लोग (मुस्लिम मुल्ला वग़ैरा) हटा

दिए गये और अन्य मस्जिदों में भेज दिए गये। अब यह तय हुआ कि आया सुफ़ीया बजाय मस्जिद के एक म्यूज़ियम (संग्रहालय) हो—खास-कर बाइजेण्टाइन कलाओं का। बाइजेण्टाइन जमाना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई जमाना था। तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा १४५२ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइजेण्टाइन कला खत्म होगई, इसलिए अब आया सुफ़ीया एक प्रकार से फिर ईसाई जमाने को वापस चली गई—मुस्तफ़ा कमाल के हुक्म से।

आजकल वहाँ ज़ोरो से खुदाई होरही है। जहाँ-जहाँ मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है, और पुराने मोज़ाइक्स निकल रहे हैं। बाइजेण्टाइन कला के जाननेवाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गये हैं, और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख्ती लटकती है और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उसका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिये। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिये; अपने दिमाग को हज़ारो वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइये; क्या-क्या तसवीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या जुल्म, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं। उन दीवारो से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजुरबे आपको देदें। शायद कल और परसों जो गुज़र गये, उनपर गौर करने से हम आज को समझें; शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झांक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने इतवार की ईसाई पूजा बहुत देखी और बहुत देखी जुमे की नमाज़ें। अब हर दिन की नुमायश है उनके साये में! दुनिया बदलती रही, लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हलकी मुसकराहट-सी मालूम होती है, और धीमी आवाज़-सी कानों में आती है—'इन्सान भी कितना बेवकूफ़ और जाहिल है कि वह हज़ारो वर्ष के तजुरबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता है।'

अगस्त १९३५।

नागरिकता का आदर्श

पुराने ज़माने में राज्य क़रीब-क़रीब राजा का निजी अधिकार
ा जाता था। राजा का मुख्य काम अपनी प्रजा पर कर लगाना
र बाहरी हमलों और भीतरी गड़बड़ और डाकुओं वग़ैरा से उसकी
ा करना था। अपने आदमियों को थोड़ा-सा सुरक्षित बनाकर ही
सका काम समाप्त होजाता था। अगर वह इतना कर देता था और
रों का बहुत कुचल डालनेवाला बोझ नहीं लादता था, तो वह अच्छा
राजा समझा जाता था। ऐसे राज्यों को 'पुलिस राज्य' कहा गया है;
क्योंकि सरकार का मुख्य कर्तव्य पुलिस के कर्तव्य की क़िस्म का था।
हमारे भारतीय राज्य भी आज बहुत कुछ उसी तरीक़े के हैं। ज़रूरी भेद
बस इतना है कि उन्हें अपनेआप बाहरी हमलों से नहीं बचाना पड़ता।
उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ी सरकार भी मुख्यतः पुलिस सरकार ही थी।
उसने राज्य की शिक्षा, संस्कृति, उद्योग, औषधि, सफ़ाई की तरक्की के
लिए कुछ नहीं किया। धीरे-धीरे परिस्थितियों ने मौजूदा राज्य के
अनेकानेक कामों में उसे दिलचस्पी लेने के लिए बाध्य किया, हालांकि
उसकी दिलचस्पी ज्यादा आगे नहीं गई और उससे नतीजा भी कुछ
नहीं निकला।

पहलेपहल शहरों में नागरिकों के लिए रक्षा मात्र से कुछ अधिक
करने के लिए विचार पैदा हुआ। शहरों में बहुतसे आदमियों के निकट-
सम्बन्ध से सहकारी क्रियाओं और संस्कृति की उन्नति हुई। नागरिक
आदर्श से यह विचार पैदा होता है कि नागरिकों को सामान्य मनोरंजन
के साधन मिलने चाहिएँ। सड़कें और पुल जो कि निजी तौरपर अधिका
में थे और जिनपर कर लगते थे, वे सर्वसाधारण की सम्पत्ति होग

और बिना किसी तरह के कर के सबके लिए खुल गये। सफ़ाई, रोशनी, पानी, शफ़ाखाने, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सहायता, बाग़-बगीचे, मनोरंजन के मैदान, स्कूल और कालिज, लाइब्रेरी और अजायबघर, ये सब म्यूनिसिपैल्टी के हाथ में आ गये। आज म्यूनिसिपैल्टी का कर्तव्य यही नहीं है कि ये चीज़ें बिना पैसे नागरिकों को उपलब्ध करादे; बल्कि यह भी है कि कला-भवन, थियेटर, संगीत और, सबसे अधिक महत्वपूर्ण, हरेक नागरिक के लिए उपयुक्त घर की व्यवस्था करे। लेकिन स्पष्ट रूप से आज सबसे ज्यादा जरूरत तो खाने की है। और उस आदमी को जिसके पास खाना नहीं है, कला और संस्कृति देना तो उसकी हँसी उड़ाना है। इसलिए मौजूदा म्यूनिसिपैल्टी का आज कर्तव्य है कि वह देखे कि उसकी हद में कोई भूखा न मरे। जो आदमी बेकार हैं, उन्हें काम मिले और अगर काम की व्यवस्था न हो सके तो उन्हें खाना दिया जाय। यही आज नागरिकता का आदर्श है, हालांकि कोई ही म्यूनिसिपैल्टी उसको पूरा करती है। हिन्दुस्तान में अब भी उस आदर्श की झलक पाने से भी हम बहुत दूर हैं।

इस नागरिकता के आदर्श ने धीरे-धीरे राज्य पर भी अपना असर डाला और उसके साथ राज्य की चारों दिशाओं में प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। 'पुलिस राज्य' बदलकर मौजूदा राज्य के रूप में—एक जटिल यंत्रिक सरकार जिसकी प्रवृत्तियों के बहुत से विभाग और दायरे हैं और हरेक नागरिक के साथ उसके बहुतसे सम्बन्ध हैं—परिणत कर दिया गया। उसे बाहरी हमले और भीतरी गड़बड़ से ही सुरक्षित नहीं रक्खा गया, बल्कि उसने उसे शिक्षा दी, उद्योगों का ज्ञान कराया, उसके रहन-सहन के दर्जे को उठाने की कोशिश की, सांस्कृतिक विकास के लिए उसे अवसर दिये, बीमे की योजना उसे दी जिससे वह अनहोनी दुर्घटनाओं का मुक़ाबिला कर सके। और सब तरह के साधन उसे दिये और उसे काम और खाना देने का ज़िम्मेदार उसने अपनेको बनाया। नागरिकता का आदर्श फैलता गया। आज वह मौजूदा सामाजिक विधान में जितना फैल सकता था उतना फैल गया है और जबतक कि वह विधान,

जैसा कि वह है, रहता है, तबतक उसकी आगे तरक्की नहीं हो सकती।

सच्चा नागरिकता का आदर्श तो समाजवादी यानी कम्यूनिस्ट आदर्श है। उसका मतलब है कि आदमी की कोशिश से कुदरत जो सम्पत्ति पैदा करती है, उसका सामान्य उपभोग हो। यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है जब मौजूदा सामाजिक विधान में तब्दीली हो और समाजवाद उसकी जगह चलाया जाय।

दिसम्बर १९३३

: २६ :

शिष्टाचार

बहुत-से कारणों से अखबारनवीसों की दुनिया में मैं 'न्यूज़' (खबर) समझा जाता हूँ और अक्सर कहानियाँ बनाकर मेरे चारों ओर खड़ी की जाती हैं। जो लोग सार्वजनिक काम करते हैं वे अगर जनता में मशहूर होजाते हैं तो उनकी अखबारी कीमत जरूर होजाती है। मैं बहुत-से पत्रकारों और पत्र-प्रतिनिधियों के सम्पर्क में आता हूँ और मुझे यह मानना चाहिए कि उन्होंने मेरे साथ हमेशा नम्रता का व्यवहार किया है और उदारता दिखाई है—शायद इसलिए कि उन्होंने मुझे अपनी-जैसी भावनाओं का पाया है। वास्तव में मैं उनके साथ एक तरह का भाई-चारा मानता हूँ; क्योंकि पत्रकारों के से विचार मुझमें हैं। दूसरी जगहों की तरह यहाँ मलाया में भी अखबारवालों ने मेरे साथ उतनी ही उदारता दिखाई है।

कुछ आलोचनाएँ मेरे बारे में की गई हैं, और कभी-कभी जो कुछ मैंने कहा, या किया है, वह पसद नहीं किया गया। ऐसा मैं चिढ़कर नहीं कह रहा हूँ। आलोचनाएँ तो मुझे पसंद हैं। वे मुझे दूसरों की *निगाहों से अपनी ओर देखने में मदद देती हैं। एक सवाल को भिन्न-भिन्न* दृष्टिकोणों से देखने का और मौजूदा जिन्दगी की उलझनों में सीधे सोचने का मौका भी मिलता है। और अगर अखबार ही आलोचना न करेंगे तो और कौन करेगा? अखबारों का यह सबसे मुख्य काम है और आजकल सार्वजनिक कामों में अखबारों को बहुत खास हिस्सा लेना है।

मुझपर अपराध लगाया गया है कि मैं सभ्यता के खिलाफ़ काम करता हूँ, सदाचार की मुझमें कमी है, मेजबानों के साथ मैं अभद्र हो

जाता हूँ, और मुझे जिस तरह वर्ताव करना चाहिये उस तरह वर्ताव नहीं करता। ऐसे मामलों में मैं अनिवार्य रूप से पक्षपाती हूँ और चाहे जितना मैं अवैयक्तिक या वाह्य रूप से इन बातों पर विचार करूँ; लेकिन मेरी चेतना मुझे निष्पक्ष नहीं होने देती। फिर भी अपने वर्ताव का मैं निरीक्षण किया करता हूँ और अपने कामों और कथनों में भी व्यवस्था रखने की कोशिश करता हूँ। इतने पर भी कभी-कभी मैं भटक जाता हूँ तो इसमें अचरज क्या है? काम इतने रहते हैं कि कभी उनका अन्त नहीं दीखता और इसीसे मेरी नसें विद्रोह कर बैठती हैं। मेरी ज़िन्दगी अजीबोग़रीब है।

ऊपर लिखी बातों का अपराधी मैं कहाँतक रहा हूँ? मैं नहीं जानता कि इसका कारण किस हद तक जो कुछ मैंने किया है या कहा है, उसका मलाया के लिए अनोखापन है। यहांके उच्चवर्गीय वायुमण्डल में, जो सुन्दर है पर दिखावटी भी है, मैं आया; लेकिन मेरे पैर खेतों, कारखानों और बाज़ारों की धूल से भरे थे और मेरा हाव-भाव या मेरे तौर-तरीक़े उच्चवर्गीय विचारों के मेल के नहीं थे। और-और जगहों पर तो उच्चवर्गीय नियंत्रण खत्म हो चला है और असलियत की दुनिया लगातार उनके दरवाज़े को खटखटा रही है और कभी-कभी अन्दर जाने का रास्ता भी वह बना लेती है।

मलाया में आने का मेरा ख़ास विचार यह नहीं था कि यहाँ की भीड़ से मिलूँ या उसे व्याख्यान दूँ। मैं तो यहांके शान्तिप्रद दृश्यों के बीच विश्राम करने आया था; लेकिन भीड़-की-भीड़ मेरे पास आई और मुझे घेर लिया। उनकी चमकती हुई आँखों और अगाध प्रेम ने मेरे हृदय में प्रतिध्वनि पाई। हिन्दुस्तान की हमारी लड़ाई, हमारी आशा और भय, हमारी नवीन शक्ति और स्वावलम्बन, ग़रीबी और बेकारी का अंत कर देने का हमारा पक्का विचार, लम्बी-लम्बी वेदनामय रातें जो प्रभात होने से पहले बितानी होती हैं, ये सब बातें सुनने के वे इच्छुक थे। मैंने उन्हें ये बातें सुनाईं।

भीड़ जो मेरे पास आई उसे उच्चवर्ग के तौर-तरीक़ों की शिक्षा नहीं

मिली थी। प्रबन्ध काफी न होने के कारण खूब धक्का-मुक्की हुई और गड़बड़ हुई। जब मैंने गड़बड़ को दूर करने के और तरीके इख्तियार किये तो कुछ आदमियों ने सोचा कि मैं आपे में बाहर होगया हूँ। ज्यादातर गड़बड़ की वजह तो यह थी कि बहुतसे आदमियों को मैं दिखाई नहीं दे रहा था। मैं मेज़ पर खड़ा होगया, ताकि आदमी मुझे देखलें। दूसरे मौक़ों पर मैं भीड़ को चीरकर शान्ति करने के लिए वहाँ पहुँच गया जहाँ पर कि भीड़ बहुत ज्यादा थी।

इन छोटी-सी बातों का मैंने हवाला दिया है, क्योंकि इनकी आलोचनाओं से दूसरे और ख़ास जुर्मों पर रोशनी पड़ती है। ये अजीब बातें थीं, जिनके मौजूदा पत्रकार आदी नहीं थे। उन्होंने उनका उल्टा अर्थ लगाया या नाराज़ी ज़ाहिर की।

यही बात मेरे व्याख्यानों के साथ हुई। कहींपर तो उनकी रिपोर्टें ही ग़लत की गईं, क्योंकि रिपोर्टर मेरे उद्देश्य को समझ नहीं सके। असल बात यह थी कि मेरा दृष्टिकोण बहुतसे आदमियों के लिए अजीब था। वे शायद पहले उसके बारे में सुन चुके थे और उन्होंने उसे पसन्द नहीं किया था और न उसको कोई विशेषता ही दी। अब जब वह तीक्ष्णता से बिना किसी लगाव-लिपटाव के उनके सामने आया तो वे हक्के-बक्के हो गये। उन्होंने मुझसे सीधे सवाल किये। मुझे भी क्या उनके उत्तर सीधे ही नहीं देने चाहिए थे ? लेकिन वास्तव में यह उनके लिए और जनता के लिए अशिष्टता होती।

अपने व्याख्यानों में मैंने सीधी-सादी भाषा में, जो कि पढ़े-लिखे और कुपढ़ दर्शकों की लम्बी-चौड़ी भीड़ के सामने बोलनी चाहिए थी, हिन्दुस्तान के मसलों को जितना वैज्ञानिक ढंग से समझा सकता था, समझाने की कोशिश की। मैं चाहता था कि मेरे आलोचक मुझे बताते कि कहाँ मैंने ग़लत तक़रीर की। वह इस आलोचना और नाराज़ी से कहीं अधिक फ़ायदे-मन्द होता। हमारा फ़र्ज़ है कि मसलों को समझें और उन्हें सुलझावें, न कि इसलिए उनसे दूर भागें क्योंकि हम उन्हें पसन्द नहीं करते। मैंने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कामों की आलोचना की और

बताया कि हिन्दुस्तान अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहा है। यही तो हमारी आज़ादी की लड़ाई की बुनियाद है। इसको साफ़ किये बिना हिन्दुस्तान के बारे में कुछ कहना ही बेकार होता। आदमियों के खयालात हमसे जुदा हो सकते हैं। अपने खयालात का उन्हें अधिकार है। लेकिन सवाल यह है कि आया इन अहम मसलों को इसलिए दबा लिया जाय; क्योंकि उनसे उच्चवर्ग के लोगों की नाज़ुक-दिली को चोट लगती है? अपनी तो मैं कहता हूँ, मशीन-जैसे आदमियों के लिए, जिनका अपना कोई अस्तित्व नहीं है और जो उन आदमियों की हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं जिनके हाथ में शक्ति है, मेरे दिल में जगह नहीं है। संगठित शक्ति को भी चाहिए कि अगर वह दूरदर्शी है और वास्तविकता के सम्पर्क में रहना चाहती है तो उन्हें अधिक प्रोत्साहन न दे।

मुझसे पूछा गया है कि क्या मैं ब्रिटिश-विरोधी हूँ, इसका विरोधी हूँ, उसका विरोधी हूँ? ये ऐसे सवाल हैं जिनसे पता चलता है कि सवाल करनेवाले ने हमारे आजकल के मसलों को बिलकुल नहीं समझा है। हम तो इस विरोध की अवस्था से आगे बढ़ गये हैं। मैं तो विस्तृत और मुख्य-मुख्य लाइनों पर अपनी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करता हूँ। अगर 'ब्रिटिश' का अर्थ 'ब्रिटिश आदमियों' से है, तो मुझे ब्रिटिश-विरोधी क्यों होना चाहिए? मैं खुद उनका बहुत अहसानमन्द हूँ। उनकी भाषा और उनके साहित्य से मेरा सम्बन्ध है और उनमें बहुत-से मेरे मित्र हैं। लेकिन मैं साम्राज्यवाद और साम्राज्य के खिलाफ़ हूँ, जहाँ कहीं वह हो, क्योंकि मेरा अनुमान है कि वह दुनिया की प्रगति के रास्ते में रोड़ा अटकाता है।

अगर हम मौजूदा हालतों से सन्तुष्ट नहीं हैं—और क्या कोई ऐसा बुद्धिमान और सचेत आदमी है जो सन्तुष्ट है?—तो दुनिया के मसलों को हमें यथासंभव निस्पृह होकर समझने की कोशिश करनी चाहिए और उस पहलू पर हमें अपनी ताक़त लगा देनी चाहिए जिससे उनका हल मिलता हो। मलाया में, जो प्राकृतिक साधनों का भण्डार है, मैंने महसूस किया है कि दुनियाभर से बुरी हालत है। ऐसा मैंने कहीं नहीं देखा।

कैसी अजीब बात है ? मैं जानता हूँ कि मलाया दुनियाभर की प्राकृतिक सम्पत्ति है। इतने बड़े भण्डार को लेकर, जो प्रकृति ने हमें दिया है, और विज्ञान और उद्योगों के द्वारा उन साधनों से लाभ उठाने की अमोघ शक्ति पाकर भी, क्या इस दुनिया को हम सबके लिए स्वर्ग नहीं बना सकते ? लेकिन इतनी वर्तमान प्रचुरता और उससे भी अधिक भविष्य में मिलने की आशा होते हुए भी हम छोटी-छोटी बातों पर झगड़ते हैं। आदमी आदमी का शोषण करता है, राष्ट्र राष्ट्र का। भावी अन्तर्राष्ट्रीय संकट हमारी जिन्दगी में निराशा भर जाता है। लेकिन वह दिन आनेवाला है जब कि इस जटिल गोरखधंधे से बाहर होने का हम रास्ता निकालेंगे और सामान्य हितों और मानव-जाति की उन्नति के लिए पारस्परिक सहयोग देंगे।

१ जून १९३७।

: २७ :

जेलख़ाने की बातें

हाल ही के एक अंग्रेजी-अखबार में एक लेखक ने लिखा है कि राजनीति के बोझ और जेल की ज़िन्दगी से मैं मर मिटा हूँ। मैं नहीं जानता कि यह खबर उन्हें कैसे और कहाँसे मिली; लेकिन अपने शरीर और दिमाग़ को अच्छी तरह से टटोलकर मैं यह कह सकता हूँ कि दोनों खूब मजबूत और ठीक हैं और जल्दी ही उनके बिगड़ने या गिरने का कोई खतरा नहीं है। अपने लिए खुशक़िस्मती से मैं हमेशा शारीरिक स्वास्थ्य और योग्यता को प्रधानता देता रहा हूँ और हालाँकि मैंने अक्सर अपने शरीर के साथ बहुत अन्याय किया है, फिर भी मैंने उसे कभी ही बीमार पड़ने दिया है। दिमाग़ी तन्दुरुस्ती तो ज्यादा दिखाई नहीं देती; लेकिन उसकी भी मैंने काफ़ी चिन्ता रक्खी है। और मैं खयाल करता हूँ कि मेरी दिमाग़ी तन्दुरुस्ती उन बहुत-से आदमियों से अच्छी है जिनपर सक्रिय कांग्रेस-राजनीति का बोझ नहीं पड़ा और न जिन्होंने जेल की ज़िन्दगी ही बिताई है। इसे चाहे मेरी ख़ामख़याली ही क्यों न कहा जाय।

लेकिन मेरी तन्दुरुस्ती या बीमारी मामूली बात है, जिससे किसीको चिन्ता नहीं होनी चाहिए, हालाँकि मेरे मित्रों और अख़बारों ने इस बात को बहुत महत्व दे दिया है। राष्ट्रीय और सामाजिक दृष्टिकोण से महत्व की चीज़ तो जेलों की और उन बहुत-से आदमियों की शारीरिक और दिमाग़ी हालत है जो हिन्दुस्तान में रह रहे हैं। यह बात सब कहते हैं कि मजबूत और बहादुर आदमी भी बहुत दिनों की जेल की ज़िन्दगी के भारी बोझ से मर मिटते हैं। मैंने अपने प्रियजनों को जेल में दुःख सहते देखा है और मेरे उन दोस्तों की, जिन्होंने दुःख उठाये हैं, एक बड़ी लम्बी-चौड़ी दुःखभरी सूची है। अभी हाल ही में मेरे एक अनमोल साथी जिनसे मैं

पच्चीस से कुछ ज्यादा बरस पहले केम्ब्रिज में मिला था और जो हमारे इस अभागे मुल्क में बहादुरों में भी बहादुर थे—जे० एम० सेन गुप्त—[1] जेल में ही मरे।

यह स्वाभाविक है कि हम अपने साथियों और परिचितों के दुःख को उन हजारों आदमियों के दुःख की बनिस्बत ज्यादा महसूस करें जिन्हें हम जानते तक नहीं हैं। फिर भी उन्हींके बारे में मैं ये चन्द लाइनें नहीं लिख रहा हूँ। हम, जिन्होंने खुशी से जेल के लोहे के फाटकों के भीतर रहना पसन्द किया, जेल के बर्ताव पर न तो शोर ही मचाना चाहते हैं और न उसकी शिकायत ही करना चाहते हैं। अगर हमारे मुल्क के आदमी इस बात में दिलचस्पी रखते हैं, और इस सवाल को उठाना चाहते हैं तो उठा सकते हैं। ऐसे सवाल अक्सर उठाये जाते हैं। लेकिन नियम तो ऐसा होगया है कि ये सवाल बड़े आदमियों से ही संबंध रखते हैं और उन बड़े आदमियों की सामाजिक विशिष्टता की बुनियाद पर जेल में उनके साथ अच्छा बर्ताव किये जाने की माँग पेश की जाती है। उस असंतोष को मिटाने के लिए कुछ थोड़े-से आदमियों को 'ए' और 'बी' दर्जे में रख दिया जाता है, ज्यादातर आदमियों को तो, शायद ९५ फीसदी से ऊपर, जेल की जिन्दगी की कड़ी-से-कड़ी सख्तियाँ उठानी पड़ती हैं।

इन जुदा-जुदा दर्जों में ऊँच-नीच के बर्ताव की आलोचना अक्सर की गई है और वह ठीक ही है। कुछ तो वह तन्दुरुस्ती की बुनियाद पर ठीक है, क्योंकि यह बहुत मुमकिन है कि कुछ आदमी जो दूसरी तरह की खुराक के आदी हैं, उन्हें अगर जेल की खुराक पर ही रहना पड़े तो उनमें कोई खास गड़बड़ पैदा हो जाय, जैसा कि बहुतों के साथ हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि कुछ आदमी शरीर से बहुत ज्यादा मिहनत नहीं कर सकते। लेकिन इनके अलावा यह कैसे उचित समझा जाय कि वे हकूक जो दूसरे दर्जों के कैदियों को दिये जाते हैं, वे 'सी'

१. बंगाल-कांग्रेस के विख्यात नेता। जेल काटने की वजह से प्रारम्भिक चालीस वर्ष की आयु में सन् १९३४ में मृत्यु होगई।

दर्जे के क़ैदियों को न मिलें ? ऊँचा दर्जा तो शायद लोगों की 'सामाजिक विशिष्टता' या ऊँची रहन-सहन की वजह से दिया जाता है। मुझे यक़ीन है, एक बात तो यह देखी जाती है कि वह कितनी मालगुजारी देता है। क्या ज्यादा मालगुजारी देने की ही वजह से यह अर्थ निकलता है कि उसकी मोह-ममता उसके घरवालों से ज्यादा है और इसलिए उसे ज्यादा मुलाक़ातें करने और चिट्ठी भेजने का हक़ होना चाहिए ? या कि पढ़ने-लिखने की सहूलियतें उन्हें ज्यादा मिलनी चाहिए ? ज्यादा माल-गुज़ारी देनेवाले तो अक्सर दिमाग़ के बहुत ज्यादा तेज़ नहीं पाये जाते।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि उन आदमियों से जिन्हें मुला-क़ातों की और पढ़ने-लिखने की सुविधायें दी जाती हैं, वे उनसे छीन ली जायें। ये हक़ूक़ तो जैसे कि वे हैं, कुछ भी नहीं हैं। हमें यह जानना चाहिए कि बहुत-से दूसरे मुल्कों में बुरे-से-बुरे, नीच-से-नीच क़ैदी को भी हिन्दुस्तान के 'ए' दर्जे के क़ैदी के हक़ूकों से कहीं ज्यादा हक़ूक मिलते हैं। और फिर भी यहाँ 'ए' और 'बी' दर्जों के हक़ूक इतने कम आदमियों को दिए जाते हैं कि हिन्दुस्तान के जेलखानों की हालतों पर विचार करते वक्त उन्हें भुलाया जा सकता है। असल में 'ए' और 'बी' दर्जे दिखावे और जन-मत को बहलाने के लिये दिए जाते हैं। बहुत-से आदमी जो असलियत नहीं जानते, वे भ्रम में पड़ जाते हैं।

कुछ 'ए' दर्जे के कैदियों और खासतौर से कुछ नज़रबन्दों या शाही क़ैदियों को अक्सर एक नया तजुरबा करना पड़ता है, जो बेहद दुःखदाई है। एक-एक वक़्त में महीनों उन्हें अकेला बिना साथी के रक्खा जाता है और, जैसा कि हर डाक्टर जानता है, इस तरह अकेला रहना औसत आदमी के लिए बुरा है। सिर्फ़ वही आदमी इसके बुरे असर से बच सकते हैं जिन्होंने अपनेको अकेले रहने के योग्य बना लिया है और जो अपने भीतर-ही-भीतर रह सकते हैं। यह ठीक है कि क़ैदी को या नज़रबन्द को चन्द मिनटों तक जेल के किसी अधिकारी के साथ बातचीत करने की आज़ादी दी जाती है; लेकिन यह ऐसी आज़ादी है, जिसपर खुशी के ढोल नहीं पीटे जा सकते। यह कालकोठरी की सज़ा सरकार साफ़

तौर से जानबूझकर देती है। मुझे याद है उस वक्त जब मैं दिसम्बर १९३१ में गिरफ्तार हुआ था, खान अब्दुलगफ्फारखाँ भी पेशावर या उसमनजई में गिरफ्तार हुए थे। एक ही वक्त में चार गिरफ्तारियाँ हुई थीं—उत्तर-पश्चिम सरहद के खुदाई खिदमतगारों के नेता खान अब्दुलगफ्फारखाँ, उनके भाई डाक्टर खानसाहब, डा० खानसाहब का छोटा लड़का, और एक उनका साथी। उन चारों को एक स्पेशल ट्रेन से ले जाया गया और चार शहरों की जुदा-जुदा चार जेलों में उन्हें रक्खा गया। इसमें क्या मुश्किल होती, अगर सबको या बाप और बेटे और भाइयों को एक साथ रख दिया जाता? ऐसा तो आसानी से किया जा सकता था, लेकिन जान-बूझकर ऐसा नहीं किया गया। डाक्टर खानसाहब के बारे में मैं जानता हूँ कि वह अकेले ही नैनी-जेल में रक्खे गये। एक महीने से कुछ ज्यादा मैं भी नैनी जेल में रहा; लेकिन हमें एक-दूसरे से दूर ही रक्खा गया। आपस में मिलने की हमें इजाजत नहीं थी। मेरे लिए डाक्टर खानसाहब से मिलना एक लालच की चीज थी; क्योंकि वह, जब मैं विलायत में पढ़ता था, तब के मेरे दोस्त थे और बरसों से मैं उनसे मिला भी नहीं था।

यह सवाल राजनैतिक कैदियों के साथ रिआयती बर्ताव का नहीं है। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि राजनैतिकों के साथ वह बर्ताव और बुरा ही होता जायगा, जैसा कि पिछले बारह सालों में हुआ है। जन-मत के जागृत होने से ही वह रोका जा सकता है; लेकिन जन-मत को भी आखिरी सहारा नहीं गिनना चाहिए जबतक कि वह उतना मजबूत न हो कि उससे कामयाबी की पूरी उम्मीद हो।

इसलिए यह स्पष्ट है कि राजनैतिक कैदियों को बढ़ते हुए बुरे बर्ताव की ही उम्मीद रखना चाहिए। १९२१-२२ की बनिस्बत १९३०-३१ में वह बर्ताव और भी बुरा हुआ और सन् १९३०-३१ की बनिस्बत १९३२ में और भी बुरा। आज जेल में एक मामूली राजनैतिक कैदी की हालत अराजनैतिक कैदी की बनिस्बत कहीं ज्यादा खराब है। धमकाकर माफ़ी मँगवाने के लिए या कम-से-कम उसे जेल में पूरी तरह

से परेशान कर देने के लिए अक्सर हर तरह की कोशिश की जाती है।

सर सेम्युअल होर की तरफ़ से कामन्स सभा में कहा गया था कि "हिन्दुस्तान में ५०० से ज्यादा आदमियों के सन् १९३२ में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन में कोड़े लगाए गये थे।" कोड़े मारने या न मारने के रिवाज़ से अक्सर यह आंका जाता है कि अमुक राज्य कितना सभ्य है। बहुतसे सभ्य राज्यों ने इस रिवाज़ को एकदम बन्द कर दिया है, और जहाँपर यह रिवाज चालू है वहाँ भी सिर्फ़ उन्हीं जुर्मों के लिए कोड़े लगाये जाते हैं जिन्हें नीच-से-नीच या हैवानी समझा जाता है, जैसे छोटी उम्र की लड़कियों पर बलात्कार, वग़ैरा। शायद कुछ महीने पहले कुछ (अराजनैतिक) जुर्मों के लिए कोड़े की सज़ा क़ायम रखने के सवाल पर असेम्बली में बहस हुई थी। सरकारी वक्ताओं ने कहा था कि कुछ हैवानी जुर्मों के लिए कोड़े की सज़ा ज़रूरी है। शायद हरेक दिमाग़ी और रूहानी आदमी की राय इसके ख़िलाफ़ है। उनका कहना है कि हैवानी जुर्मों के लिए हैवानी सज़ा देना सबसे बेवक़ूफ़ी का तरीक़ा है। लेकिन चाहे जो कुछ हो, हिन्दुस्तान में पूर्ण राजनैतिक और टैक-नीकल जुर्मों के लिए या जेल की व्यवस्था के ख़िलाफ़ छोटे-मोटे जुर्मों के लिए कोड़े लगाना आम रिवाज है। और इसमें निश्चित ही कोई नैतिक कमीनापन नहीं माना जाता।

राजनैतिक स्त्री क़ैदियों के साथ तो और भी सख़्ती का बर्ताव किया जाता है। हजारों औरतों को जेल में डाला गया; लेकिन उनमें से बहुत थोड़ी औरतों को 'ए' या 'बी' दर्जा दिया गया। जेल में स्त्रियों की—राजनैतिक या अराजनैतिक—हालत आदमियों की हालत की बनिस्बत कहीं गई-बीती है। आदमी अपने-अपने काम से जेल के भीतर इधर-उधर घूम तो लेते हैं। उनका मन बहल जाता है, हिलना-डुलना भी हो जाता है और इससे कुछ हद तक उनका मन ताज़ा हो जाता है। औरतों को हालांकि कुछ हलका काम दिया जाता है, पर उन्हें तंग जगह में पास-पास रख दिया जाता है। वे बेहद रूखी ज़िन्दगी बिताती हैं। औसत अपराधियों की बनिस्बत अपराधिनियाँ भी साथिन के रूप

में कही बुरी होती है। आदमियों में बहुतसे ऐसे होते हैं जो बिलकुल बेकसूर-से होते हैं, उनमें बहुत-से सभ्य ग्रामीण खेत के मामले में झगड़कर अंत में लम्बी सजायें पाते हैं। आदमियो की बनिस्बत औरतों में अपराध की भावना ज्यादा होती है। ज्यादातर राजनैतिक स्त्री-क़ैदियों को, जिनमें बहुत-सी सुन्दर जवान लड़कियाँ भी होती हैं, इस दम घोटनेवाले वायुमण्डल को बर्दाश्त करना पड़ता है। मुझे दिखाई देता है कि हमारे जेल के भीतर या बाहर जितनी चीज़ होती हैं, उनमें शायद ही कोई इतनी बुरी हो जितना कि औरतो के साथ होनेवाला बर्ताव।

मैं नही चाहता, कि किसी भी औरत के साथ—चाहे वह मध्य वर्ग की हो, या किसान या मजदूर-घर की—ऐसा बर्ताव किया जाय जैसा कि हमारे जेलो में किया जाता है। ज्यादातर राजनैतिक कैदिनें बड़े घर की या मध्य वर्ग की होती है। किसान राजनैतिक मामले में जेल चला भी जाता है, लेकिन किसान-औरतें तो शायद ही कभी जाती है। सरकार के दृष्टिकोण से विचार करते हुए औरतों का सामाजिक दर्जा कही ज्यादा ऊँचा होता था।

पिछले साल यू० पी० की लेजिस्लेटिव कौंसिल में उस वक्त के गृह-सदस्य ने यह कहकर मेम्बरों को चकित कर दिया कि अगर जेलो में राजनैतिको की हालतो में सुधार कर दिया गया तो डाकू भी राज-नैतिक कैदी बन-बनकर जेल में आया करेंगे। मुझे यकीन है, उन्होंने ऐसी ही दलील औरतो की हालत सुधारने के बारे में भी दी थी। इसमें संदेह नहीं कि ये दलीलें उनके ऊँचे श्रोताओ के लायक थीं और उनसे उनका मतलब भी पूरा हुआ। हममें से जो बाहरी बातो को नहीं जानते, उनके लिए गृह-सदस्य के ज्ञान और समझ की गहराई का अन्दाज लगाना बड़ी दिलचस्पी की चीज़ होगी। चोर-डाकुओ की प्रकृति की समझ, अपराध-शास्त्र, मनोविज्ञान और मानव-प्रकृति का ज्ञान उन्हें कितना है, यह उनके कथन से ज़ाहिर होता है। इन दलीलों से हम कुछ नतीजों पर पहुँचते हैं, जो शायद गृह-सदस्य के दिमाग में नही आये। अगर एक डाकू अपने पेशे को छोड़कर जेल आने के लिए तैयार है, बशर्ते कि जेल में ज्यादा सख्ती

न हो, तो इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अगर जेल से बाहर उसे थोड़ा-बहुत ज़िन्दगी का सहारा मिल जाय और उसकी मामूली जरूरतें पूरी होती रहें तो वह डाका मारने और अपराध करने को छोड़ने के लिए कहीं ज्यादा तैयार होगा। इसका मतलब यह है कि डाका डालने के लिए उसपर दबाव भूख-प्यास और मुसीबत का पड़ता है। इस दबाव को दूर कर दीजिए, डाका डालना खत्म होजायगा। इस तरह डाके और अपराध का इलाज सख्त सज़ा नहीं है, बल्कि उसके बुनियादी कारणों को दूर करना है; लेकिन इतने गहरे और क्रांतिकारी खयालात के लिए पिछले साल के गृह-सदस्य को ज़िम्मेदार बनाने की मेरी इच्छा नहीं है, हालाँकि उन्होंने जो-कुछ कहा उससे ऐसे खयालात पैदा हो सकते हैं। दूसरे और ऊँचे ओहदे पर बैठकर वे अपने अर्थशास्त्र के गहरे ज्ञान की झलकें कभी-कभी हमें ले लेने देते रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि अपनी मिथ्या दृष्टि को उन्हें छोड़ना पड़ेगा।

राजनैतिक क़ैदियों में अलहदा-अलहदा दर्जे करने के बारे में अक्सर सरकार से कहा गया है; लेकिन उसने वैसा करने से इन्कार कर दिया है। मेरे खयाल से, मौजूदा हालतों में, सरकार ने ठीक ही किया है; क्योंकि राजनैतिकों को मालूम कैसे किया जाय? सविनय अवज्ञा करने वाले क़ैदियों को आसानी से अलहदा किया जा सकता है; लेकिन राजनैतिक क़ानूनों और नियमों की धाराओं को छोड़कर राजनैतिक विद्रोही को पकड़ने के और भी बहुत-से तरीक़े हैं। देहातों में तो यह आम रिवाज है कि किसान-नेता या कार्यकर्ता ज़ाब्ता फ़ौजदारी की निरोधक धाराओं के मातहत या उससे भी बड़े जुर्मों के लिए पकड़े जाते हैं। ये आदमी उतने ही राजनैतिक क़ैदी हैं जितने दूसरे, और ऐसे आदमियों की तादाद बहुत थोड़ी है। यह पद्धति बड़े शहरों में प्रकाशन की वजह से ज्यादा नहीं पाई जाती।

ऊँची दीवारें और लोहे के दरवाज़े जेल की छोटी-सी दुनिया को बाहर की विस्तृत दुनिया से विच्छिन्न कर देते हैं। इस जेल की दुनिया की हरेक चीज़ जुदा है। लम्बी मियाद के क़ैदियों और आजीवन कारावास

भुगतनेवालों के लिए उसमें कोई रस नहीं है, तब्दीली नहीं है; न उम्मीद है, न खुशी। नीरसता से भरी उनकी जिन्दगी जैसे-तैसे कटती रहती है। वह तो चौपट रेगिस्तान है, जिसमें कोई सुन्दर स्थान नहीं है, और न प्यास बुझाने के लिए या जलती हुई धूप से बचने के लिए कोई हरी-भरी जगह ही है। दिन बीतते-बीतते हफ्ते बीत जाते हैं और हफ्तों के बाद महीने, साल, और जिन्दगी खत्म होजाती है।

राज्य की तमाम ताकत उसके खिलाफ है। मामूली-सी भी रोक-थाम उसे नहीं मिलती। उसके दुःख की कराह दबा दी जाती है। उसकी पीड़ित पुकार जेल की ऊँची दीवारों के बाहर तक सुनाई नहीं पड सकती। उसूलन कुछ रोक-थामें हैं और बाहर से मुलाकाती और अफसर लोग मुआइना करने के लिए आते हैं; लेकिन कभी ही कैदी को उनसे शिकायत करने की हिम्मत होती है। और जो हिम्मत करके शिकायत करते भी हैं, उन्हें उसके लिए दुःख भी सहना पडता है। मुलाकाती तो आकर चले जाते हैं, जेल के मामूली अफसर रह जाते हैं, उन्हीके साथ कैदी को अपने दिन बिताने होते हैं। इसमें ताज्जुब नहीं कि कैदी अपनी मुसीबतों को बढाने के खतरे को उठाने की बनिस्बत अपने दुखों को सह लेना ज्यादा पसन्द करता है।

बहुत-से राजनैतिक कैदियों के आने से जेल की अन्धेरगर्दी पर कुछ रोशनी पड़ी। ताजा हवा अन्दर आई और साथ में लम्बी मियाद के कैदियों के लिए कुछ आशा भी लाई। जन-मत में जागृति हुई और कुछ सुधार हुए। लेकिन सुधार थोड़े ही हुए और जरूरी तौर पर व्यवस्था ज्यों-की-त्यों रही। कभी-कभी जेलों में 'विद्रोह' होते सुने जाते हैं। इससे क्या बात जाहिर होती है? शायद इसमें दोष कैदियों का ही हो। जेल की ऊँची दीवारों से घिरे निहत्थे बेबस कैदी के लिए जेल-अधिकारियों की शस्त्रीय ताकत को चुनौती देना पागलपन की बात नहीं तो क्या है? उससे सिर्फ एक फायदा होता है लोगों में यह भावना पैदा हो जाती है कि सिर्फ बेहद उत्तेजित होने पर ही कैदी ऐसी मूर्खता और मायूसी का काम कर सकते हैं और उत्तेजना का कोई कारण होगा।

जेल की तरफ़ से या डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की तरफ़ से जाँचें होती हैं। क़ैदी को न्याय की क्या उम्मीद होसकती है ? एक तरफ़ तो पूरी तरह से तैयार किया हुआ मामला होता है, जिसके पीछे जेल के अधिकारी हैं और वहुतसे क़ैदी जिन्हें उनके कहने पर चलना पड़ता है, दूसरी तरफ़ डरी, काँपती हुई, ठुकराई मानवता जिसके हथकड़ी-वेड़ी पड़ी हैं। किसीकी हमदर्दी उसके साथ नहीं है, कोई उसका यक़ीन नहीं करता। यू० पी० सरकार के जुडीशल सेक्रेटरी ने पिछले नवम्बर में प्रान्तीय कौंसिल में कहा था कि उन आदमियों पर, जो जेल में पड़े हैं, मामले में एक पार्टी होने के कारण, कभी यक़ीन न किया जाय। और चूंकि वेचारा क़ैदी पिटने या उसके साथ वुरा वर्ताव किये जाने के कारण एक पार्टी होता है, इससे उसका यक़ीन नहीं किया जाता। यह वड़े मजे की वात होगी कि यू० पी० सरकार से पूछा जाय कि ऐसी हालतों में अदृश्य और दैवी ताक़त की गवाही से कम और किसकी गवाही वह वेचारा क़ैदी पेश कर सकता है ?

निजी सरकारी जाँचों के पीछे अगर दर्दनाक कहानी न होती, तो उसके मजाक को अच्छी तरह समझा जाता। जव कभी कोई पुलिस या जेल के अधिकारियों के खिलाफ़ कोई जुर्म लगाता है, तो सर सेम्युअल होर ग़ुस्से से उवल पड़ते हैं और सार्वजनिक या निष्पक्ष जाँच के लिए वरावर इंकार करते रहते हैं। मुझे याद पड़ता है कि कोई दो वरस पहले हिजली[1] में डिपार्टमेण्ट की तरफ़ से जाँच हुई थी और उसके थोड़े ही समय वाद सरकारी जाँच ने वताया कि घटनाओं का सरकारी विवरण एकदम ग़लत है। लेकिन वह तो एक खास मौक़ा था। डिपार्टमेण्ट की ज्यादातर जाँचों की देखभाल इस तरह कभी नहीं की जाती।

पिछले साल मुझे एक निजी तजुरवा हुआ, जिसकी कुछ खास अहमियत है। जवकि मेरी माँ और धर्मपत्नी जेल में मेरे वहनोई के

१. वंगाल में एक जगह जहाँ नजरवन्दों—यानी वंगाल के उन आदमियों के लिए निर्वासन कैम्प था, जिन्हें सजा दी गई थी या जिनपर आतंकवाद का या उससे सम्वन्ध रखने का शुवह किया जाता था।

साथ मुलाकात कर रही थीं, तब इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट जेल के जेलर ने उनकी बेइज्जती की और जोर से उन्हें धक्का देकर निकाल दिया। जब मैंने यह सुना, तो मुझे गुस्सा आया; लेकिन फिर भी इस मामूली घटना को मैंने कोई अहमियत नहीं दी, क्योंकि उससे सिर्फ यही बात तो जाहिर होती थी कि एक ऐसे अफसर ने नामुनासिब हरकत की जो शिक्षित नहीं है और जो शिष्टाचार नहीं जानता। मैं उम्मीद करता था कि कोई ऊँचा अफसर इस घटना पर अफसोस जाहिर करेगा, लेकिन वैसा होना तो दूर रहा, उलटे बिना उस बारे में कुछ कहे मेरी माँ, धर्मपत्नी और बहनोई को सजा दी गई। अप्रत्यक्ष रूप में मुझे भी सजा मिली, मुद्दत तक मुझे अपनी माँ या धर्मपत्नी से नहीं मिलने दिया गया। जब मैंने इसपेक्टर-जनरल से इसकी जांच की तो एक छोटा-सा जवाब आया, जिसमें मेरी माँ के सम्बन्ध में अशिष्टतापूर्ण बात कही गई थी। सिर्फ इस वक्त ही सरकार मुझसे और मेरी माँ और धर्मपत्नी के कथनों से सच्ची बात जान सकी।

यह साफ था कि उन्होंने बड़ी भारी गलती की थी। मेरे बार-बार पूछने पर भी उन्होंने हमारे कथनों में कोई गलती नहीं बताई। इसलिए मुझे समझ लेना चाहिए कि उन बातों को उन्होंने मंजूर किया। जैसा कि उन्हें करना चाहिए था। अगर ऐसा था, तो पहले उन्होंने बड़ी बेवकूफी का काम किया, जिसके लिए कम-से-कम उन्हें अफसोस तो जाहिर करना ही चाहिए था। मैं अब भी इन्तजार कर रहा हूँ कि वे खुले शब्दों में अफसोस जाहिर करें।

अगर ऐसा बर्ताव मेरी माँ और धर्मपत्नी के साथ किया जा सकता है और साथ ही सरकार का अजीब बर्ताव और हठ भी चल सकता है तो यह अच्छी तरह से समझा जा सकता है कि औसत मामूली कैदियों और उनके आदमियों को कैसा बर्ताव सहना पड़ता होगा। हमारी सरकार की तमाम पद्धति, जैसी कि वह बिना आदमियों में जड़ें पोढ़ाए, ऊपर से लगादी गई है, सिर्फ तभी तक लटकी रह सकती है, जब तक कि एक खूटी दूसरी को सहारा देती है। यही उसकी ताकत है और खुशकिस्मती

से यही उसकी कमज़ोरी है; क्योंकि जब उस पद्धति का एक बार पतन होता है तो वह पूरी तरह से होता है।

पिछले साल मैंने जेल से गृह-सदस्य को लिखा और मैंने उनसे कहा कि यू० पी० की जेलों की हालतों के बारह बरस के तजुरबों से बहुत दुःख के साथ मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इस प्रान्त की जेलों में व्यभिचार, हिंसा और झूठ एकदम भर गया है। बहुत साल पहले मैंने अपनी जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को (बाद में वह इन्सपैक्टर-जनरल हो गया था) कुछ बुराइयाँ बताई थीं। उसने उन्हें मंजूर किया और कहा कि पहलेपहल जब वह जेल में नौकर हुआ था, तब उसमें सुधार करने के लिए उत्साह था; लेकिन बाद में उसने पाया कि कुछ हो-हा नहीं सकता, इसलिए पुराना ढर्रा उसने चलने दिया।

अकेले आदमियों के किये असल में कुछ नहीं हो सकता। और बहुत से ऐसे लोग भी कोई आदर्श उदाहरण नहीं हैं, जिन पर जिम्मेदारी है। भारतीय बंदीगृह आखिर बड़े हिन्दुस्तान का ही तो एक छोटा रूप है। महत्व की बात तो यह है कि जेल का ध्येय क्या है? आदमियों की भलाई, या एक मशीन का चलाना, या स्थिर स्वार्थों को क़ायम रखना? सज़ायें क्यों दी जाती हैं? क्या समाज या सरकार की तरफ़ से बदला लेने के लिए, या अपराधी को सुधारने की नीयत से?

क्या जज या जेल के अफ़सर कभी इस बात को सोचते हैं कि अभागा अपराधी जो उनके सामने है, उसे ऐसा बना देना चाहिए कि जेल से निकलने पर वह समाज के क़ाबिल हो? ऐसे सवाल उठाना महज़ हिमाक़त की बात है; क्योंकि कितने ऐसे आदमी हैं जो असल में इस बारे में चिन्ता करते हैं?

हम उम्मीद करें कि हमारे जज बड़े उदार आदमी हैं; निश्चय ही वे बड़ी लम्बी-लम्बी सजायें तो दे ही देते हैं। पेशावर से १५ दिसम्बर १९३२ की एसोशिएटेड प्रेस की खबर है:—

"कोल्डस्ट्रीम के क़त्ल के बाद ही सीमाप्रान्त के इन्सपेक्टर-जनरल तथा दूसरे बड़े अफ़सरों को धमकी भरी चिट्ठियाँ लिखने के लिए जमना-

दास नाम के मुल्जिम को पेशावर के सिटी मजिस्ट्रेट ने ताजीरात हिन्द की दफा ५०० व ५०७ के अनुसार ८ साल की सजा दी।" जमनादास देखने में लड़का लगता था।

एक और मार्के की मिसाल है। लाहौर में २२ अप्रैल १९३३ की एसोशियेटेड प्रेस की खबर है.—

"सात इंच लम्बे फने का चाकू पास रखने की वजह से मजादन नाम के एक मुसलमान को सिटी मजिस्ट्रेट ने आर्म्स एक्ट की १९वीं दफा के मुताबिक १८ महीने सख्त कैद की सजा दी।"

तीसरी मिसाल मदरास की ६ जुलाई १९३३ की है। रामस्वामी नाम के एक लड़के ने चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट की अदालत में, क्योंकि वह एक षड्यंत्र का मुकदमा सुन रहा था, एक पटाखा चला दिया। उसमें कोई नुकसान नहीं हो सकता था। फिर भी रामस्वामी को बच्चों के जेल में रहने के लिए चार साल की सजा हुई।

ये तीन मिसालें कोई गैरमामूली मिसालें नहीं हैं। और बहुत-सी मिसालें उनमें जोड़ी जा सकती हैं। उनसे भी बुरी और मिसालें हैं। मैं समझता हूँ, हिन्दुस्तान में बहुत दिनों से आदमी दुःख उठा रहे हैं, इसलिए ऐसी अजीब सजायें जब दी जाती हैं तो उन्हें अचरज नहीं होता। अपनी तो मैं कहता हूँ, चाहे जितना अभ्यास करूँ तब भी उन सजाओं के पढ़ते ही मेरा दम बिना चढ़े नहीं रह सकता। नाजी जर्मनी को छोड़कर कहीं भी इस तरह की सजायें वाबेला मचा देंगी।

और न्याय हिन्दुस्तान में अन्धे होकर नहीं किया जाता। खुदगरजी की आँख सदा खुली रहती है। किसानों के हरेक विद्रोह में बहुत-से किसानों को आजीवन कारावास मिलता है। ये छोटे-छोटे विद्रोह अक्सर तभी खड़े होते हैं जब जमींदारों के गुमाश्ते आ-आकर उन दुखी किसानों में आर चुभोते हैं, जिसे वे किसान बर्दाश्त नहीं कर सकते। सिर्फ उन आदमियों की शनाख्त करके जो मौके पर मौजूद थे, उम्रभर के लिए या लम्बी सजा देने के लिए जेल में डाल देने का औचित्य मिल जाता है। उनके भड़कने का कारण तो शायद ही कभी देखा जाता है। शनाख्त भी

ठीक तरह से नहीं होती। पुलिस जिस आदमी से नाराज होती है उसी-को आसानी से फाँस लिया जाता है। अगर इस मामले को राजनैतिक रूप दिया जा सके या लगानबन्दी-आन्दोलन से उसे सम्बन्धित किया जा सके, तब तो जुर्म लगाना और लम्बी सजायें देना और भी आसान हो जाता है।

हाल ही के एक मामले में एक किसान ने टैक्स-कलेक्टर के चाँटा मार दिया, जिसपर उसे एक साल की सजा हुई। दूसरी मिसाल इससे कुछ भिन्न है। वह पिछली जुलाई में मेरठ में हुई। एक नायब तहसीलदार एक गाँव के आदमियों से आबपाशी वसूल करने गया। उसके चपरासी एक किसान को खींचकर उसके पास लाये और शिकायत की कि उसकी स्त्री और लड़कों ने उन्हें मारा है। एक अजीब कहानी थी। खैर, नायब ने हुक्म दिया कि अपनी स्त्री के कसूर के लिए उस किसान को सजा दी जाय। और तब तीनों—नायब खुद और दो चपरासी—आदमियों ने छड़ी से उस दीन को खूब मारा। इतना मारा कि उस मार से बाद में वह मर गया। नायब और चपरासियों पर मुकदमा चला और मामूली चोट पहुँचाने के लिए उन्हें क़सूरवार ठहराया गया और बाद में इस बात पर उन्हें छोड़ दिया गया कि छः महीने तक वे अपना आचरण ठीक रक्खें। आचरण ठीक रखने से मतलब, मैं समझता हूँ, यह था कि आगे के छः महीनों में वे किसी आदमी को इतना न मारें कि वह मर जाय। इन मामलों का एक-दूसरे से मुक़ाबिला करना बड़ा शिक्षाप्रद है।

इसलिए जेलों में सुधार करने के लिए अनिवार्यतः दण्ड-विधि को सुधारना होगा। उससे भी ज्यादा उन जजों की मनोवृत्तियों को बदलना होगा जो कि अब भी सौ बरस पीछे के जमाने में पड़े हुए हैं और सजा और सुधार के नये विचारों से एकदम नावाकिफ़ हैं। इसके लिए तमाम शासन-प्रणाली को बदलना होगा।

लेकिन हम जेलों के बारे में ही विचार करें। सुधार इस विचार की बुनियाद पर होना चाहिए कि कैदी को सजा नहीं दी जा रही है, बल्कि उसे सुधारा जा रहा है और एक अच्छा नागरिक बनाया जा रहा है।

(मैं राजनैतिकों के बारे में विचार नहीं कर रहा हूँ। बहुत से उनमें इतने अपराधी होते हैं कि उनका सुधार नहीं हो सकता।) अगर इस ध्येय को एक बार मान लिया गया तो जेलों की गदगी एकदम दूर हो जायगी। आजकल तो बहुत ही कम जेल के अफ़सर ऐसे विचारों के हैं। मुझे याद है, यू॰ पी॰ के जेल-मैन्युअल के एक पैराग्राफ़ में कहा गया है कि यह जरूरी नहीं है कि कैदी का काम उत्पादक या लाभदायक हो; यह तो सजा के लिए है। यह तो करीब-करीब इस बात का एक आदर्श कथन है कि जेल ऐसा नहीं होना चाहिए। वह पैराग्राफ तो कब का खतम हुआ; लेकिन उसकी भावना तो अब भी बाकी है—वह भावना जो कि बड़ी कठोर और मज़ा देनेवाली है और मानव-जाति में जिसका एकदम अभाव है। यू॰ पी॰ के जेल-मैन्युअल में जेल के जुर्मों की दी हुई सूची बड़ी मजेदार है। उसमें वे सब बातें आ जाती हैं जिन्हें आदमी की बुद्धि जिन्दगी को असह्य-से-असह्य बनाने के लिए इकट्ठा कर सकती है। बात करना, गाना, चिल्लाकर हँसना, नियमित घण्टों के अलावा टट्टी जाना, जो खाना दिया जाय उसे न खाना, इत्यादि सब जुर्म हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जेल के अधिकारियों की सारी ताक़त कैदियों को दबाये रखने में और ऐसे बहुत-से कामों से रोकने में चली जाती है, जिन्हें करने की कैदियों को मुमानियत है।

कुछ आदमियों का खयाल है कि अगर सख्त सजा न दी जायगी तो गुनाह बढ़ेंगे। ऐसे आदमी अज्ञानी हैं। असल में सचाई तो बिलकुल इससे उलटी है। सौ बरस पहले इंग्लैंड में मामूली चोर भी फाँसी पर लटका दिये जाते थे। जब चोरों के लिए मौत की सजा हटाने का इरादा किया गया तो बड़ा शोर मचा। लार्ड—सभा में अमीरों ने कहा कि इससे तो यह नतीजा होगा कि चोर-डाकू हर चीज चुरायेंगे और एक आतंक पैदा कर देंगे। असल में इस सुधार का नतीजा उनके विचार से उलटा निकला और गुनाह बहुत कम होने लगे। इंग्लैंड और दूसरे मुल्कों में दण्ड-विधि और जेलों में सुधार होजाने के कारण गुनाह धीरे-धीरे बहुत कम हो गये हैं। इंग्लैंड में बहुत-से पुराने जेलखानों को

अव ज़रूरत नहीं रही है और वे दूसरे कामों के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। यह सव जानते हैं कि हिन्दुस्तान में जेलों में कैदियों की तादाद वढ़ती ही जारही है (राजनैतिक कैदियों के अलावा) और प्रवन्धक और न्याय-सम्वन्धी संस्थायें लम्वी और कठोर सजायें देकर इस वारे में और प्रोत्साहन दे रही हैं। वच्चों को सज़ा देना तो सव जगह वहुत वुरा समझा जाता है और उसे दरगुज़र किया जाता है, लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान में जेल युवकों और वच्चों से भरे हुए हैं और अक्सर उन्हें कोड़े मारने की सजा दी जाती है।

लोग डरते हैं कि अगर जेलों की हालतें सुधार दी गईं तो आदमी-पर-आदमी उनमें आ भरा करेंगे। ऐसा सोचना ग़लती है। इससे पता चलता है कि मानवीय प्रकृति का ज्ञान उन्हें नहीं है। जेलखाने चाहे जितने अच्छे हों, कोई भी उनमें नहीं जाना चाहता। आजादी, कौटुम्विक ज़िन्दगी मित्र और घरेलू वायुमण्डल से वंचित होना एक वड़े दुःख की वात है। सव जानते हैं कि हिन्दुस्तान का किसान अपने वाप-दादा की ज़मीन से चिपटकर भूखों मर जाना चाहेगा, उसे छोड़कर दूसरी जगह अपनी हालत सुधारने वह नहीं जायगा। जेल की हालतों के सुधारने का मतलव यह नहीं है कि जेल की ज़िन्दगी को सुगम वना दिया जाय। उसका मतलव तो यह है कि उसमें इंसानियत और समझदारी पैदा करदी जाय। कड़ा काम हो; लेकिन तेल की नली, पानी की नली या चक्की का वहशी और वेकार का काम न हो। जेल वड़े पमाने के कारखानों में, जहाँ क़ैदी काम करते हैं, या घरेलू-धंधे करके चीजें पैदा करें। काम जेल के और क़ैदी के भावी जीवन के दृष्टिकोण से उपयोगी होना चाहिए। और उसके लिए वाजारू दर से क़ैदियों के रहन-सहन के खर्च को निकालकर जो वचे वह क़ैदियों को मजदूरी में मिलना चाहिए। दिन में आठ घंटे कड़ी मेहनत करने के वाद क़ैदियों को प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे आपस में मिलें-जुलें, खेल खेलें, पढ़ें, कुछ सुनावें, व्याख्यान दें। इससे भी ज्यादा उन्हें प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि वे हँसें और जेल के अधिकारियों तथा अन्य क़ैदियों से मानवीय संवन्ध पदा करें। हरेक क़ैदी की शिक्षा की तरफ़

यह नहीं सोचना चाहिए कि इन तब्दीलियों से अतिरिक्त खर्च बढ़ जायगा। अगर जेलों को ठीक-ठीक मौजूदा औद्योगिक लाइनों पर चलाया जाय तो वे स्वावलम्बी ही नहीं होंगी; बल्कि ऊपर बताई अतिरिक्त खुश-गवारी के अतिरिक्त खर्च को निकाल कर उनसे आमदनी भी हो सकती है। इन तब्दीलियों को करने में कोई भी मुश्किल नहीं है। एक मुश्किल हो सकती, है, वह यह कि जेल के अधिकारी होशियार हों और उनमें इंसा-नियत हो और वे नये दृष्टिकोण को पूरी तरह से समझ सकें, उसे पसन्द कर सकें और उसके लिए कोशिश करने की इच्छा उनमें हो। यह बेहद ज़रूरी है।

मेरी इच्छा है कि हमारे कुछ आदमी विदेशी जेलखानों की हालत का अध्ययन करें और जहाँ मुमकिन हो वहाँ खुद जाकर उनका निरीक्षण करें। वे देखेंगे कि हमारे जेलखाने उनसे कितने पीछे हैं। हर जगह एक नई इंसानियत पाई जाती है, साथ ही लोग यह भी जानने लगे हैं कि सामा-जिक हालतें ही ज्यादातर आदमी को क़सूरवार बनाती हैं। इसलिए क़ैदी को सज़ा देने के बजाय एक बीमारी की तरह उसका इलाज होना चाहिए। सच्चे अपराधियों का मन बच्चों का-सा होता है और यह मूर्खता की बात है कि बड़ा समझकर उसके साथ बर्ताव किया जाय।

लेटविया जैसे छोटे मुल्क की जेलों में हम सुनते हैं कि "पौधों, फूलों, किताबों और क़ैदियों की निजी चीज़ों को, जैसे फोटोग्राफ़, दस्तकारी, बेतार-के-तार, लगाकर कोशिश की जाती है कि क़ैदियों के कमरों और कोठ-रियों में घरेलू वातावरण पैदा हो।" वहाँ क़ैदियों को अपने काम के लिए मजदूरी मिलती है। उनकी आधी आमदनी जमा होती रहती है और आधी वे अतिरिक्त भोजन, तम्बाकू, अखबार वग़ैरा में खर्च कर देते हैं।

सोवियटों का देश, रूस तो जेल की हालत सुधारने में सबसे आगे बढ़ गया है। हाल ही में एक होशियार निरीक्षक ने सोवियट-जेलों की जाँच की थी। उनकी रिपोर्ट बड़ी दिलचस्प है। यह निरीक्षक डी० एन० प्रिट, के० सी०, एक मशहूर अंग्रेज वकील थे। वह दण्ड-सुधार के लिए हॉवर्ड-लीग के अध्यक्ष भी हैं। यह लीग एक संगठन है जो साठ बरस से

ज्यादा से इंग्लैण्ड में जेल-सुधार में सबसे आगे है। प्रिट बताते हैं कि वहाँ सजा में से सजा का अंश तो एकदम हटा दिया गया है। अब सजा बिलकुल सुधार के लिए दी जाती है। कैदियों के साथ बर्ताव इंसानियत का होता है और बेहद अच्छा होता है।

वहाँ दो तरह के जेलखाने हैं :—(१) अधखुले रीमे या पूरे खुले कम्यून या कॉलोनी। असल में वे जेल बिलकुल नहीं हैं। वहाँ कैदी गाँव की जिन्दगी बसर करते हैं। कुछ पाबन्दियाँ उनपर होती हैं। (२) बन्द जेल। ये जेल सबसे सख्त तरह के जेल होते हैं; लेकिन यहाँ भी कैदियों को बहुत ज्यादा आजादी दी जाती है। देखकर ताज्जुब होता है। वार्डर और क़ैदियों में बराबरी की भावना होती है और काम के घंटों के अलावा दूसरे क़ैदियों और गार्डों से मिलने-जुलने में कोई रुकावट नहीं होती। मामूली कारखानों का आठ घंटे का काम वहाँ होता है जिसके लिए मामूली मजदूरी मिलती है। बाकी घंटों के लिए खेल हैं, पढ़ाई है, जिमनास्टिक, लेक्चर, बेतार के तार, किताबें हैं। शौक के लिए कैदी ड्रामा भी खेलते हैं। कैदी इधर-उधर की बातें भी करते हैं और वार्डरों और जेल के दूसरे अफसरों पर जो "यह भूल जाते हैं कि जेल सजा के लिए नहीं है, बल्कि सुधार के लिए है," बिना हिचकिचाये टीका-टिप्पणी करते हैं।

रूस की सब सम्थाओं में जिस स्वराज्य के सिद्धान्त को प्रोत्साहन दिया जाता है, उसको कुछ हदतक जेलों में भी व्यवहार में लाया जाता है। कैदी खुद अपने ऊपर सजायें लगाते हैं। काम के वक्त छोड़कर, सिगरेट पीने की उन्हें आजादी है। मुलाकातें जल्दी-जल्दी होती हैं और बेरोक और बिना निगरानी के चिट्ठियाँ आती-जाती हैं। सबसे मार्के का नियम तो यह है कि वहाँ करीब-करीब हमेशा कैदी को पन्द्रह दिन की गर्मियों की छुट्टी मिलती है, जिससे वह घर जाकर अपनी पैदावार वग़ैरा की देखभाल कर आवे। जेल में वह औरत जिसके पास बच्चा है, या तो उस बच्चे को जेल की क्रेश[१] में छोड़ सकती है जहाँ अच्छी तरह से

१. बच्चों के लिए आम नर्सरी—सम्पादक

ी देख-भाल होती है या वह उसे घर पर छोड़ सकती है। घर
ड़ने की हालत में दूध पिलाने के लिए वह दिन में कई वार घर
कती है।

कोठरियों में फूल, तस्वीरें, फ़ोटोग्राफ़ रहते हैं। दिमाग़ का इलाज
वाले डाक्टर नियम से कैदियों की जाँच करके देखते हैं कि उनकी
ागी हालत ठीक है या नहीं। दिमाग़ के इलाज के लिए अस्पताल
जहाँ ज़रूरत पड़ने पर उन्हें भेज दिया जाता है। कालकोठरी की
ज़ा तो वहुत कम दी जाती है।

इन सब वातों पर यकीन नहीं होता; लेकिन रूस में ऐसा है और इस इंसानियत के वर्ताव का इतना अच्छा नतीजा निकला है कि ताज्जुव होता है। रूस वालों को उम्मीद है कि क़सूर वहुत-कुछ कम हो जायँगे और वहुत-सी जेल वन्द कर दी जायँगी। इसलिए अच्छे वर्ताव से जेल भरती नहीं हैं, खाली होती हैं, वशर्ते कि आर्थिक वुनियाद ठीक हो और करने के लिए काम हो।

थोड़ा वक्त गुजरा, कॉमंस सभा में हिन्दुस्तान में जानवरों की रक्षा करने पर विचार करने के लिए एक सभा हुई थी। वड़ा प्रशंसनीय विचार था; लेकिन यह याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान में वेचारा दो पैर का जानवर भी रक्षा और चिन्ता के लायक़ है। खासतौर से वे जो जेल में वहुत दिनों तक शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाते हैं और जेल से निकलने पर मामूली काम भी मुश्किल से कर पाते हैं।

नार्वे की हरेक जेल में दीवारों पर एक वात खुदी हुई है। वह नार्वे के एक मशहूर कैदी लार्स ऑलसन स्क्रैफ्सण्ड के, जिसने नशे की हालत में चोरी करने पर वड़ी लम्बी सजा भुगती, व्याख्यान का एक अवतर
है। वह वाद में हिन्दुस्तान आया और उसने स्कैंडीनेवियन सेंटल मिशन
की नींव डाली। वह एक वहुभापी व्यक्ति था, प्राचीन और आधुनिक स
भापायें जानता था। उनमें एक सेंटल भापा भी थी। उसके व्याख

१. सेंटल आर्यों से पहले की एक जाति है, जो वंगाल और
आसपास के जिलों में रहती है।

का अवतरण जो जेल की कोठरियों पर खुदा हुआ है, इस तरह है :—

"उस आदमी के अलावा जिसने कभी खुद यह महसूस नहीं किया कि कैदी होना कैसा होता है, कोई भी अंदाज नहीं कर सकता कि जेल में कैदी पर क्या बीतती है। उसकी कुछ कल्पना की जा सकती है; लेकिन उसमें उस आदमी की भावनायें जाहिर नहीं हो सकतीं जो दुखी और परित्यक्त अपनी कोठरी में पड़ा रहता है।"

यह अच्छी बात है कि वे आदमी, जिन्हें उनके भाग्य ने जेल की कोठरी से दूर ही रक्खा है, इन दुखी और परित्यक्त लोगों की ओर ध्यान देने लगे हैं।

१९३४।

: २८ :

साहित्य का भविष्य

कुछ दिन से फिर हिन्दी और उर्दू की बहस उठी है, और लोगों के दिलों में यह शक पैदा होता है कि हिन्दीवाले उर्दू को दबा रहे हैं और उर्दूवाले हिन्दी को। बग़ैर इस प्रश्न पर ग़ौर किये जोशीले लेख लिखे जाते हैं और यह समझा जाता है कि जितना हम दूसरे पर हमला करते हैं उतना ही हम अपनी प्रिय भाषा को लाभ पहुँचाते हैं; लेकिन अगर ज़रा भी विचार किया जाय तो यह बिलकुल फिजूल मालूम होता है। साहित्य ऐसे नहीं बढ़ा करते।

दूसरी बात यह भी देखने में आती है कि अक्सर साहित्य का अर्थ हम कुछ दूसरा ही लगाते हैं। हम भाषा की छोटी बातों में बहुत फँसे रहते हैं और बुनियादी बातों को भूल जाते हैं। साहित्य किसके लिए होता है? क्या वह थोड़े-से ऊपर के पढ़े-लिखे आदमियों के लिए होता है या आम जनता के लिए? जबतक हम इसका जवाब न दें, उस समय तक हमें साहित्य के भविष्य का रास्ता ठीक तौर से नहीं दीखता। और अगर हम इस बात का निश्चय करलें, तब शायद हमारे हिन्दी-उर्दू आदि के और झगड़े भी हल हो जायँ।

पहली बात जो हमको याद रखनी है वह यह है कि हमारा आजकल का साहित्य बहुत पिछड़ा हुआ है। यूरोप की किसी भी भाषा से मुक़ाबिला किया जाय तो हम काफ़ी गिरे हुए हैं। जो नई किताबें हमारे यहाँ निकल रही हैं वे अव्वल दर्जे की नहीं होतीं, और कोई आदमी आजकल की दुनिया को समझना चाहे तो उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह विदेशी भाषाओं की किताबें पढ़े। नई विचार-धारायें अभीतक हमारे साहित्य में कम पहुँची हैं। इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति इत्यादि

पर हमारी भाषाओं में माकूल पुस्तकें बहुत कम हैं। हमें इधर पूरे तौर से ध्यान देना है, नहीं तो हमारी भाषाएँ बढ़ नहीं सकतीं। जो लोग इन बातों के सीखने के प्यासे हैं उनको मजबूरन और जगह जाना पड़ेगा।

बहुत सारे प्रश्न उठते हैं। इन सब पर मैं इस समय नहीं लिख सकता; लेकिन चन्द बातों की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूँ—

१. मेरा पूरा विश्वास है कि हिन्दी और उर्दू के मुकाबिले से दोनों को हानि पहुँचती है। वे एक-दूसरे के सहयोग से ही बढ़ सकती हैं। और एक के बढ़ने से दूसरे को भी फ़ायदा पहुँचेगा। इसलिए उनका सम्बन्ध मुकाबिले का नहीं होना चाहिए, चाहे वह कभी अलग-अलग रास्ते पर क्यों न चलें। दूसरे की तरक्की से खुशी होनी चाहिए; क्योंकि उसका नतीजा अपनी तरक्की होगा। यूरोप में जब नये साहित्य (अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन) बढ़े, तब सब साथ बढ़े, एक-दूसरे को दबाकर और मुकाबिला करके नहीं।

२. इसके माने यह नहीं कि हर भाषा के प्रेमी अपनी भाषा की अलग उन्नति की कोशिश न करें। वे अवश्य करें, लेकिन वह दूसरे की विरोधी कोशिश न हो और मूल सिद्धान्त सामने रखें।

३. यह खाली उर्दू-हिन्दी के लिए नहीं, बल्कि हमारी सब बड़ी भाषाओं के लिए—बंगाली, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम—यह बात साफ़ कर देनी चाहिए कि हम इन सब भाषाओं की तरक्की चाहते हैं, और कोई मुकाबिला नहीं। हर प्रान्त में वहाँकी भाषा ही प्रथम है। हिन्दी या हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा अवश्य है और होनी चाहिए; लेकिन वह प्रान्तीय भाषा के पीछे ही आ सकती है। अगर यह बात निश्चय हो जावे और साफ़-साफ़ कह दिया जावे तो बहुत गलत-फ़हमियाँ दूर हो जावें और भाषाओं का सम्बन्ध बढ़े।

४. हिन्दी और उर्दू का सम्बन्ध बहुत करीब का है, और फिर भी कुछ दूर होता जा रहा है। इससे दोनों को हानि होती है। एक शरीर पर दो सिर हैं और वे आपस में लड़ा करते हैं। हमें दो बातें समझनी हैं और हालाँकि वे दो बातें ऊपरी तौर से कुछ विरोधी मालूम होती हैं,

फिर भी उनमें कोई असली विरोध नहीं है। एक तो यह कि हम ऐसी भाषा हिन्दी और उर्दू में लिखें और बोलें जो कि बीच की हो, और जिसमें संस्कृत या अरबी और फारसी के कठिन शब्द कम हों। इसीको आम तौर से हिन्दुस्तानी कहते हैं। कहा जाता है, और यह बात सही है कि ऐसी बीच की भाषा लिखने से दोनों तरफ की खराबियाँ आ जाती हैं, एक दोग़ली भाषा पैदा होती है, जो किसीको भी पसन्द नहीं होती और जिसमें न सौन्दर्य होता है, न शक्ति। यह बात सही होते हुए भी बहुत बुनियाद नहीं रखती और मेरा विचार है कि हिन्दी और उर्दू के मेल से हम एक बहुत खूबसूरत और बलवान भाषा पैदा करेंगे, जिसमें जवानी की ताक़त हो और जो दुनिया की भाषाओं में एक माकूल भाषा हो।

यह बात होते हुए भी हमें याद रखना है कि भाषायें जबरदस्ती नहीं बनतीं या बढ़तीं। साहित्य फूल की तरह खिलता है और उसपर दबाव डालने से मुरझा जाता है। इसलिए अगर हिन्दी-उर्दू भी अभी कुछ दिन तक अलग-अलग झुकें, तो हमको उसपर ऐतराज नहीं करना चाहिए। यह कोई शिकायत की बात नहीं। हमें दोनों को समझने की कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि जितने अधिक शब्द हमारी भाषा में हों उतना ही अच्छा।

५. लिपि के बारे में यह बिलकुल निश्चय हो जाना चाहिए कि दोनों लिपियाँ—देवनागरी और उर्दू—जारी रहें और हरेक को अधिकार हो कि जिसमें चाहे, वह लिखे। अक्सर इस बात की चर्चा होती है कि एक प्रान्त में हिन्दी लिपि को दबाते हैं, जैसे सरहदी प्रान्त, या दूसरे प्रान्त में उर्दू लिपि को मौक़ा नहीं मिलता। हमें एक तरफ़ की बात ख़ाली नहीं कहनी है, बल्कि सिद्धान्त रखना है कि हर जगह दोनों लिपियों को पूरी आज़ादी होनी चाहिए। हिन्दी और उर्दू दोनों के प्रेमियों को मिलकर यह बात माननी चाहिए और इसका यत्न करना चाहिए।

६. यह प्रश्न असल में हिन्दी और उर्दू से भी दूर जाता है। मेरी राय में हर भाषा व हर लिपि को पूरी आज़ादी होनी चाहिए, अगर उसके बोलने और लिखनेवाले काफ़ी हों। मसलन, अगर कलकत्ते में

काफी तामिल बोलनेवाले रहते हैं तो उनको अधिकार होना चाहिए कि उनके स्कूलों में तामिल द्वारा पढ़ाई हो। जाहिर है कि एक प्रान्त के राजनैतिक कार्य का अन्य काम बहुत सारी भाषाओं में नहीं हो सकता। वह तो प्रान्त की ही भाषा में हो सकता है। उत्तरभारत और मध्यभारत में जहाँ हिन्दुस्तानी भाषा जनता की है, वहाँ एक भाषा और दो लिपियाँ सब जगह आज़ादी से चलनी चाहिएँ। इसके माने यह नहीं है कि हरेक को दो लिपियाँ सीखनी पड़ेंगी। यह बच्चों पर बहुत बोझा हो जावेगा और इसलिए वे या उनके माँ-बाप कह सके कि वह किस लिपि में सीखें। कोशिश यह भी होनी चाहिए कि कुछ लोग दोनों लिपियाँ सीखें।

७. हिन्दी और हिन्दुस्तानी शब्दों पर बहुत बहस हुई है और गलतफहमियाँ फैली है। यह एक फिजूल की बहस है। दोनों ही शब्द हम अपनी राष्ट्रभाषा के लिए कह सकते हैं। दोनों सुन्दर हैं और हमारे देश और जाति से सम्बन्ध रखते हैं। लेकिन अच्छा हो, अगर इस बहस को बन्द करने के लिए हम बोलने की भाषा को हिन्दुस्तानी कहें और लिपि को हिन्दी या उर्दू कहें। इससे साफ-साफ मालूम हो जायगा कि हम क्या कह रहे हैं।

८. यह हिन्दुस्तानी भाषा क्या हो? देहली या लखनऊ के रहनेवाले कहते हैं कि हमारी बोली आमफहम, । इसीको हिन्दुस्तानी बनाओ; लेकिन बनारस, पटना और मध्यभारत, राजपूताना में जाइए तो काफी फर्क मिलता है। और अगर शहरों को छोड़कर देहातों में हम जावें तो और भी फर्क। फिर कौन भाषा हमारी हो?

हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए, जो सभ्य हो और जिसे अधिक-से-अधिक जनता समझे। इसको हम बैठकर कुछ कोषों का मुकाबिला करके नहीं बना सकते, और न दो-चार साहित्यकार (उर्दू और हिन्दी के) मिलकर इसको पैदा कर सकते हैं। इसकी बुनियाद तभी मजबूत पड़ेगी, जब लिखनेवाले आम जनता के लिए लिखेंगे और बोलनेवाले उनके ही लिए बोलेंगे। तब यह दफ्तरी बहसे कि कितनी उर्दू और कितनी हिन्दी. यह सब खत्म हो जावेगी। जनता फैसला करेगी। जो उसकी समझ में आवेगा वह रहेगी, जो नहीं समझेगी वह हलके-हलके दब जावेगी।

इसलिए हमारे लिए सबसे बुनियादी प्रश्न यही है कि हम आम-जनता के लिए अपना साहित्य बनावें और उनको हमेशा अपने दिमागों के सामने रखकर लिखें। हर लिखनेवाले को अपने से पूछना है, "मैं किसके लिए लिखता हूँ?"

९. एक और बात। यह आवश्यक है कि हिन्दी में यूरोप की भाषाओं से प्रसिद्ध पुस्तकों का अनुवाद हो। इसी तरह से हम दुनिया के विचार यहाँ लायेंगे और उसके साहित्य से लाभ उठायेंगे।

२५ जुलाई, १९३७।

: २६ :

हिन्दी और उर्दू का मेल

हमें हिन्दुस्तानी को उत्तरी और मध्य भारत की राष्ट्रीय भाषा समझकर विचार करना चाहिए। दोनों रूप सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए इनपर अलहदा-अलहदा विचार होना चाहिए।

हिन्दुस्तानी के हिन्दी और उर्दू दो खास स्वरूप हैं। यह साफ़ है कि दोनों का आधार एक है, व्याकरण भी एक है और दोनों का कोष भी एक ही है। वास्तव में दोनों का उद्गम एक ही है। इतना होनेपर भी इस समय जो दोनों में भेद होगया है, वह भी विचारणीय है। कहा जाता है कि कुछ हदतक हिन्दी का आधार संस्कृत और उर्दू का फ़ारसी है। इन दोनों भाषाओं पर इस दृष्टिकोण से विचार करना कि हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा है, युक्तिसंगत नहीं है। उर्दू की लिपि को छोड़कर यदि हम केवल भाषा पर ही विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि उर्दू हिन्दुस्तान के बाहर कहीं भी नहीं बोली जाती है। हाँ, उत्तरी भारत के बहुतसे हिन्दुओं के घरों में वह बोली जाती है।

मुसलमानों के शासनकाल में फ़ारसी राजदरबार की भाषा रही है। मुग़ल शासन के अन्ततक फ़ारसी का इसी रूप में प्रयोग होता रहा तथा उत्तरी और मध्य भारत में हिन्दी ही बोली जाती रही। एक जीवित भाषा के नाते फ़ारसी के बहुतसे शब्द इसमें प्रचलित होगये। इसी तरह गुजराती और मराठी में भी ऐसा ही हुआ। यह ज़रूर हुआ कि हिन्दी हिन्दी ही रही। राजदरबार में रहनेवाले व्यक्तियों में हिन्दी प्रचलित रही; किन्तु उसमें इतना परिवर्तन होगया कि वह लगभग फ़ारसी-जैसी होगई। यह भाषा 'रेख़ता' कहलाती थी। शायद मुग़लों के शासन-काल में मुग़ल-कैम्पों से 'उर्दू' शब्द प्रचलित हुआ। यह शब्द

हिन्दी का पर्यायवाची समझा जाता था। उर्दू शब्द से वही अर्थ समझा जाता था जो हिन्दी से। १८५७ के विद्रोह तक हिन्दी और उर्दू में लिपि को छोड़कर कोई और भेद नहीं था। यह तो सभी जानते हैं कि कई हिन्दी के प्रमुख कवि मुसलमान थे। गदर तक ही नहीं; बल्कि उसके बाद भी कुछ दिनों तक प्रचलित भाषा के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग किया जाता था। यह लिपि के लिए प्रयोग नहीं किया जाता था, बल्कि भाषा के लिए। जिन मुसलमान कवियों ने, अपने काव्य उर्दू-लिपि में लिखे, वे भी भाषा को हिन्दी ही कहा करते थे।

१९ वीं सदी के आरम्भ के लगभग 'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्दों के प्रयोग में कुछ फ़र्क होने लगा। यह फ़र्क धीरे-धीरे बढ़ता गया। शायद यह फ़र्क उस राष्ट्रीय जागृति का प्रतिबिम्ब था, जो कि हिन्दुओं में हो रही थी। उन्होंने परिष्कृत हिन्दी और देवनागरी की लिपि पर जोर दिया। आरंभ में उनकी राष्ट्रीयता का स्वरूप एक प्रकार से हिन्दू राष्ट्रीयता ही था। आरम्भ में ऐसा होना अनिवार्य भी था। इसके कुछ दिनों बाद मुसलमानों में भी धीरे-धीरे राष्ट्रीय जागृति पैदा हुई। उनका राष्ट्रीयता का स्वरूप भी मुस्लिम राष्ट्रीयता ही था।

इस तरह से उन्होंने उर्दू को अपनी भाषा समझना शुरू कर दिया। लिपियों के बारे में वाद-विवाद होने लगा और यह भी मतभेद का एक विषय बन गया, कि अदालतों और सरकारी दफ्तरों में किस लिपि का प्रयोग किया जाय। राजनैतिक और राष्ट्रीय जागृति का ही यह परिणाम हुआ कि भाषा की लिपि के विषय में मतभेद हुआ। आरम्भ में इसने साम्प्रदायिकता का स्वरूप लिया। जैसे-जैसे यह राष्ट्रीयता वास्तविक राष्ट्रीयता का स्वरूप लेती गई, अर्थात् हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र समझा जाने लगा और साम्प्रदायिकता की भावना दबने लगी, वैसे ही भाषा के सम्बन्ध में इस मत-भेद को समाप्त करने की इच्छा बढ़ती गई। बुद्धिमान व्यक्तियों ने उन अनगिनत बातों पर प्रकाश डालना शुरू कर दिया, जो हिन्दी और उर्दू दोनों में ही दिखाई देती थीं। इस बात की चर्चा होने लगी कि हिन्दुस्तानी उत्तरी और मध्य भारत की ही नहीं, बल्कि समस्त

देश की राष्ट्रभाषा है। खेद की बात है कि भारत में अभी तक साम्प्र-दायिकता का जोर है, अतः यह मत-भेद की [illegible] के साथ-साथ अभीतक मौजूद है। यह निश्चित है कि जब राष्ट्रीयता का पूरा विकास हो जायगा तो यह मत-भेद स्वयं ही नष्ट हो जायगा। हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि तभी हम समझ सकेंगे कि इस बुराई की जड़ क्या है। आप किसी भी ऐसे व्यक्ति को ले लीजिए जो इस मत-भेद से सम्बन्ध रखता हो। उसके बारे में खोज कीजिये तो आपको पता चलेगा कि वह सम्प्रदायवादी और सम्भवतः राजनैतिक प्रतिक्रियावादी है। यद्यपि मुगलों के शासनकाल में हिन्दी और उर्दू वाले शब्दों का ही प्रयोग होता था; किन्तु उर्दू शब्द खास तौर से उस भाषा का द्योतक था जो मुगलों की फौजों में बोली जाती थी। राज-दरबार और छावनियों के समीप रहनेवालों में कुछ फारसी के शब्द भी प्रचलित थे और यही शब्द बाद में भाषा में भी प्रचलित हो गये। मुगलों के केन्द्र से दक्षिण की ओर चलते जाइये तो मालूम होगा कि उर्दू शुद्ध हिन्दी में ही लीन हो गई। देहातों की अपेक्षा नगरों पर ही अदालतों का यह असर पड़ा और नगरों में भी मध्यमवर्ग के लोगों की [illegible] और भी ज्यादा असर पड़ा।

इससे हमें पता चलता है कि आज की उर्दू और हिन्दी में क्या अन्तर है। उर्दू नगरों की और हिन्दी [illegible] की [illegible] है। हिन्दी [illegible] बोली जाती है; किन्तु उर्दू तो [illegible] ही है।

उर्दू और हिन्दी की लिपि [illegible] बहुत बड़ा है; क्योंकि इन दोनों की [illegible] मनोरंजन लाना है। [illegible] उसका असर भी [illegible] न होता। [illegible] उसके बोलनेवालों की [illegible] है। [illegible] नहीं है जो कि आमतौर पर [illegible] में जो भेद पैदा हो गया है [illegible] साहित्य का भेद बड़ा [illegible] है। [illegible]

व्यक्ति ही इसके लिये जिम्मेदार हैं। इस प्रकार की कल्पना करना उचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो इस भेद को बढ़ते देखकर प्रसन्न होते हैं; किन्तु जीवित भाषाओं की प्रगति इस ढंग से नहीं होती। कुछ व्यक्ति उन्हें अपने ढंग पर लाना भी चाहें तो नहीं ला सकते। इसके लिए हमें गम्भीरता से विचार करना होगा। यद्यपि इस भेद का होना बड़ी बदक़िस्मती की बात है; किन्तु फिर भी यह इस बात का द्योतक है कि भविष्य अच्छा ही है। हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं में कुछ दिनों की स्थिरता के बाद फिर कुछ गति आने लगी है और दोनों ही अपना मार्ग ढूँढ रही हैं। वे नवीन विचारों को प्रकट करने के लिए संघर्ष कर रही हैं और पुराने मार्गों को छोड़कर एक नया स्वरूप धारण करती जा रही हैं। जहाँतक नये विचारों का सम्बन्ध है, वहाँ दोनों का ही शब्द-कोष दरिद्र है; किन्तु दोनों ही अन्य भाषाओं से इस अभाव की पूर्ति कर सकती हैं। हिन्दी संस्कृत से और उर्दू फ़ारसी से इस अभाव को पूरा कर रही है। इस प्रकार जैसे-जैसे हम घरेलू-भाषा को छोड़कर अन्य भाषाओं का सहारा लेते हैं, वैसे-वैसे यह भेद बढ़ता जाता है। साहित्यिक संस्थायें अपनी-अपनी भाषा को परिष्कृत रखने के लिए उत्सुक रहती हैं। यह मनोवृत्ति बढ़ते-बढ़ते एक सीमा पर पहुँच जाती है और तब वह आपस में एक-दूसरे को इस भेद के लिए जिम्मेदार ठहराती हैं। अपनी आँख का तो ताड़ भी दिखाई नहीं देता और दूसरे की आँख का तिल भी दिखाई दे जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई बढ़ी है और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि दोनों का विकास अलग-अलग भाषाओं के रूप में होना निश्चित है। यह आशंका अनुचित और निर्मूल है।

हिन्दी और उर्दू की इस नई धारा का, चाहे इससे कुछ दिनों के लिए दोनों के बीच की खाई बढ़ ही क्यों न जाय, स्वागत करना चाहिए। मौजूदा हिन्दी और उर्दू राजनैतिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक विचारों को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। दोनों ही इस कमी को पूरा करने के लिए अपना कोष बढ़ा रही हैं और इसमें उन्हें सफलता

भी मिल रही है। एक-दूसरे को आपस में सन्देह नही करना चाहिए; क्योंकि हम सभी चाहते हैं कि हमारी भाषा का कोष भरपूर हो। यदि हम हिन्दी या उर्दू में से किसी भी एक के शब्दों को नष्ट करने का यत्न करेंगे तो हम कभी भी अपनी भाषा का कोष न बढ़ा पायेंगे। हम दोनो ही भाषाओं को चाहते हैं, हमें दोनो ही को स्वीकार करना चाहिए। हमें यह समझना चाहिए कि यदि हिन्दी का विकास होता है तो उर्दू का भी होता है और यदि उर्दू का होता है तो हिन्दी का भी। दोनों का ही एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ेगा और दोनों का ही कोष बढ़ेगा। दोनों को नये-नये शब्दों और विचार-धाराओं का स्वागत करने को तैयार रहना चाहिए। मेरी वास्तविक इच्छा यह है कि हिन्दी और उर्दू अपने-में विदेशी भाषाओं के शब्दों और विचारों को शामिल करले और उन्हे अपना ही बनाले। ऐसे शब्दों के लिए जो आमतौर पर अंग्रेजी, फ्रेंच और अन्य विदेशी भाषाओं में बोले जाने लगे हैं संस्कृत या फारसी के शब्द गढ़ना ठीक नही है।

मुझे इसमें जरा भी सन्देह नही है कि हिन्दी और उर्दू अवश्य ही एक-दूसरे के निकट आयेंगी। यह हो सकता है कि उनका स्वरूप भिन्न हो; किन्तु भाषा एक ही होगी। इसके लिए जो वातावरण पैदा हो रहा है, वह बहुत शक्तिशाली है। यदि कुछ लोग उसका विरोध भी करेंगे तो वे सफल नही हो सकते। राष्ट्रीयता का ज़ोर बढ़ता जा रहा है और साथ-ही-साथ यह भावना भी ज़ोर पकड़ती जा रही है कि भारत में एकता का होना जरूरी है। अन्त में इसी भावना की विजय होनी निश्चित है। इसके अलावा एक बात और है। वह यह कि यातायात के साधनों, विचारों और राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। इनका असर पड़ना भी लाजिमी है। हमारे लिए अपने तंग दायरे में ऐसे समय सीमित रहना जबकि संसार क्रांतिकारी हालत में है, मुमकिन नही। जन-साधारण में शिक्षा का प्रसार होने से भाषा में एकता और प्रमाणिकता आजायगी। एक परिणाम यह भी होगा कि उसका एक माप या मान भी कायम हो जायगा।

इसलिए हमें हिन्दी और उर्दू के विकास को आशंका की निगाह से नहीं देखना चाहिए। हिन्दी-प्रेमियों को उर्दू का विकास और उर्दू-प्रेमियों को हिन्दी का विकास देखकर प्रसन्न होना चाहिए। आज दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हो सकते हैं; किन्तु अन्त में दोनों को मिल ही जाना है। यद्यपि हम इस अलगाव को सहन कर लेते हैं; किन्तु हमें दोनों की एकता के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिये। इस एकता का आधार क्या होगा ? एकता का आधार जन-साधारण होंगे। हिन्दी और उर्दू ही जन-साधारण के लिए होंगी। हमारे सामने जो कठिनाइयाँ आती हैं उनका एक कारण यह भी है कि हम भाषा की बनावट के फेर में पड़ जाते हैं और इस प्रयत्न में हम जन-साधारण से सम्पर्क खो बैठते हैं। लेखक जो कुछ लिखते हैं वह किसके लिए ? हरेक लेखक के ध्यान में, जान में या अनजान में, यह बात अवश्य रहती है कि वह जो-कुछ लिख रहा है, वह किसके लिए लिख रहा है ? वह अपने दृष्टिकोण को किसके सामने रखना चाहता है ? शिक्षा की कमी के कारण पाठकों की संख्या बहुत ही परिमित होती है; किन्तु यह परिमित संख्या भी काफ़ी होती है और धीरे-धीरे इस संख्या में वृद्धि ही होगी। यद्यपि मैं इस विषय में कोई विशेषज्ञ नहीं हूँ; किन्तु फिर भी इतना अवश्य कहूँगा कि लेखक इस परिमित संख्या से भी लाभ नहीं उठाता है। उसे तो उस साहित्यिक समाज का ही ध्यान रहता है, जिसमें वह सदा विचरण करता रहता है और जो उसकी कृतियों की प्रशंसा करता है। वह उन्हींकी भाषा में लिखता है। उसके विचार जनता तक नही पहुँच पाते। यदि जनता तक पहुँचे भी तो वह उसे समझ नहीं पाती। इन कारणों के होते हुए यदि हिन्दी और उर्दू की पुस्तकों की खपत कम है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारे समाचारपत्रों की वृद्धि न होने का भी यह एक कारण है। उनमें भी उसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग होता है।

हमारे लेखकों को चाहिए कि वे जन-साधारण को ही अपना पाठक समझें और जो कुछ भी लिखें वह उनके लिए ही लिखें। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि भाषा सरल होजायगी। जब किसी भी

भाषा में बनावट आने लगती है तो उसके नाश के दिन निकट आजाते हैं। भाषा के सरल होने के साथ-साथ यह बनावट भी दूर होजायगी, और ऐसे शब्द प्रयोग में आने लगेंगे जिनमें ओज और शक्ति भी अधिक होगी। अभीतक हममें से यह भावना दूर नही हुई है कि साहित्य और संस्कृति उच्च वर्गों की देन है। यदि हम इसी दृष्टिकोण से सोचते रहेंगे तो हम एक तंग दायरे के अन्दर ही रह जायँगे और जन-साधारण से ज़रा-सा भी सम्पर्क कायम न कर सकेंगे। संस्कृति का आधार अधिक विशाल होना चाहिए अर्थात् वह जन-साधारण पर अवलम्बित होनी चाहिए। भाषा संस्कृति का एक अंग है, अतः उसका आधार भी वही होना चाहिए जो संस्कृति का है।

जन-साधारण के निकट पहुँचने का सवाल सरल शब्दो या मुहावरो से सम्बन्ध नही रखता। उसका सम्बन्ध तो विचारों से और मुहावरो के उन भावों से है जिन्हे यह व्यक्त करते हैं। भाषा के द्वारा ही जन-साधारण से अपील की जाती है, इसलिए भाषा ऐसी होनी चाहिए जो उनके लिए उपयुक्त हो और उनके कष्टों, आशाओं और सुखो को पूरी तरह ज़ाहिर कर सके। भाषा को एक छोटे-से वर्ग के जीवन का दर्पण न होकर जन-साधारण के जीवन का द्योतक होना चाहिए। इतना होने पर ही भाषा की जड़ें ज़्यादा मज़बूत हो सकती है और तभी उसे जन-साधारण का सहारा मिल सकता है।

यह बात केवल हिन्दी और उर्दू से ही नही, बल्कि भारत की अन्य भाषाओं से सम्बन्ध रखती है। मैं जानता हूँ कि उन सबमें इन्ही विचारों का ज़ोर हो रहा है और जन-साधारण की अधिक-से-अधिक चिन्ता की जा रही है। इस मार्ग की गति और भी तेज होनी चाहिए। लेखकों का भी यही लक्ष्य होना चाहिए कि वे इसे प्रोत्साहन दें।

मेरे विचार में इस बात की भी बड़ी ज़रूरत है कि हमारी भाषाओं का विदेशी भाषाओं से सम्पर्क स्थापित हो। प्राचीन और मौजूदा पुस्तकों का अनुवाद किया जाय। ऐसा करने से हमें दूसरे देशो की संस्कृति और साहित्य का ज्ञान होजायगा और हम उनके सामाजिक आन्दोलनों से भी

ारिचित होजायेंगे । नये विचारों से हमारी भापा को भी ताक़त मिलेगी ।

जन-साधारण से सम्पर्क वढ़ाने में वंगला सवसे आगे है । वंगला का साहित्य वंगाल की जनता के जीवन से दूर नहीं है । जन-साधारण और उच्च वर्ग के भेद को विश्वकवि टैगोर ने काफ़ी दूर कर दिया है । आज रवि वावू की कवितायें ग्रामों के झोंपड़ों में भी सुनाई देती हैं । इससे वंगला के साहित्य में ही वृद्धि नहीं हुई, वल्कि वंगाल की जनता को भी प्रोत्साहन मिला है। वंगला वहुत शक्तिशाली भापा वन गई है और उसमें सरल शब्दों के द्वारा वड़े-से-वड़े साहित्यिक मुहावरों को व्यक्त किया जा सकता है । इससे हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और अपनी भापा को भी यही रूप दे सकते हैं । इस सम्वन्ध में गुजराती का भी जिक्र कर देना उचित जान पड़ता है । मैंने सुना है कि गाँधीजी की सरल भापा का गुजराती पर वहुत प्रभाव पड़ा है ।

२५ जुलाई १९३७ ।

: ३० :

साहित्य की बुनियाद

हम लोग जो राजनैतिक क्षेत्र में काम करते है, वे देश के और जरूरी पहलू अक्सर भूल जाते हैं। किसी देश की असल जागृति उसके नये साहित्य से मालूम होती है। क्योंकि उसमें जनता के नये-नये विचार और उमंगें निकलती हैं। जो जाति खाली पुराने साहित्य पर रहती है, चाहे वह कितनी ही ऊँची क्यों न हो, वह पूरी तौर से जीवित नहीं है और आगे नहीं बढ़ सकती। इसलिए अगर हिन्दुस्तान की आजकल की हालत का अन्दाजा किया जाय तो हमें उसके नये साहित्य को, जो इस देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में है, देखना चाहिए। इससे मालूम होता है कि एक नई जागृति जरूर हमारी सभी भाषाओं में है। हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी इत्यादि। लेकिन फिर भी आजकल के क्रान्तिकारी समय में यह कुछ कम मालूम होती है। अभीतक हमने कोई बहुत अच्छे राष्ट्रीय गाने भी नहीं पैदा किये जो कि ऐसे समय में अक्सर पैदा होते हैं। चीन में भयानक लड़ाई हो रही है और बीस बरस से वहाँकी हालत बहुत खराब है, फिर भी वहांके नये साहित्य ने बहुत तरक्की की है, और जानदार है। इसीसे असल अन्दाजा चीन के लोगों की अन्दरूनी शक्ति का है, और हमें विश्वास होता है कि वह किसी बाहरी हमले से दब नहीं सकती। इसलिए यह हमारे लिए जरूरी है कि हम अपने साहित्य की तरफ काफी ध्यान दें और उसको एक नया रूप दें, जिससे वह नए हिन्दुस्तान की हुलिया का एक आइना हो। हम हिन्दी और उर्दू या बंगला या किसी और भाषा की फिजूल बहसों में न पड़ें, बल्कि सभी की उन्नति की कोशिश करें। एक के बढ़ने से दूसरी भी बढ़ेगी। मुझे खुशी है कि उर्दू एकेडेमी यह काम उर्दू का करती है।

इसी तरह से हिन्दी-साहित्य के लिए भी काम करना चाहिए। और दोनों को मिलकर हिन्दुस्तानी साहित्य की मजबूत बुनियाद डालनी चाहिए। इस बात की हमें बहुत फ़िक्र नहीं करनी चाहिए कि हिन्दी और उर्दू में इस समय कितना फ़र्क है, अगर दोनों का उद्देश्य एक है—यानी आम जनता की भाषा की तरक्की—तब तो दोनों क़रीब आती जायँगी। बुनियादी बात यही है कि हमारे साहित्यकार इस बात को याद रक्खें कि उनको थोड़े-से आदमियों के लिए नहीं लिखना है; बल्कि आम जनता के लिए लिखना है। तब उनकी भाषा सरल होगी और देश की असली संस्कृति की ताक़त उसमें आजायगी। वह ज़माना जाता रहा जब कि किसी देश की संस्कृति थोड़े-से ऊपर के आदमियों की थी। अब वह आम जनता की होती जाती है और वही साहित्य बढ़ेगा जो इस बात को सामने रखता है।

मुझे खुशी है कि दिल्ली में हिन्दी-परिषद् की बैठक होनेवाली है।[1] मैं आशा करता हूँ कि इसमें हमारे साहित्यकार सब मिलकर ऐसे रास्ते निकालेंगे, जिससे हिन्दी-साहित्य और मज़बूत हो और फैले। उनका काम किसी और साहित्य के विरोध में नहीं है; बल्कि उनके सहयोग से आगे बढ़ना। उर्दू हिन्दी के बहुत क़रीब है और इन दोनों का नाता तो पास का रहे ही गा। लेकिन हमें तो विदेशी साहित्यों से भी फ़ायदा उठाना है; क्योंकि साहित्य की तरक्क़ी विदेशों में बहुत हुई है और उससे हम बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

आजकल की दुनिया में चारों तरफ़ लड़ाई, दंगा, फ़साद हो रहा है। हिन्दुस्तान में भी काफ़ी फ़साद है। और तरह-तरह की बहसें पेश होती हैं। ऐसे मौक़े पर यह और भी आवश्यक होता है कि हम अपनी नई संस्कृति की ऐसी बुनियाद रक्खें, जिसमें आजकल की दुनिया के विचार जम सकें। और जब हमारे सामने पेचीदा मसले आयें तो हम बहके-बहके न फिरें। संस्कृति को एक ऐसा पारस पत्थर होना चाहिए जिससे हर चीज़ की आज़माइश हो सके। अगर किसी जाति के पास यह

१. यह बैठक १४, १५ और १६ अप्रैल १९३९ को हुई।

: ३१ :

स्नातिकायें क्या करें ?

बहुत वर्ष पहले मुझे महिला-विद्यापीठ के हाल के शिलारोपण का सौभाग्य मिला था। इन हाल ही के वरसों में इतनी बातें होगई हैं कि समय का मुझे ठीक-ठीक अन्दाज नहीं रहा और थोड़े साल भी बहुत ज्यादा लगते हैं। तबसे बराबर मैं राजनैतिक बातों में और सीधी लड़ाई में फँसा रहा हूँ और हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई मेरे दिमाग़ पर चढ़ी रही है। महिला-विद्यापीठ से मेरा सम्बन्ध नहीं रह सका। पिछले चार महीनों में, जिनमें मैं जेल की दीवारों के बाहर की विस्तृत दुनिया में रहा हूँ, मेरे लिए बहुतसे बुलावे आये हैं, और बहुतसी सार्वजनिक कार्रवाइयों में हिस्सा लेने के निमन्त्रण मिले हैं। इन बुलावों की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया और सार्वजनिक कार्रवाइयों से भी दूर रहा हूँ; क्योंकि मेरे कान तो बस एक ही बुलावे के लिए खुले थे और उसी एक उद्देश्य में मेरी सारी शक्ति लगी थी। वह बुलावा था हमारी दुखी और बहुत समय से कुचली जाने वाली मातृभूमि—भारत—का, और खास तौर से हमारी दीन, शोषित जनता का। और वह उद्देश्य था हिन्दुस्तानियों की मुकम्मिल आज़ादी।

इसलिए इस अहम मसले से हटकर दूसरी और मामूली बातों की ओर जाने से मैंने इन्कार कर दिया था। उन बातों में से कुछ अपने सीमित क्षेत्र में महत्व भी रखती थीं। लेकिन जब श्री संगमलाल अग्रवाल मेरे पास आये और ज़ोर दिया कि मैं महिला-विद्यापीठ का दीक्षांत-भाषण दूँ ही, तो उनकी अपील का विरोध करना मुझे मुश्किल जान पड़ा; क्योंकि उस अपील के पीछे हिन्दुस्तान की लड़कियाँ अपनी ज़िन्दगी की देहलीज़ पर चिरकाल के बन्धन से स्वतंत्र होने की कोशिश करती और

विवशता के साथ भविष्य को ताकती दिखाई दी, यद्यपि जवानी के उत्साह से उनकी आंखों में आशा थी।

इसलिए खास हालत में और विवशता के साथ मैं राजी हुआ। मुझे आशा नहीं थी कि उससे भी जरूरी बुलावा और कहींसे नहीं आजायगा। और अब मैं देखता हूँ कि वह जरूरी बुलावा बेहद पीड़ित बंगाल के सूबे से आगया है। वहाँ जाना मेरे लिए जरूरी है और यह भी मुमकिन है कि महिला-विद्यापीठ के कन्वोकेशन के वक्त पर न लौट सकूँ। इसके लिए मुझे दुःख है, और मैं यहाँ कह सकता हूँ कि उसके लिए सन्देश छोड़ जाऊँ।

अगर हमारे राष्ट्र को ऊँचा उठना है, तो वह कैसे उठ सकता है जब तक कि आधा राष्ट्र—हमारा महिला-समाज—पिछड़ा रहता है, अज्ञान और कुपढ़ रहता है ? हमारे बच्चे किस प्रकार हिन्दुस्तान के सयत और प्रवीण नागरिक हो सकते हैं, अगर उनकी मातायें खुद सयत और प्रवीण नहीं हैं ? हमारा इतिहास हमें बहुतसी चतुर और ऐसी औरतों के हवाले देता है जो सच्ची थी और मरते दम तक बहादुर रहीं। उनके उदाहरणों का हमारे लिए मूल्य है, उनसे हमें प्रेरणा मिलती है। फिर भी हम जानते हैं कि हिन्दुस्तान में तथा दूसरी जगहों में औरतों की हालत कितनी दीन है। हमारी सभ्यता, हमारे रीति-रिवाज, हमारे कानून सब आदमी ने बनाये हैं, और आदमी ने अपनेको ऊँची हालत में रखने का और स्त्रियों के साथ बर्तनों और खिलौनों-जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिए उनका शोषण करने का पूरा ध्यान रक्खा है। इस लगातार बोझ के नीचे दबी रहकर औरतें अपनी शक्ति पूरी तरह से नहीं बढ़ा पाई और तब आदमी उन्हें पिछड़ी हुई होने का दोष देता है।

धीरे-धीरे कुछ पश्चिमी देशों में औरतों को कुछ आज़ादी मिल गई है; लेकिन हिन्दुस्तान में हम अब भी पिछड़े हुई हैं, हालाँकि उन्नति की भावना यहाँ भी पैदा होगई है। यहाँपर बहुतसी सामाजिक बुराइयाँ हैं जिनसे हमें लड़ना है, और बहुतसे पुराने रीति-रिवाज जो हमें बाँधे हुए

हैं और जो हमें अवनति की ओर ले जाते हैं, उन्हें तोड़ना है। पुरुष और स्त्रियाँ, पौधों और फूलों की तरह आज़ादी की धूप और ताज़ा हवा में ही बढ़ सकती हैं। विदेशी शासन की अन्धेरी छाया और गला घोंटने-वाले वायुमण्डल में तो वे अपनी शक्ति क्षीण करती हैं।

इसलिए सबके सामने बड़ी समस्या यह है कि किस तरह हिन्दुस्तान को आज़ाद करें और हिन्दुस्तानी जनता पर लदे हुए बोझ को कैसे दूर करें ? लेकिन हिन्दुस्तान की औरतों का तो एक और काम है, वह यह कि वे आदमी के बनाए हुए रीति-रिवाजों और क़ानूनों के ज़ुल्म से अपने को मुक्त करें। इस दूसरी लड़ाई को उन्हें खुद ही लड़ना होगा; क्योंकि आदमी से उन्हें मदद मिलने की सम्भावना नहीं है।

कन्वोकेशन के अवसर पर मौजूद बहुतसी लड़कियाँ और स्त्रियाँ अपनी पढ़ाई खत्म कर चुकी होंगी, डिगरी ले चुकी होंगी और एक बड़े क्षेत्र में काम करने के लिए अपनेको तैयार कर चुकी होंगी। इस विस्तृत दुनिया के लिए वे किन आदर्शों को लेकर जायँगी और कौनसी अन्दरूनी भावना उन्हें स्वरूप देगी और उनके कामों की देखभाल करेगी ? मुझे डर है, उनमें से बहुतसी तो रोज़मर्रा के रूखे घरेलू कामों में फँस जायँगी और कभी-कभी ही आदर्शों या दूसरे दायित्वों की बात सोचेंगी। बहुतसी सिर्फ़ रोटी कमाने की बात सोचेंगी। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों चीज़ें भी ज़रूरी हैं; लेकिन अगर महिला-विद्यापीठ ने सिर्फ़ यही अपने विद्यार्थियों को सिखाया है, तो उसने अपने उद्देश्य को पूरा नहीं किया। अगर किसी विद्यालय का औचित्य है तो वह यह कि वह सचाई, आज़ादी और न्याय के पक्ष में शूरवीरों को तैयार करे और दुनिया में भेजे। वे शूरवीर दमन और बुराइयों के विरुद्ध निर्भय युद्ध करें। मुझे उम्मीद है कि आपमें से कुछ ऐसी हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो अँधेरी और बुरी घाटियों में पड़ी रहने की बनिस्बत पहाड़ पर चढ़ना और खतरों का मुक़ाबिला करना पसन्द करेंगी।

लेकिन हमारे विद्यालय पहाड़ पर चढ़ने में प्रोत्साहन नहीं देते। वे तो चाहते हैं कि नीचे के देश और घाटी सुरक्षित रहें। वे मौलिकता

और आज़ादी को प्रोत्साहन नहीं देते और हमारे विदेशी शासकों के सच्चे बच्चों की भाँति ऊपर से शासन और व्यवस्था का थोपा जाना उन्हें पसन्द है। इसमें ताज्जुब ही क्या है, अगर उनके काम निराशाजनक, बेकार और क्षीण हैं और हमारी बदलती हुई दुनिया में ठीक नहीं बैठते हैं !

हमारे विद्यालयों की बहुतों ने आलोचना की है। उनमें से बहुत-सी आलोचनायें ठीक भी हैं। वास्तव में मुश्किल से किसीने हिन्दुस्तान के विश्वविद्यालयों की तारीफ की है। लेकिन आलोचकों ने भी विद्यालय का शिक्षा का उच्चवर्गीय साधन माना है। उसका जनता से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा की जड़ें धरती में होकर नीचे जनता तक पहुँचनी चाहिएँ अगर शिक्षा को वास्तविक और राष्ट्रीय होना है। हमारी विदेशी सरकार और पुरानी दुनिया के रीति-रिवाज के कारण, यह आज सभव नहीं है। लेकिन आपमें से जो विद्यापीठ से निकलकर दूसरों की शिक्षा में मदद देंगी, उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए और तब्दीली के लिए कोशिश करनी चाहिए।

कभी-कभी कहा जाता है, और मेरा विश्वास है कि विद्यापीठ खुद इस बात पर जोर देता है, कि स्त्रियों की शिक्षा आदमियों की शिक्षा से जुदा होनी चाहिए। स्त्रियों को घरेलू कामों के लिए और खूब प्रचलित शादी के पेशे के लिए तैयार किया जाना चाहिए। मैं स्त्री-शिक्षा के इस सीमित और एकपक्षीय विचार से सहमत नहीं हो सकूँगा। मेरा विश्वास है कि स्त्रियों को मानवीय कामों के प्रत्येक विभाग में सर्वोत्कृष्ट शिक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें तैयार किया जाना चाहिए जिससे वे तमाम पेशों में और क्षेत्रों में सक्रिय भाग ले सकें। खास तौर से शादी को पेशा समझने और स्त्री के लिए उसे एकमात्र आर्थिक सहारा मानने की आदत को दूर करना होगा। तभी स्त्री को आज़ादी मिल सकती है। आज़ादी राजनैतिक की बनिस्बत आर्थिक हालतों पर निर्भर होती है। अगर स्त्री आर्थिक रूप से स्वतत्र नहीं है और अपनी आजीविका स्वयं पैदा नहीं करती तो उसे अपने पति या और किसीपर निर्भर रहना होगा, और

दूसरों पर निर्भर रहनेवाले कभी आज़ाद नहीं होते। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध बिलकुल आज़ादी का होना चाहिए, एक-दूसरे पर निर्भर होने का नहीं।

विद्यापीठ की ग्रेजुएटों, बाहर जाकर आपका क्या कर्तव्य होगा? क्या आप सब बातों को जैसी वे हैं, चाहे जितनी बुरी वे हों, स्वीकार कर लेंगी? क्या अच्छी बातों के प्रति हार्दिक और बेकार सहानुभूति दिखाकर ही संतुष्ट होजांयगी, और कुछ करेंगी नहीं? या अपनी शिक्षा का औचित्य नहीं दिखावेंगी और बुराइयाँ जो आपको घेरे हुए हैं उनका विरोध करके अपनी शक्ति आप साबित नहीं करेंगी? क्या आप पर्दे के, जो हैवानी युग का एक दोषपूर्ण अवशेष है और जो हमारी बहुत-सी बहनों के दिलोदिमाग़ को जकड़े हुए है, टुकड़े-टुकड़े नहीं कर डालेंगी और उन टकड़ों को नहीं जला देंगी? अस्पृश्यता और जाति से, जो मानवता का पतन करती हैं और जो एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करने में मदद देती है, क्या आप नहीं लड़ेंगी और इस तरह मुल्क में बराबरी पैदा करने में मदद नहीं देंगी? हमारे शादी के बहुतसे कानून हैं और प्राचीन रीति-रिवाजे हैं, जो हमें पीछे रोके हुए हैं और ख़ास तौर से हमारी स्त्रियों को कुचलते हैं, क्या आप उनसे मोरचा नहीं लेंगी और उन्हें मौजूदा हालतों के साथ नहीं लायेंगी? क्या आप खुली हवा में खेल-कूद और व्यायाम और रहन-सहन से स्त्रियों के शरीर को पुष्ट करने के लिए, जिससे हिन्दुस्तान में मज़बूत, तन्दुरुस्त और सुन्दर स्त्रियाँ और ख़ुश बच्चे हों, आप शक्ति और दृढ़ता के साथ नहीं लड़ेंगी? और सब-से ऊपर, क्या आप राष्ट्रीय और सामाजिक स्वतन्त्रता की लड़ाई में, जो आज हमारे मुल्क में हलचल मचाये हुए है, एक बहादुराना हिस्सा नही लेंगी?

ये बहुत-से सवाल मैंने आपसे किये हैं; लेकिन उनके जवाब उन हज़ारों बहादुर लड़कियों और स्त्रियों से मिल गये हैं जिन्होंने पिछले चार सालों में हमारी आजादी की जंग में ख़ास हिस्सा लिया है। सार्व-जनिक काम करने की आदत न होने पर भी घर-बार का सहारा छोड़-

कर हिन्दुस्तान की आजादी की लडाई में अपने भाइयों के साथ कधे-से कधा मिलाकर खडी हुई उन बहनों को देखकर कौन नहीं कांप उठा ? बहुत-से आदमियो को जो अपनेको आदमी कहते थे, उन्होंने लज्जा से भर दिया और दुनिया को घोषित कर दिया कि हिन्दुस्तान की औरतें भी अपनी लम्बी नीद से उठ बैठी है और अब उनके अधिकारो से इन्कार नहीं किया जा सकता।

हिन्दुस्तान की औरतो ने मेरे सवालो के जवाब दे दिये है और इस-लिए महिला-विद्यापीठ की लडकियो और स्त्रियो, मै आपका अभिनन्दन करता हूँ और आपके हाथ में यह जिम्मेदारी सौंपता हूँ कि आप आजादी की मशाल को प्रज्वलित रक्खें, जबतक कि उसकी लपटें हमारे इस प्राचीन और प्रिय देश में सब जगह न फैल जावें।

: ३२ :

हिन्दुस्तान और वर्तमान महायुद्ध

घटना-चक्र तेजी से चल रहा है। अदम्य प्रेरणा उसे आगे बढ़ाती है और एक घटना दूसरी से आगे बढ़ जाती है। भौतिक शक्तियाँ दुनिया को इधर-उधर दौड़ा रही हैं और उन आयोजनाओं को घृणा की दृष्टि से देख रही हैं जिन्हें अधिकार-प्राप्त लोग चलाना चाहते हैं। आदमी और औरतें भाग्य के हाथ के खिलौने हो रहे हैं और लड़ाई के उबलते भँवर में खिचे आ रहे हैं। हम सब किधर जायँगे, और इस संघर्ष का जिसमें कि राष्ट्र अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए बेतहाशा लड़ रहे हैं, क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। फिर भी हम दुनिया के अपने अध्ययन से कह सकते हैं कि दुनिया हमारी आँखों के सामने नष्ट हुई जा रही है। आगे क्या होगा, यह कोई नहीं जानता।

दुनिया के इस महत्वपूर्ण दुखान्त नाटक में हिन्दुस्तान क्या भाग लेगा? कांग्रेस की कार्य-समिति ने प्रभावशाली और गौरवपूर्ण शब्दों में वह मार्ग बता दिया है, जिसपर हमें चलना है। हालांकि अंतिम निश्चय अभीतक नहीं हुआ है, फिर भी निश्चय करनेवाले बुनियादी सिद्धान्त बना दिये गये हैं। बुनियादी फैसला तो पहले ही होगया है और मौजूदा हालतों के अनुसार उसे कैसे अमल में लाया जाय, यही बात अभी तय करने के लिए है। उसका अमल में लाना अब तो इस बात पर निर्भर है कि कहाँतक उन बुनियादी सिद्धान्तों को ब्रिटिश सरकार स्वीकार करती है और अमल में लाती है। संक्षेप में, हिन्दुस्तान अब कभी भी इस बात पर राजी नहीं हो सकता कि वह साम्राज्य का एक भाग रहे, न वह यह चाहेगा कि उसे गुलाम राष्ट्र माना जाय जो दूसरों के हुक्म पर नाचता फिरे। चाहे शान्ति हो या युद्ध, हिन्दुस्तान को स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से काम करने का हक़ होना चाहिए।

हाल ही के इतिहास में कोई भी चीज इतने अचरज की नहीं है जितना कि लड़ाई के पहले ब्रिटिश-सरकार का पूरी तरह से दिवालियापन है। यह सचाई के साथ कहा जा सकता है कि अपनी ही नीति से उसने अपनी सारी मुसीबतें अपने और दुनिया के ऊपर बुलाई हैं। मंचूरिया, एबिसीनिया, जेकोस्लोवेकिया, स्पेन और पिछले साल सोवियट रूस के साथ किया गया अपमानजनक व्यवहार, इन सब के कारण धीरे-धीरे विश्वसंकट पास-से-पास आगया है और अब हम सबको उस संकट में डूबना पड़ा है। इग्लैंड बहादुरी और दृढ़ता के साथ संकट का मुकाबिला कर रहा है; लेकिन उसे अपनी पुरानी नीति के भारी बोझ को भी तो उठाना है और उसी नीति को ध्यान में रखकर उसने प्रजातन्त्र और आजादी के बारे में जो घोषणा की है उसका कोई मूल्य नहीं है। अब भी उस बोझ को उतार फेंकने का और साम्राज्यवादी परम्परा को छोड़ने का उसे मौका दिया गया है। इस तरह सब साथी एक हैसियत से सबकी आज़ादी के ध्येय की तरफ बिना रुकावट के बढ़ें, इसके अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। क्या ब्रिटिश-सरकार इतनी बुद्धिमान और महान् है कि राजी से इस रास्ते पर श्रद्धापूर्वक चलेगी ?

अबतक तो उसने बुद्धिमानी का बहुत ही अभाव दिखाया है और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में कुछ ऐसी कारंवाइयाँ भी की हैं जो भारतीयो की इच्छा के एकदम प्रतिकूल हैं। क्या वह सोचती है कि वह जनता जिसमे स्वाभिमान है और जिसे अपनी शक्ति का ज्ञान है, ऐसे व्यवहार को स्वीकार कर सकती है ? हिन्दुस्तान अब विदेशी सत्ता के हुक्म पर चलने के लिए न खींचा जा सकता है, न बाध्य किया जा सकता है। समय आगया है कि साम्राज्य की भावना का अन्त कर दिया जाय और स्वतन्त्र राष्ट्रों की मित्रता और सहयोग प्राप्त किया जाय। बराबरी की हैसियत की शर्त पर हिन्दुस्तान को स्वतन्त्र देश माना जाना चाहिए और वैसा ही उसके साथ व्यवहार होना चाहिए। ऐसा न किया गया तो उससे संघर्ष होगा और वह सब राष्ट्रों के लिए बदकिस्मती का बायस होगा।

दूसरे आदमियों की तरह, हमारे अपने आदमियों के लिए भी यह

भारी परीक्षा का समय है। अगर हम इस परीक्षा में असफल हुए तो पीछे रह जायँगे और दूसरे आगे बढ़ जायँगे। हम इस दल या उस दल, यह जमात या वह मजहबी दल या वह, या उग्र या नरम पक्ष की परिभाषा में नहीं सोच सकते। सोचना भी नहीं चाहिए। हिन्दुस्तान और दुनिया की आजादी के महान लक्ष्य के लिए राष्ट्रीय संगठन की इस समय जरूरत है। अगर हम अपने मामूली कलहों को जारी रक्खें, अपने मतभेदों पर ज़ोर दें, एक-दूसरे में बुरे हेतुओं की आशंका करें, और किसी दल या पार्टी के लिए फ़ायदा उठाने की कोशिश करें, तो उससे हमारा ही छोटापन ज़ाहिर होता है, जब कि बड़े मसले खतरे में हैं। उससे तो हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों को हानि ही पहुँचाई जाती है।

काँग्रेस की कार्यसमिति ने मार्ग बताया है। भारत ने आवाज़ उठाई है, और उसकी पुकार ने हमारे हृदयों में प्रतिध्वनि पैदा की है। हम सबको उसीपर चलना चाहिए और इस संकट के समय में आवाज़ाकशी नहीं करनी चाहिए। हरेक काँग्रेसमैन को चाहिए कि सोच-समझकर कुछ कहे या करे, ताकि वह कुछ ऐसा न कहे या करे जिससे राष्ट्र के इरादे में कोई कमज़ोरी आवे या उससे काँग्रेस की शान कम हो। हम सब एक हैं, एकसाथ बोलते हैं और हिन्दुस्तान के लिए, जिसके प्रेम से अबतक हमने प्रेरणा पाई है और जिसकी सेवा हमारा परमसौभाग्य रहा है, हम एक साथ काम करेंगे। भविष्य हमें इशारा कर रहा है। आइए, आज़ादी के ध्येय की ओर हम सब एकसाथ बढ़ें!

२१ सितम्बर १९३९।

: ३३ :

कांग्रेस का भविष्य[१]

हर शख्स हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक मसले के महत्व को स्वीकार करता है, लेकिन जिस तरीके से उसे आगे लाया जा रहा है, वह असली कठिनाइयों से बचने की बस कोशिश है, जैसा कि कांग्रेस कार्य-समिति ने कहा है। कांग्रेस इस सवाल के हरेक पहलू पर विचार करने के लिए पूरी तरह से तैयार और राजी है। लेकिन इस साम्प्रदायिक मसले को ब्रिटिश सरकार के हाथ में देना तो उसे राजनैतिक प्रगति को रोकने का एक बहाना बनाना है। कहा जाता है कि कांग्रेस तमाम हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व नहीं करती। बेशक नहीं करती। उसके जो विरोधी हैं, उनका प्रतिनिधित्व वह नहीं करती। लेकिन कांग्रेस के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह यह है कि वह तमाम हिन्दुस्तान की तरफ से बोलने का प्रयत्न और दावा करती है और यह उससे बिल्कुल जुदा बात है। इसका मतलब यह है कि वह जो कुछ माँगती है, वह किसी खास दल, या जाति के लिए नहीं है, बल्कि तमाम राष्ट्र के लिए माँगती है। मैं खयाल भी नहीं कर सकता कि किस तरह कोई भी हिन्दुस्तानी इस माँग पर आपत्ति कर सकता है, हालाँकि लोग कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान की उस माँग में अल्प-संख्यकों के जैसे खास हितों की हिफाजत होनी चाहिए। कांग्रेस की यह माँग जनतंत्र की बुनियाद पर है, क्योंकि कांग्रेस का उद्देश्य हिन्दुस्तान में जनतन्त्रीय राज्य कायम करने का है। जनतन्त्र में अल्प-संख्यकों के हक और हितों की रक्षा बाहर नहीं रहती। लेकिन यह तो एक वाहियात बात होगी अगर अल्प-संख्यकों के नाम पर जनतन्त्र को ही छोड़ दिया जाय।

१. बम्बई में २५ अक्तूबर १९३९ ई० को हुई प्रेस-कान्फ्रेंस में पण्डित जवाहरलाल नेहरू से किए गये सवालों के जवाब।

भारी परीक्षा का समय है। अगर हम इस परीक्षा में असफल हुए तो पीछे रह जायँगे और दूसरे आगे बढ़ जायँगे। हम इस दल या उस दल, यह जमात या यह मजहबी दल या वह, या उग्र या नरम पक्ष की परिभाषा में नहीं सोच सकते। सोचना भी नहीं चाहिए। हिन्दुस्तान और दुनिया की आज़ादी के महान लक्ष्य के लिए राष्ट्रीय संगठन की इस समय ज़रूरत है। अगर हम अपने मामूली कलहों को जारी रक्खें, अपने मतभेदों पर ज़ोर दें, एक-दूसरे में बुरे हेतुओं की आशंका करें, और किसी दल या पार्टी के लिए फ़ायदा उठाने की कोशिश करें, तो उससे हमारा ही छोटापन ज़ाहिर होता है, जब कि बड़े मसले ख़तरे में हैं। उससे तो हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों को हानि ही पहुँचाई जाती है।

कांग्रेस की कार्यसमिति ने मार्ग बताया है। भारत ने आवाज़ उठाई है, और उसकी पुकार ने हमारे हृदयों में प्रतिध्वनि पैदा की है। हम सबको उसीपर चलना चाहिए और इस संकट के समय में आवाज़ाकशी नहीं करनी चाहिए। हरेक कांग्रेसमैन को चाहिए कि सोच-समझकर कु कहे या करे, ताकि वह कुछ ऐसा न कहे या करे जिससे राष्ट्र के इरा में कोई कमज़ोरी आवे या उससे कांग्रेस की शान कम हो। हम सब ए हैं, एकसाथ बोलते हैं और हिन्दुस्तान के लिए, जिसके प्रेम से अब हमने प्रेरणा पाई है और जिसकी सेवा हमारा परमसौभाग्य रहा है, एक साथ काम करेंगे। भविष्य हमें इशारा कर रहा है। आइए, आ के ध्येय की ओर हम सब एकसाथ बढ़ें!

२१ सितम्बर १९३९।

: ३३ :

कांग्रेस का भविष्य[1]

हर शख्स हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक मसले के महत्व को स्वीकार करता है, लेकिन जिस तरीके से उसे आगे लाया जा रहा है, वह असली कठिनाइयों से बचने की बस कोशिश है, जैसा कि कांग्रेस कार्य-समिति ने कहा है। कांग्रेस इस सवाल के हरेक पहलू पर विचार करने के लिए पूरी तरह से तैयार और राजी है। लेकिन इस साम्प्रदायिक मसले को ब्रिटिश सरकार के हाथ में देना तो उसे राजनैतिक प्रगति को रोकने का एक बहाना बनाना है। कहा जाता है कि कांग्रेस तमाम हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व नहीं करती। बेशक नहीं करती। उसके जो विरोधी हैं, उनका प्रतिनिधित्व वह नहीं करती। लेकिन कांग्रेस के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह यह है कि वह तमाम हिन्दुस्तान की तरफ से बोलने का प्रयत्न और दावा करती है और यह उससे बिलकुल जुदा बात है। इसका मतलब यह है कि वह जो कुछ मांगती है, वह किसी खास दल, या जाति के लिए नहीं है, बल्कि तमाम राष्ट्र के लिए मांगती है। मैं खयाल भी नहीं कर सकता कि किस तरह कोई भी हिन्दुस्तानी इस मांग पर आपत्ति कर सकता है, हालांकि लोग कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान की उस मांग में अल्प-संख्यकों के जैसे खास हितों की हिफाजत होनी चाहिए। कांग्रेस की यह मांग जनतंत्र की बुनियाद पर है, क्योंकि कांग्रेस का उद्देश्य हिन्दुस्तान में जनप्रीय राज्य कायम करने का है। जनतंत्र से अल्प-संख्यकों के हक और हितों की रक्षा बाहर नहीं रहती। लेकिन यह तो एक वाहियात बात होगी अगर अल्प-संख्यकों के नाम पर जनतंत्र को ही छोड़ दिया जाय।

१. बम्बई में २५ अक्तूबर १९३९ ई० को हुई प्रेस-कान्फ्रेंस में पण्डित जवाहरलाल नेहरू से किए गये सवालों के जवाब।

हिन्दुस्तान में जनतंत्र हुकूमत के तीन पक्ष हो सकते हैं—फ़ासिज्म, सोवियटिज्म या विदेशी शासन के नीचे हिन्दुस्तान का वरावर गुलाम रहना। इसके सिवाय और किसी पक्ष का मैं विचार नहीं कर सकता। मैं यह मान लेता हूँ कि हम सव इस वात पर एकराय हैं कि हिन्दुस्तान में हम फ़ासिज्म नहीं चाहते, और न निश्चय ही हम हिन्दुस्तान में विदेशी हुकूमत चाहते हैं। इसलिए हमारे सामने सिर्फ़ एक ही पक्ष सोवियट हुकूमत का रूप रह जाता है जो जनतंत्र तक पहुँच भी सकता है और नहीं भी पहुँच सकता। हाल ही में हिन्दुस्तान में जनतंत्र के आदर्श की वहुत-से लोगों ने आलोचना की है। मैं नहीं जानता कि उन्होंने यह भी सोचा है या नहीं कि उस आदर्श को छोड़ देने का अनिवार्य नतीजा क्या होगा। हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत में मैं जनतंत्र के सिवाय और कोई लक्ष्य नहीं देखता। अल्प-संख्यकों को मुनासिव संरक्षण दे देने से जनतंत्र उससे संवंध रखने वाले हरेक आदमी के लिए सवसे अच्छा होगा। वेशक वहुसंख्यक हमेशा वहुसंख्यक रहेंगे। कोई भी चीज वहुसंख्यक समाज को अल्पसंख्यक समाज में तव्दील नहीं कर सकती। हाँ, यह सिर्फ़ फ़ासिस्ट या फ़ौजी गुटवन्दी से संभव हो सकता है। जहांतक मुसलमानों का संवंध है, वहाँ तक वहुसंख्यक और अल्प-संख्यक की परिभाषा में वात करना मुग़ालते की वात होगी। एक सात करोड़ का मज़हवी जमात अल्पसंख्यक नहीं समझा जा सकता। मुसलमान तमाम हिन्दुस्तान में फैले हुए हैं और कुछ सूवों में उनका वहुमत भी है और ऐसे सूवों में अल्पसंख्यकों का मसला वाक़ी हिन्दुस्तान के मसले से एकदम भिन्न है।

यह मैं ज़रा भी ख्याल नहीं कर सकता कि ऐसी हालतों में हिन्दू मुसलमानों को सता सकते हैं, या मुसलमान हिन्दुओं पर ज़ुल्म कर सकते हैं; या यह कि हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर मज़हवी जमात के रूप में और किसी पर अत्याचार कर सकेंगे। सिख संख्या में वहुत कम हैं; लेकिन मैं नहीं सोचता कि ज़रा भी मौक़ा इस वात का हो सकता है कि कोई उन्हें सतावे। यह वदकिस्मती की वात है कि इस साम्प्रदायिक सवाल ने यह नई शक्ल अख्तियार करली है और हिन्दुस्तान की आज़ादी

के रास्ते में रोड़े के रूप में उसका इस्तैमाल किया जा रहा है।

पिछले दो सालों में कांग्रेस और कांग्रेसी सरकारों के खिलाफ़ मुसलमानों को कुचलने और उनपर जुल्म करने के भारी इल्जामों से मुझे जितना अचरज और दु:ख हुआ है, उतना और किसी बात से नहीं हुआ। कांग्रेस सरकारों ने बहुत-से महकमों के संबंध में बहुत-सी भूलें की हैं, जैसा कि स्वाभाविक था, लेकिन व्यक्तिगत रूप से मुझे पूरा यकीन है कि अल्प-सख्यकों के साथ बर्ताव करने में उन्होंने इस बात का ज्यादा-से-ज्यादा ख्याल रक्खा है कि उनके हकों को चोट न आवे। अनिश्चित इल्ज़ामों की निष्पक्ष जांच के लिए हमने कई दफा प्रस्ताव किया है और अभीतक हमारा वह प्रस्ताव कायम है। इस पर भी बेबुनियाद वक्तव्य दिए जाने जारी हैं। जहाँ तक कांग्रेस का संबंध है, वह साम्प्रदायिक या अल्प-सख्यकों के सवाल के सब पहलुओं पर विचार करने के लिए आज भी तैयार है, जैसी कि वह हमेशा रही है, जिसमें सब आशकाएँ और शुबह दूर हो जाँय और सतोष-जनक फैसला हो जाय। लेकिन कांग्रेस ऐसे किसी भी प्रस्ताव पर विचार नहीं कर सकती जो हिन्दुस्तान की एकता और आजादी के खिलाफ जाता हो और जो जनतंत्र के आदर्शों की मुखालिफ़त करता हो।

हमारी लड़ाई ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ है। हम अपने किसी देशवासी या देश की सस्था से नहीं लड़ना चाहते। यह हिन्दुस्तान की बदकिस्मती है अगर कोई भी हिन्दुस्तानी या कोई सस्था ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सधि करती है। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हिन्दुस्तान ऐसी बदकिस्मती से बच जायगा।

ऐसे सकट का, जैसा कि आजकल है, एक बड़ा फायदा यह है कि वे लोगों और सस्थाओं को अपना असली रूप दिखाने के लिए मजबूर करते हैं। तब अनिश्चित शब्दों का कहना और बड़ी-बड़ी बातें बनाना, नामुमकिन हो जाता है; क्योकि उन बातों को अमल में लाना होता है। इस तरह मौजूदा संकट का नतीजा यह होगा कि हिन्दुस्तान की राजनीति से वह कोहरा दूर हो जायगा जिसकी वजह से मसले गड़बड़ में

पड़ गए हैं और जनता समझ जायगी कि लोगों के और संस्थाओं के उद्देश्य क्या हैं।

कांग्रेस के भविष्य पर कुछ कहना स्पष्टतः मेरे लिए मुश्किल है। वह बहुत-सी बातों पर मुनहसिर है। मंत्रियों का स्तीफ़ा ही अपनेआप में एक भारी बात है। यह भारी बात न होती, लेकिन जिस खास हालत में यह फ़ैसला किया है, वह एक भारी बात है। यह ब्रिटिश साम्राज्य-वाद की सारी मशीनरी के खिलाफ़ असहयोग का क़दम है। इसके महान् परिणाम होंगे और हम चाहते हैं कि मुल्क उन परिणामों के लिए तैयार रहे। वे परिणाम कब और किस रूप में हमारे सामने आवेंगे, यह इस हालत में बताना मेरे लिए ठीक नहीं है। आजकल जैसे हालात हैं, उनमें एकदम अलगाव रखना क़रीब-क़रीब नामुमकिन है।

कांग्रेस और वर्तमान महायुद्ध[1]

यूरोप में लड़ाई की घोषणा के कारण जो विषम सङ्कटापन्न परिस्थिति पैदा होगई है, उसपर वर्किंग कमेटी ने अच्छी तरह विचार किया। युद्ध के समय राष्ट्रों को जिन उसूलों के अनुसार काम करना चाहिए, उनकी चर्चा कांग्रेस ने बराबर की है, और अभी केवल एक ही महीना हुआ, जब कि इस कमेटी ने उन उसूलों को दोहराया था और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार ने जिस तरह भारतीय लोकमत की उपेक्षा की, उसपर कमेटी अपनी नाराज़ी भी ज़ाहिर कर चुकी है। ब्रिटिश सरकार की इस नीति से अपने को अलग रखने के लिए कांग्रेस ने पहला क़दम यह रक्खा कि उसने केन्द्रीय धारासभा के कांग्रेसी सदस्यों को सभा के अगले अधिवेशन में जाने से मना कर दिया। उसके बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत को एक लड़ाकू राष्ट्र घोषित कर दिया, आर्डिनेंस जारी कर दिये, गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया एक्ट संशोधन बिल पास किया, और ऐसी कई व्यवस्थायें कीं, जिनका असर हिन्दुस्तान की जनता पर पड़ता है और जिनसे प्रान्तीय सरकारों के कार्य परिमित हो जाते हैं। यह सब हिन्दुस्तान की जनता से बग़ैर पूछे ही किया गया। भारतीय प्रजा ऐसे मामलों में अपनी जिन इच्छाओं को घोषित कर चुकी है उनकी ब्रिटिश सरकार ने जान-बूझ कर उपेक्षा की है। वर्किंग कमेटी इन सब परिस्थितियों को बहुत ही गम्भीरता से ग्रहण करेगी। कांग्रेस ने अक्सर फ़ासिज्म और नाज़ीवाद के सिद्धान्तों और उनके युद्ध और हिंसा-प्रेम की निन्दा की है, जिनके

१. कांग्रेस कार्यसमिति ने वर्तमान महायुद्ध के बारे में यह वक्तव्य दिया था। इसके बनाने में पं० जवाहरलालजी का काफ़ी हाथ था। इसलिए उसे यहां दिया जाता है। —सम्पादक

ज़रिये मानवता का दलन होता है। काँग्रेस ने उनके आक्रमण करने की चेष्टा और उग्रता का विरोध किया है, और सभ्य संसार के माने हुए व्यवहार को जिस तरह उन्होंने ठुकराया है, उसकी भी काँग्रेस ने निन्दा की है। काँग्रेस ने अक्सर फासिज्म और नाज़ीवाद में साम्राज्यवादी सिद्धान्तों को देखा, जिनके विरुद्ध भारतवासी खुद लड़ाई जारी किये हुए हैं। इसलिए वर्किंग कमेटी जर्मनी की नाज़ी-सरकार के ताज़े हमले की बिना संकोच निन्दा करते हुए पोलैण्ड के साथ हमदर्दी रखती है, जो इस समय नाज़ियों का मुक़ाबिला कर रहा है।

कांग्रेस ने यह कह दिया है कि हिन्दुस्तान के लिए युद्ध या शान्ति-सम्बन्धी बातों का निर्णय करनेवाला खुद हिन्दुस्तान है, और कोई भारतीय अधिकारी यह निर्णय हिन्दुस्तान पर नहीं लाद सकता, और न भारतवासी इसकी इजाज़त ही देंगे कि उनके साधनों से साम्राज्यवादी उद्देश्य पूरे किये जायें। अगर भारतवासियों पर वैसा कोई निर्णय लादा गया, या उनकी मंजूरी के बग़ैर भारतीय साधनों से काम लिया गया तो वे इसकी निश्चय ही मुख़ालिफ़त करेंगे। अगर एक अच्छे उद्देश्य के लिए सहयोग प्राप्त करने की इच्छा है तो ऐसा सहयोग ज़बर्दस्ती नहीं पाया जा सकता, और बाहरी अधिकारियों द्वारा प्रकाशित की गई आज्ञाओं को कमेटी पूरा नहीं होने दे सकती। सहयोग तो बराबरवालों में होना चाहिए, जिसमें एकसमान उद्देश्य को पूरा करने के लिए दोनों पारस्परिक स्वीकृति से काम करें। भारतीय जनता ने इधर हाल में बहुत बड़े जोखिम का सामना किया, और उसने अपनी स्वतन्त्रता तथा हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र स्थापित करने के लिए बहुत बड़ी कुर्बानी की। हिन्दुस्तानियों की सहानुभूति पूरेतौर से लोकतन्त्रवाद और स्वतन्त्रता के साथ है, पर हिन्दुस्तान ऐसे किसी युद्ध में शरीक नहीं हो सकता, जिसके बारे में यह कहा जाय कि वह युद्ध लोकतन्त्रवाद और स्वतन्त्रता के लिए लड़ा जा रहा है, जबकि वही स्वतन्त्रता हिन्दुस्तान को नहीं मिल रही है, और जो थोड़ी-सी सीमित स्वतन्त्रता मिली भी है वह भी उससे छीन ली गई है।

वर्किंग कमेटी यह जानती है कि ग्रेटब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों

ने यह ऐलान किया है कि वे लोकतन्त्रवाद और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जर्मनी से लड़ रही हैं, और वे आक्रमण तथा उद्दंडता का खात्मा कर देना चाहती हैं। पर हाल के इतिहास में ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनसे मालूम होता है कि कहे हुए शब्दों, घोषित आदर्शों और असली उद्देश्यों में बहुत फर्क होता है, जैसा कि सन् १९१४-१८ के महासमर से प्रकट हो चुका है। युद्ध के उद्देश्य घोषित किये गये थे कि लोकतन्त्र-वाद, आत्म-निर्णय और छोटे-छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना मुख्य काम है, पर जिन राष्ट्रों ने उन उसूलों की घोषणा की, उन्होंने ही तुर्की के साम्राज्य को खत्म कर देने के लिए गुप्त सन्धियाँ की थीं। उन राष्ट्रों ने उस समय यह कहा था कि वे कोई राज्य नहीं लेना चाहते, पर तो भी विजयी राष्ट्रों (फ्रांस और इंग्लैण्ड) ने बहुत बड़े देश अपने औपनि-वेशिक साम्राज्य में मिला लिये।

वर्तमान युद्ध से भी यह मालूम होता कि वर्साई-सन्धि किस तरह विफल हुई और उस सन्धि के निर्माताओं ने अपने वादे तोड़कर साम्राज्य-वादी संधि को किस तरह पराजित राष्ट्रों पर लागू किया। उस संधि के द्वारा एकमात्र आशा की झलक राष्ट्र-संघ से ज़ाहिर हुई थी, पर उस संघ को कायम करनेवाले राष्ट्रों (फ्रांस और इंगलैण्ड) ने ही उसे अन्त में खत्म कर डाला।

हाल के इतिहास से ही यह मालूम होता है कि किस तरह घोषित सिद्धान्त खुद भंग किये जा सकते हैं। मंचूरिया में ब्रिटिश सरकार ने जापान के आक्रमण को उत्तेजन दिया। एबिसीनिया में उसने इटली की सत्ता मान ली, चेकोस्लोवाकिया और स्पेन में लोकतन्त्रवाद खतरे में था और वहाँ जान-बूझकर लोकतन्त्रवाद को धोखा दिया गया और सामूहिक रक्षा की सम्पूर्ण पद्धति को उन्हीं राष्ट्रों ने नष्ट किया, जिन्होंने कि उसमें अपना पुख्ता विश्वास प्रकट किया था।

यह फिर घोषणा की गई है कि लोकतन्त्रवाद खतरे में है और उसकी जरूर रक्षा करनी चाहिए। इस वक्तव्य से वर्किंग कमेटी की पूरी सहानु-भूति है। कमेटी का विश्वास है कि यूरोप की जनता भर इस आदर्श

और उद्देश्य का अच्छा असर पड़ेगा और इसके लिए वे आत्म-त्याग करने को भी तैयार होंगे। पर जनता के आदर्शों और उद्देश्यों की वार-वार उपेक्षा की गई और उन्हें भंग किया गया। अगर इस युद्ध के ज़रिये साम्राज्यवादी राष्ट्रों का अपनी मौजूदा स्थिति (यानी उनके साम्राज्य) और स्वार्थों की रक्षा करने का हेतु है, तो हिन्दुस्तान ऐसे युद्ध से कुछ भी वास्ता नहीं रख सकता। पर अगर उसके ज़रिये लोक-तन्त्रवाद और उसके आधार पर विश्व के नियम की रक्षा करनी है तो हिन्दुस्तान का इस युद्ध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्किंग कमेटी को इसका निश्चय है कि भारतीय लोकतन्त्रवाद के स्वार्थों का संघर्ष ब्रिटिश लोक-तन्त्रवाद या विश्व-लोकतन्त्रवाद से नहीं होता। अगर ब्रिटेन लोक-तन्त्रवाद की रक्षा करने और उसे वढ़ाने के लिए लड़ रहा है तो उसे चाहिए कि पहले अपने अधिकार के साम्राज्यवाद का अन्त करे, और हिन्दुस्तान में पूर्णरूप से लोकतन्त्रवाद स्थापित करे। और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारतीय प्रजा को एक विधान-परिषद् के द्वारा अपना विधान वनाने का अधिकार दिया जाय। भारत अपनी ही नीति का संचालन करे, और इन कार्यों में किसी भी वाहरी अधिकारी का हाथ न हो। स्वतन्त्र लोकतन्त्रवादी हिन्दुस्तान खुशी से दूसरे राष्ट्रों के साथ खतरे का सामना करने के लिए तैयार रहेगा और वह दूसरे राष्ट्रों से आर्थिक सहयोग भी करेगा। तव भारत स्वतन्त्र और लोकतन्त्रवाद के आधार पर संसार के सच्चे निर्माण में हिस्सा लेगा और मानवजाति की उन्नति के लिए वह संसार के ज्ञान और साधनों से काम लेगा।

इस समय यूरोप पर जो विषम संकट आया हुआ है वह केवल यूरोप का ही नहीं, सारी मानव-जाति का है और इन युद्धों की तरह यह संकट इस तरह नहीं टल जायगा कि मौजूदा संसार की पद्धति वनी रहे। हो सकता है कि इस युद्ध से कुछ भला हो। इस समय जो राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक संघर्ष हैं, ये सव गत् महायुद्ध के परिणाम हैं। गत् महायुद्ध से सामाजिक और आर्थिक संघर्ष वहुत वढ़ गये और जवतक ये संघर्ष दूर न होंगे, संसार में निश्चयात्मक रूप से कोई नियम या संगठन

भी न होगा। उस संगठन या सामंजस्य का आधार यही हो सकता है कि एक देश की दूसरे देश पर प्रभुता न हो और न शोषण हो, और सबकी भलाई के लिए न्यायपूर्ण आधार पर राष्ट्रों के आर्थिक सम्बन्ध का फिर से संगठन हो। हिन्दुस्तान इस समस्या की एक कसौटी है और आधुनिक प्रणाली का साम्राज्यवाद हिन्दुस्तान में कायम है और इस जरूरी समस्या के सुलझाने का जबतक प्रयत्न न होगा तबतक संसार का कोई पुन-संगठन सफल भी न होगा। भारत के साधन असीम हैं और वह अपने इन साधनों से विश्व-रचना की किसी भी योजना में महत्त्वपूर्ण काम कर सकता है। युद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस के निर्णय में अधिक देरी नहीं की जा सकती, क्योंकि भारत का सम्बन्ध जिस की नीति से है जिसे वह मंजूर नहीं करता। इसलिए कमेटी ब्रिटिश सरकार से कहती है कि वह साफ़ घोषणा कर दे कि लोकतन्त्रवाद और साम्राज्यवाद के सिलसिले में युद्ध सम्बन्धी उसके क्या उद्देश्य हैं और हिन्दुस्तान पर उन उद्देश्यों को मौजूदा स्थिति में किस तरह लागू किया जायगा। कमेटी ने युद्ध की विभीषिकाओं का जिक्र करते हुए कहा है कि यूरोप और चीन में इन विभीषिकाओं को रोकना चाहिए, किन्तु फ़ासिस्टवाद और साम्राज्यवाद के दूर होने पर ही वे विभीषिकायें भी दूर होंगी। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए कमेटी अपना सहयोग प्रदान करती है।

मगर हिन्दुस्तान जिसने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी शक्तियाँ बहुत खर्च की हैं, ऐसा आज़ाद राष्ट्र होकर ही कर सकता है। स्वतन्त्रता इस समय अविभाज्य है और संसार के किसी भी भाग पर साम्राज्यवादी प्रभुता क़ायम रखने के हरेक प्रयत्न का परिणाम नया संकट पैदा करना होगा। लेकिन कमेटी ने इस बात को नोट किया है कि बहुत-से देशी नरेशों ने यूरोप में जनसत्ता की रक्षा के लिए अपनी सेवायें व अपने राज्य के तमाम साधन समर्पित करने के वक्तव्य दिये हैं। अगर देशी नरेशों को विदेशों में जनसत्ता की रक्षा का इतना ख़याल रखना है तो कमेटी की यह तजवीज़ है कि पहले उनका काम यह होना चाहिए कि वे अपनी रियासतों के अन्दर जनसत्ता क़ायम करें, जहाँ कि इस समय निरा-

[दु]र्दशा के लिए खुद देशी नरेशों की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार जिम्मेदार है, जैसा कि पिछले साल के अन्दर दुःख के साथ साफ़ दिखाई दिया है। उसकी यह नीति जनसत्ता और संसार की नई व्यवस्था के खिलाफ़ है, जिसके लिए ग्रेट ब्रिटेन का यह दावा है कि वह उसके लिए यूरोप में लड़ाई लड़ रहा है। वर्किंग कमेटी यूरोप, अफ़्रीका और एशिया की पिछली घटनाओं पर और खास भारत की गुज़री और मौजूदा घटनाओं पर नज़र डालते हुए यह देख रही है कि जनसत्ता या आत्म-निर्णय के हित को आगे बढ़ाने का कोई यत्न नहीं हो रहा है और न यही दिखाई देता है कि ब्रिटिश सरकार ने जिन उसूलों के लिए लड़ाई का ऐलान किया है, उनपर अमल हो रहा है या अमल होने जा रहा है। जनसत्ता का सच्चा उपाय साम्राज्यवाद या फ़ासिज्म का अन्त करना है और उस आक्रमण का भी, जिसका कि इन वादों के साथ भूत और वर्तमान समय में साथ रहा है। केवल इसी आधार पर नई व्यवस्था के लिए वर्किंग कमेटी हर तरह से सहायता देने के लिए उत्सुक है। पर कमेटी ऐसी किसी भी लड़ाई में सहयोग या सहायता नहीं दे सकती, जो साम्राज्यवादी तरीक़े पर चलाई जाती है और जिसका उद्देश्य हिन्दुस्तान व दूसरे स्थानों में साम्राज्यवाद का बल बढ़ाना है। लेकिन समय की गम्भीरता और इस बात को देखते हुए कि पिछले कुछ दिनों के अन्दर घटनायें मनुष्य के दिमाग़ की चाल से भी अधिक तेजी से घटित हो रही हैं, वर्किंग कमेटी इस वक़्त कोई आखिरी निर्णय नहीं करना चाहती, ताकि इस बात की पूरी व्याख्य[ा] हो जाय कि हिन्दुस्तान की मौजूदा और आनेवाली स्थिति के सम्बन्ध [में] असली उद्देश्य क्या है। पर निर्णय बहुत दिनों तक नहीं टाला जा सकत[ा] क्योंकि हिन्दुस्तान ऐसी नीति में रोज-ब-रोज़ फँसता जा रहा है जिस[के] पक्ष में वह नहीं है और जिसको वह नापसन्द करता है। इसलिए वर्[किंग] कमेटी ब्रिटिश सरकार से कहती है कि वह साफ़-साफ़ शब्दों में यह ऐल[ान] करदे कि जनसत्ता और साम्राज्यवाद के बारे में संसार की नई व्यव[स्था] में उसके युद्ध-सम्बन्धी उद्देश्य क्या हैं और हिन्दुस्तान के प्रति ये उ[द्देश्य] किस तरह अमल में लाये जायँगे और इस समय इनपर किस तरह अ[मल होगा]

होगा। क्या उसके उद्देश्यों में यह भी है कि हिन्दुस्तान से साम्राज्यवाद हटा दिया जाय और उसके साथ एक स्वतन्त्र राष्ट्र का-सा व्यवहार किया जाय, जिसकी कि नीति उसकी जनता की इच्छाओं के अनुकूल चलेगी?

भविष्य के लिए अगर सरकार साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद का खात्मा करने के लिए घोषणा कर दे, तो इसे सभी देशों की जनता पसन्द करेगी, पर ज़रूरी यह है कि इसका तुरन्त अधिक-से-अधिक पालन किया जाय, क्योंकि तभी लोगों को यह विश्वास होगा कि यह घोषणा पूरी करने के लिए ही की गई है। किसी भी घोषणा की कसौटी यही है कि उसे पूरा किया जाय। ऐसा करने से मौजूदा काम सुधरेंगे और भविष्य के लिए उनका निर्माण होगा। यूरोप में जो युद्ध शुरू हुआ है उससे भीषणता बढ़ने की बहुत सम्भावना है, पर इधर कई बरसों में एबिसीनिया, स्पेन और चीन में जो युद्ध हुए हैं उनमें बहुत आदमी मारे गये हैं, हवाई जहाज़ों के ज़रिये खुले नगरों पर बम-वर्षा करने से बहुतेरे बेगुनाह नर-नारी और बच्चे मरे हैं, इन युद्धों के वर्षों में मनुष्यों का खूब संहार हुआ है, भीषणता और हिंसा बराबर बढ़ रही है, और संसार उसकी छाया में बड़ा कष्ट पा रहा है और अगर यह भीषणता न रोकी गई तो भूतकाल की मूल्यवान सभी चीज़ें नष्ट हो जायँगी। उस भीषणता को यूरोप और चीन में रोकना है, पर उसका तबतक अन्त न होगा, जबतक कि फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद का निर्मूलन न किया जायगा।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वर्किंग कमेटी सहयोग देने के लिए तैयार है, पर अगर यह युद्ध भी साम्राज्यवाद की भावना से लड़ा गया तो यह एक बड़ा भयानक दु:खद काण्ड होगा। वर्किंग कमेटी यह ऐलान करना चाहती है कि हिन्दुस्तान की जनता को जर्मन प्रजा या जापानी प्रजा से कोई लड़ाई नहीं है या दूसरे किसी भी देश की प्रजा से कोई लड़ाई नहीं है, पर भारतीय जनता की उस शासन-पद्धति से गहरी लड़ाई है जो आज़ादी नहीं देती और जिसका आधार हिंसा और आक्रमण करना है। हिन्दुस्तान यह नहीं चाहता कि किसी देश की विजय दूसरे देश पर हो, बल्कि सच्चे लोकतन्त्रवाद की विजय हो, जो

सब देश की जनता की विजय हो और फिर संसार हिंसा तथा साम्राज्य-वादी दमन से मुक्त हो जाय।

कांग्रेस वर्किंग कमेटी भारत की जनता से अपील करती है कि इस संकट-काल में वह भीतरी झगड़े दूर कर दे और निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए संसार की महान् व्यापक स्वतन्त्रता में भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तत्पर रहे।

: २५ :

किस रास्ते और किन साधनों से

बड़ी-बड़ी घटनाओं के किनारे पर हम फिर खड़े हुए हैं। हमारी नाड़ियां फिर जोर से फड़कने लगी हैं, पैर कांपते हैं और पुरानी पुकार हमारे कानों में आ रही है। अपनी मामूली मुसीबतों को हम भूल जाते हैं और घरेलू चिन्ताओं को एक ओर डाल देते हैं। आखिर उनका मूल्य है ही क्या? पुकार आती है और हम सब कुछ भूल जाते हैं। भारत, *जिसे हमने प्रेम किया है और जिसकी सेवा हमने करनी चाही है,* वह धीमे से कुछ कहता है और जादू का मन्त्र हम तुच्छ प्राणियों के ऊपर फूंक देता है।

पर कुछ व्यक्ति उतावले हैं और अपनी जवानी की तरंग में आरोप लगाते हैं—'यह देरी क्यों? हमारी नसों में जब खून दौड़ता है और जीवन पुकार कर कहता है कि आगे बढ़ो, तब हम मन्द गति से क्यों चलते हैं?' ओ भारत के युवको और युवतियो! आप परेशान न हों, *झुंझलाने या उतावले बनने की भी जरूरत नहीं है। जल्दी ही वक्त आयगा* जब इस भारी बोझे में आपको सहारा देना होगा। आगे बढ़ने की पुकार भी आयगी और गति भी जितना आप सोचते हैं, उससे तेज होगी। क्योंकि अज्ञात भविष्य की ओर बेतहाशा दौड़ लगाकर दुनिया ने आज गति पैदा करली है और हम में से कोई भी खड़ा नहीं रह सकता—चाहे खड़ा रहना चाहे या न चाहे—जब कि हमारे पैरों तले की धरती ही हिल रही है।

समय आयगा। तब वह हमें तैयार पाये; दिल से मजबूत, शरीर में गतिशील और मन और ध्येय से दृढ़। अपनी राह भी जिस पर हमें चलना है, हम अच्छी तरह पहचानें जिससे संदेहों के हमले हम पर न हों और विचारों का भेद हमारे निश्चय को कमजोर न करे।

सब देश की जनता की विजय हो और फिर संसार हिंसा तथा साम्राज्य-वादी दमन से मुक्त हो जाय।

कांग्रेस वर्किंग कमेटी भारत की जनता से अपील करती है कि इस संकट-काल में वह भीतरी झगड़े दूर कर दे और निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए संसार की महान् व्यापक स्वतन्त्रता में भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तत्पर रहे।

: ३५ :

किस रास्ते और किन साधनों से

बड़ी-बड़ी घटनाओं के किनारे पर हम फिर खड़े हुए हैं। हमारी नाड़ियां फिर जोर से फड़कने लगी हैं, पैर कांपते हैं और पुरानी पुकार हमारे कानों में आ रही है। अपनी मामूली मुसीबतों को हम भूल जाते हैं और घरेलू चिन्ताओं को एक ओर डाल देते हैं। आखिर उनका मूल्य है ही क्या? पुकार आती है और हम सब कुछ भूल जाते हैं। भारत, जिसे हमने प्रेम किया है और जिसकी सेवा हमने करनी चाही है, वह धीमे से कुछ कहता है और जादू का मन्त्र हम तुच्छ प्राणियों के ऊपर फूंक देता है।

पर कुछ व्यक्ति उतावले हैं और अपनी जवानी की तरंग में आरोप लगाते हैं—'यह देरी क्यों? हमारी नसों में जब खून दौड़ता है और जीवन पुकार कर कहता है कि आगे बढ़ो, तब हम मन्द गति से क्यों चलते हैं?' ओ भारत के युवकों और युवतियो! आप परेशान न हों, झुंझलाने या उतावले बनने की भी जरूरत नहीं है। जल्दी ही वक्त आयगा जब इस भारी बोझे में आपको सहारा देना होगा। आगे बढ़ने की पुकार भी आयगी और गति भी जितना आप सोचते हैं, उससे तेज होगी। क्योंकि अज्ञात भविष्य की ओर बेतहाशा दौड़ लगाकर दुनिया ने आज गति पैदा करली है और हम में से कोई भी खड़ा नहीं रह सकता—चाहे खड़ा रहना चाहे या न चाहे—जब कि हमारे पैरों तले की धरती ही हिल रही है।

समय आयगा। तब वह हमें तैयार पाये, दिल से मजबूत, शरीर से गतिशील और मन और ध्येय से दृढ़। अपनी राह भी जिस पर हमें चलना है, हम अच्छी तरह पहचानें जिससे संदेहों के हमले हम पर न हों और विचारों का भेद हमारे निश्चय को कमजोर न करे।

अपने मंजिले-मक़सूद को हम पहचानते हैं। अपना ध्येय और दिल की चाह भी हमारे सामने है। उन पर वहस करने की जरूरत नहीं है। लेकिन हमारी राह क्या है जो हमें चलनी है? कौन से तरीक़े हमें वरतने हैं, और कौन से उसूल हमारी क्रियाओं पर संरक्षण रखते हैं? ये वातें भी, निश्चय ही, वहस के लिए नहीं हैं। वरसों पहले ही हमने वह रास्ता रोशन कर दिया है और ठीक कर दिया है जिसमें दूसरे उस खुले रास्ते पर चल सकें। वीस वरस पहले वहुत से लोगों ने इस सीधे और सही रास्ते की शक्ति पर संदेह किया होगा, लेकिन आज मार्ग-दर्शन के लिए हमारे पास भारी अनुभव है और सीख देने के लिए हमारी अपनी सफलता और असफलतायें हैं। उस रास्ते से हटाने की कोशिशों के वावजूद भी हम दृढ़ निश्चय के साथ उस पर अड़े हुए हैं और भारत के लाखों व्यक्तियों ने उस रास्ते के महत्व को समझा है और अव वे उस पर इतने पावन्द हैं कि जितने पहले कभी नहीं थे। कांग्रेस अपना दृढ़ विश्वास उसमें दिखाये जा रही है; क्योंकि उसके लिए तो दूसरा मार्ग है ही नहीं।

पर फिर भी आवश्यक है कि चीजों को अधिक मानकर हम न चलें और इस नाजुक घड़ी में नये सिरे से उस मार्ग के फलितार्थों की जांच करें और पूरे दिल से और मन से उन्हें स्वीकार करें। समय अव सिद्धांतों या वेकार के ख़याली पुलाव वनाने का नहीं है। आवश्यकता काम की है और काम के लिए मन और प्रयत्न की संलग्नता चाहिए। सन्देह की फ़िलासफ़ी या वहस-मुवाहिसे की आरामदेही की उसमें इजाज़त नहीं है। उससे भी कम इजाज़त है उन व्यक्तियों या दलों को कि वे अपनी विरोधी क्रियाओं से उस ध्येय को एक तरफ डाल दें और उसकी जड़ पर कुठाराघात करने की चुनौती दें।

यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर खुलकर विचार करें और स्पष्ट और अन्तिम निर्णयों पर आवें, क्योंकि एक नई पीढ़ी उठ खड़ी हुई है जिसकी जड़ हमारे पुराने अनुभवों में नहीं है और जो दूसरी ही भाषा वोलती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो खुले तौर पर या छिपकर और

हमारी ही सस्था की आड से हमारे तौर-तरीको और सिद्धांतो के प्रति घृणा प्रकट करते है। हो सकता है जैसा कि हमें अच्छी तरह से विश्वास है कि ये सन्देह करने वाले और विरोधी लोग कम ही है और देशव्यापी इस बड़े आन्दोलन का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते; लेकिन यह सम्भव है कि बहुत से लोगों के दिमागों में वे गड़बड़ पैदा कर दें और ऐसी घटनायें घटादें जिससे हमारे ध्येय को हानि पहुचे। अतः ध्येय की स्पष्टता और निर्णय का होना जरूरी है। जो हलचल हमारे सामने है, उसमें अनावश्यक खतरा हम नहीं ले सकते।

उन्नीस बरस पहले कांग्रेस ने अपने कामों में अहिंसा का तरीका ग्रहण किया था। इन गुजरे सालों में बहुत से अवसरों पर हमने अहिंसा के प्रयोग भी किये हैं। इनसे हमने ससार को प्रभावित किया और उससे अधिक महत्वपूर्ण यह कि हमने अपने आपको प्रभावित किया और जो कुछ हमने किया या जिस प्रकार हमने वह किया उसमें हमने अपूर्व शक्ति पाई। परतन्त्र राष्ट्र का पुराना मार्ग—या तो गुलामी या हिंसक विद्रोह—अब हमारे लिए नहीं है। हमारे पास अब एक शक्तिशाली हथियार है जिसका मूल्य—हमारी बढ़ती शक्ति और उसके बारे में समझ बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। यह एक ऐसा हथियार है जिसका प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है; लेकिन भारत की योग्यता तथा वर्तमान स्थिति में वह विशेष रूप से उपयुक्त है। हमारा निज का उदाहरण है जो उसका समर्थन करता है, और जो हमें दिलासा और उत्साह प्रदान करता है। लेकिन पिछले वर्षों की विश्व की घटनाओं ने यह दिखा दिया है कि हिंसक तरीके बेकार हैं और बहशियाना हैं।

मेरे ख्याल से हम में से कुछ ही कह सकते हैं हिंसा का युग समाप्त हो गया या जल्दी ही उसके समाप्त होने की सभावना है। आज हिंसा अपने बहुत ही गहन, विध्वसकारी और अमानवीय रूप में बढ रही है। उतनी वह पहले कभी नहीं बढ़ी। लेकिन उसकी तेजी ही उसके पतन का चिन्ह है। वह या तो स्वय समाप्त होगी या ससार के बहुत बड़े भाग को समाप्त कर देगी।

अपने मंजिले-मक़सूद को हम पहचानते हैं। अपना ध्येय और दिल की चाह भी हमारे सामने है। उन पर बहस करने की जरूरत नहीं है। लेकिन हमारी राह क्या है जो हमें चलनी है? कौन से तरीक़े हमें बरतने हैं, और कौन से उसूल हमारी क्रियाओं पर संरक्षण रखते हैं? ये बातें भी, निश्चय ही, बहस के लिए नहीं हैं। बरसों पहले ही हमने वह रास्ता रोशन कर दिया है और ठीक कर दिया है जिससे दूसरे उस खुले रास्ते पर चल सकें। बीस बरस पहले बहुत से लोगों ने इस सीधे और सही रास्ते की शक्ति पर संदेह किया होगा, लेकिन आज मार्ग-दर्शन के लिए हमारे पास भारी अनुभव है और सीख देने के लिए हमारी अपनी सफलता और असफलतायें हैं। उस रास्ते से हटाने की कोशिशों के बावजूद भी हम दृढ़ निश्चय के साथ उस पर अड़े हुए हैं और भारत के लाखों व्यक्तियों ने उस रास्ते के महत्व को समझा है और अब वे उस पर इतने पाबन्द हैं कि जितने पहले कभी नहीं थे। कांग्रेस अपना दृढ़ विश्वास उसमें दिखाये जा रही है; क्योंकि उसके लिए तो दूसरा मार्ग है ही नहीं।

पर फिर भी आवश्यक है कि चीजों को अधिक मानकर हम न चलें और इस नाजुक घड़ी में नये सिरे से उस मार्ग के फलितार्थों की जांच करें और पूरे दिल से और मन से उन्हें स्वीकार करें। समय अब सिद्धांतों या बेकार के खयाली पुलाव बनाने का नहीं है। आवश्यकता काम की है और काम के लिए मन और प्रयत्न की संलग्नता चाहिए। सन्देह की फ़िलासफ़ी या बहस-मुबाहिसे की आरामदेही की उसमें इजाज़त नहीं है। उससे भी कम इजाज़त है उन व्यक्तियों या दलों को कि वे अपनी विरोधी क्रियाओं से उस ध्येय को एक तरफ डाल दें और उसकी जड़ पर कुठाराघात करने की चुनौती दें।

यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर खुलकर विचार करें और स्पष्ट और अन्तिम निर्णयों पर आवें, क्योंकि एक नई पीढ़ी उठ खड़ी हुई है जिसकी जड़ हमारे पुराने अनुभवों में नहीं है और जो दूसरी ही भाषा बोलती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो खुले तौर पर या छिपकर और

हमारी ही सस्था की आड़ मे हमारे तौर-तरीकों और सिद्धांतों के प्रति घृणा प्रकट करते हैं। हो सकता है जैसा कि हमें अच्छी तरह से विश्वास है कि ये सन्देह करने वाले और विरोधी लोग कम ही हैं और देशव्यापी इस बड़े आन्दोलन का कुछ भी नहीं बिगाड सकते; लेकिन यह सम्भव है कि बहुत से लोगों के दिमागों में वे गड़बड़ पैदा कर दें और ऐसी घटनायें घटादें जिससे हमारे ध्येय को हानि पहुचे। अतः ध्येय की स्पष्टता और निर्णय का होना जरूरी है। जो हलचल हमारे सामने है, उसमें अनावश्यक खतरा हम नहीं ले सकते।

उन्नीस बरस पहले कांग्रेस ने अपने कामों में अहिंसा का तरीका ग्रहण किया था। इन गुजरे सालों में बहुत से अवसरों पर हमने अहिंसा के प्रयोग भी किये हैं। इनसे हमने ससार को प्रभावित किया और उससे अधिक महत्वपूर्ण यह कि हमने अपने आपको प्रभावित किया और जो कुछ हमने किया या जिस प्रकार हमने वह किया उससे हमने अपूर्व शक्ति पाई। परतन्त्र राष्ट्र का पुराना मार्ग—या तो गुलामी या हिंसक विद्रोह—अब हमारे लिए नहीं है। हमारे पास अब एक शक्तिशाली हथियार है जिसका मूल्य—हमारी बढ़ती शक्ति और उसके बारे में समझ बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। यह एक ऐसा हथियार है जिसका प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है; लेकिन भारत की योग्यता तथा वर्तमान स्थिति में वह विशेष रूप से उपयुक्त है। हमारा निज का उदाहरण है जो उसका समर्थन करता है, और जो हमें दिलासा और उत्साह प्रदान करता है। लेकिन पिछले वर्षों की विश्व की घटनाओं ने यह दिखा दिया है कि हिंसक तरीके बेकार हैं और बहशियाना है।

मेरे खयाल से हम में से कुछ ही कह सकते हैं हिंसा का युग समाप्त हो गया या जल्दी ही उसके समाप्त होने की संभावना है। आज हिंसा अपने बहुत ही गहन, विध्वसकारी और अमानवीय रूप में बढ़ रही है। उतनी वह पहले कभी नहीं बढ़ी। लेकिन उसकी तेजी ही उसके पतन का चिन्ह है। वह या तो स्वय समाप्त होगी या संसार के बहुत बड़े भाग को समाप्त कर देगी।

"तलवार हमेशा की तरह मूर्खों के लिए अपनी मूर्खता छिपाने का एक साधन है।"

लेकिन हम मूर्खता और पागलपन के युग में रहते हैं और हमारे शासक और मानवी सम्बन्धों को देखने-भालने वाले इसी युग की असली उपज हैं। हर रोज़ हमारे सामने यही खूंखार समस्या है—हिंसक आक्रमण का मुकाबिला कैसे किया जाय? क्योंकि इसके अतिरिक्त बहुधा और कोई मार्ग नहीं है कि बुराई के आगे चुपचाप झुक जाओ और उसके हाथों अपने को सौंप दो। स्पेन ने बलपूर्वक हिंसक आक्रमण का विरोध किया और यद्यपि अन्त में उसकी पराजय हुई, लेकिन उसके लोगों ने साहस और वीरतापूर्ण धैर्य का शानदार उदाहरण उपस्थित कर दिया। मित्रों ने उनका साथ छोड़ दिया, फिर भी ढाई बरस तक फ़ासिस्ट आक्रमण की बाढ़ को उन्होंने रोके रक्खा। उनकी हार के बाद आज भी कौन कहेगा कि वे ग़लती पर थे, क्योंकि उनके लिए दूसरा सम्मानपूर्ण मार्ग खुला हुआ नहीं था। अहिंसात्मक तरीक़ा उनके दिमाग़ में नहीं था और वैसे भी उन परिस्थितियों में वह उनकी पहुँच के बाहर था। यही चीन में हुआ।

चेकोस्लोवेकिया अपनी सशस्त्र शक्ति और असंदिग्ध साहस के बावजूद भी बिना लड़े पराजित हो गया। ठीक है, पराजय उसकी हुई; क्योंकि उसके मित्रों ने उसके साथ विश्वासघात किया, लेकिन फिर भी सचाई तो यह है कि उसकी तमाम सशस्त्र शक्ति उसकी आवश्यकता के समय कारगर साबित नहीं हुई। पोलैण्ड तीन सप्ताह की हलचल में एकदम समाप्त हो गया और उसकी भारी फौज और हवाई जहाजों के बेड़े न जाने कहां विलीन हो गये।

हिंसक मार्ग और सशस्त्र शक्ति आज तात्कालिक सफलता के संकुचित-से-संकुचित अर्थ में तभी संभव है जब कि सशस्त्र शक्ति अपने विरोधी से अधिक बलवती हो। अन्यथा बिना युद्ध के ही समर्पण कर दिया जाता है या जरा-सी हलचल के बाद ही पतन हो जाता है और साथ आती है घोर पराजय और अनैतिकता। साधारण हिंसा

को एकदम त्याग दिया गया है, क्योंकि विजय की कोई संभावना भी उससे नहीं होती और उससे पराजय और फूट का भय फैल जाता है।

भविष्य में भारत का क्या होगा यह हमारे अन्दाज से बाहर है। यदि भविष्य में सशस्त्र राष्ट्रीय शक्ति की आवश्यकता रहती है, तो हम में से अधिकांश के लिए यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि बिना राष्ट्रीय फौज और 'बचाव के अन्य साधनों के' भारत स्वतन्त्र होगा। लेकिन वैसे भविष्य पर विचार करने की हमें आवश्यकता नहीं है। हमें तो बस वर्तमान पर विचार करना है।

इस वर्तमान में सन्देह और कठिनाइयाँ नहीं उठतीं; क्योंकि हमारा कर्तव्य स्पष्ट है और मार्ग निश्चित है। वह मार्ग भारतीय स्वाधीनता की समस्त रुकावटों का निष्क्रिय प्रतिरोध करना है। उसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। इसके बारे में हमें बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए; क्योंकि विभिन्न दिशाओं में मन के खिंचते होने की दशा में कोई काम शुरू करने का साहस हमें नहीं करना चाहिए। ऐसा कोई दूसरा मार्ग है, जो हमें प्रभावशाली कार्य के अवसर की छाया-मात्र भी दे सकता है, मैं नहीं जानता। वास्तव में अगर हम दूसरे मार्गों के बारे में सोचते हैं तो वास्तविक कार्य हो ही नहीं सकता।

मेरा विश्वास है कि इस प्रश्न पर अधिकतर कांग्रेसजन एकमत हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो कांग्रेस के लिए नये हैं। वे दिखाने के लिए तो एकमत हैं; लेकिन करते दूसरी तरह से हैं। वे अनुभव करते हैं कि कोई राष्ट्रीय या देश-व्यापी आन्दोलन उस समय तक नहीं चल सकता जबतक कि कांग्रेस द्वारा वह न चलाया जाय। उसे छोड़ कर और जो कुछ होगा वह तो दुस्साहस होगा। इसलिए वे चाहते हैं कि कांग्रेस से पूरा लाभ उठावें और साथ ही उन दिशाओं में भी चले जावें जो कांग्रेस की नीति के विरुद्ध हैं। उनका प्रस्तावित सिद्धान्त तो यह है कि वे कांग्रेस में अपने को मिलाये रहें और फिर उसके बुनियादी धर्म और कार्य-प्रणाली को हानि पहुँचावें, विशेष कर अहिंसा के सिद्धान्त के

अमल को रोका जाय, बाहर से और प्रकटरूप में नहीं; बल्कि धोखेबाजी से और अन्दर से।

अब प्रत्येक भारतीय को स्वतन्त्रता है कि वह अपने प्रस्तावों और विचारों को आगे लाकर रक्खे, उनके लिए काम करे और अपने दृष्टिकोण पर दूसरों को राजी करे। उनके अनुसार वह आचरण भी करे, यदि वह सोचता है कि वैसा करना आवश्यक है। लेकिन दूसरी किसी चीज़ की आड़ में ऐसा करने की उसे स्वतन्त्रता नहीं है। वह जनता को ग़लत रास्ते ले जाना होगा। और ऐसे धोखे से जन-आंदोलन नहीं उठ खड़े होते। कांग्रेस के प्रति वह नमकहरामी होगी और अनुचित समय में आन्दोलन से नाजायज़ फ़ायदा उठाना होगा। यदि विचारों का कोई विरोध है तो इसमें भलाई ही है कि वह सामने आये और लोग उसे समझें और अपना निर्णय करें। किसी भी समय ऐसा होना चाहिए, विशेषकर बड़ी घटनाओं के प्रारम्भ होने से पहले। कोई भी संस्था आंतरिक विघ्न-बाधाओं को बर्दाश्त नहीं कर सकती जबकि वह शक्तिशाली दुश्मन से मुठभेड़ करने की परिभाषा में सोचती है। अपनी जनता में उस समय अनुशासनहीनता या मत-भेद ठीक नहीं है जबकि समय ऐसा है कि हम सबको काम में लग जाना चाहिए।

अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पूर्ण स्पष्टता और निश्चय के साथ हम इस मसले को तय करें। जहां तक कांग्रेस का सम्बन्ध है, बेशक हमने तय कर लिया है और उस निर्णय पर हम दृढ़ रहेंगे। दूसरा कोई भी मार्ग प्रभावशाली नहीं है और उसमें राष्ट्र के लिए खतरा है।

यदि हम वैसा विचार करें तो भारत में गड़बड़ मचा देना हमारे लिए कठिन नहीं है; लेकिन गड़बड़ में से जरूरी तौर पर या आम तौर पर भी स्वाधीनता नहीं निकलती। भारत में गड़बड़ की स्पष्ट सम्भावनायें हैं जिनका फल अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण निकलेगा। हम हमेशा अपने काम के परिणामों के बारे में भविष्यवाणी नहीं कर सकते, विशेषकर उस हालत में जब हम जनता के बल पर उस काम को करते हैं। खतरे

हम उठाते हैं, और उठाने ही चाहिएं। लेकिन ऐसा कुछ करना तो अकल्पनीय मूर्खता होगी जो उन खतरों को बहुत बढ़ा दे और हमारी स्वतन्त्रता के मार्ग में रोक लगादे और हमारे आन्दोलन में से उस नैतिकता को ही उठा ले जिस पर कि इतने वरसों से हमें गर्व रहा है। ऐसी दशा में जब कि समार हिंसक तरीकों से चूर-चूर हो रहा है, हमारे लिए उन्हें ग्रहण करने की बात सोचना तक एक भारी दुख की बात होगी।

इसलिए मजबूती और निश्चय के साथ हम अहिंसा पर दृढ़ रहें और उसके स्थान पर कुछ भी मिले, उसे अस्वीकार कर दें। हमें याद रखना चाहिए कि यह सम्भव नहीं है कि विभिन्न तरीके साथ-साथ चालू रह सकें; क्योंकि ये एक दूसरे को कमजोर करते हैं और एक ओर हटा देते हैं। इसलिए होशियारी के साथ हम अपना मार्ग चुनें और उस पर दृढ़ रहें। अन्य मार्गों के साथ खिलवाड़ करके उसे हम बिगाड़ें नहीं। सब से अधिक हम यह अनुभव करें कि अहिंसा अहिंसा है। यह एक ऐसा शब्द-मात्र नहीं है कि मन के दूसरी तरह काम करने पर भी उसे मशीन की तरह इस्तेमाल किया जा सके, मुंह से दूसरे शब्द और वाक्य निकलते हों, जो उसके विरोधी हों, और हमारे काम के विपरीत हों। यदि हमें अहिंसा तथा अपने और अपने ध्येय के प्रति ईमानदार रहना है तो हमें अहिंसा के प्रति सच्चा रहना होगा।

: ३६ :

किसानों का संगठन[1]

भलाई के पक्ष में अपना 'संगठन' दिखाने के लिए दूर-दूर से यहां आने में आपने जो दिलचस्पी दिखाई है, उसकी मैं तारीफ करता हूं। आज के दिन प्रान्त के विभिन्न केन्द्रों में सैंकड़ों सभायें ब्रिटिश सरकार को आपका संगठन दिखाने के लिए हो रही हैं। सभाओं के पीछे यह भी आग्रह है कि हक़ आराज़ी बिल को गवर्नर और गवर्नर जनरल की रज़ा-मन्दी से बिना अनावश्यक विलम्ब के पास करके क़ानून बना दिया जाय। आपको और कांग्रेस को मिलकर अभी बहुत कुछ करना है और आपको उन घटनाओं पर भी निगाह रखनी है जो घटित हो सकती हैं और जो आपके संयुक्त कार्य को पूरा करने के लिए मार्ग निश्चित कर सकती हैं। कांग्रेस जो कहे, उस पर आप आंख बन्द कर के न चलें,—जैसे कि वह आपके लिए आज्ञा हो,—बल्कि कांग्रेस की सब आज्ञाओं की ऊँच-नीच को आप खुद समझें और तब उन पर अक़्लमंदी और मेल की भावना से चलें।

कांग्रेस पंचायत,—कार्यसमिति—ने देश और देशवासियों के, जिनमें आप भी शामिल हैं, पक्ष में रोज़-बरोज़ उठने वाले सब मसलों पर विचार किया है। इस कांग्रेस पंचायत ने जो निर्णय किया है उस पर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों से लेकर ग्राम मण्डल कांग्रेस कमेटियों तक जिनके बिना इतनी बड़ी और शक्तिशाली कांग्रेस संस्था अच्छी तरह से योग्यता के साथ काम नहीं कर सकेगी, सभी मातहत कमेटियों को विचार करना चाहिए और अनुशासन-नियमानुकूलता के साथ उस पर चलना चाहिए।

१ किसान-दिवस पर प्रयाग में दिया गया भाषण।

आपको भी वैसा ही अनुशासन रखना चाहिए और एकता, शक्ति और सफलता का निश्चय कर लेना चाहिए।

हक़ आराज़ी बिल पास हो गया है और मुझे इसमें शुबह नहीं है कि गवर्नर और गवर्नर-जनरल की रज़ामन्दी भी थोड़े वक्त में आ जायगी। लेकिन गवर्नरों के दस्तखतों से ही सब कुछ नहीं हो जायगा। अगर आपने अपना सगठन न किया और अपने को शक्तिशाली न बनाया तो ज़मींदार नये नियमों को फाड़-फूड़ कर फेंक देंगे।

आपको हक़ आराज़ी बिल से अपने अधिकारों का सिर्फ़ कुछ हिस्सा ही मिलेगा। सोलहों आना अपने अधिकार पाने के लिए तो आपको बहुत काम करना पड़ेगा। पहला और सबसे खास काम आपका 'सगठन' है।

आपको यह भी जानना चाहिए कि दुनिया में क्या हो रहा है। भूचालों की तरह दुनिया में घटनायें घटित हो रही हैं। लड़ाई और क्रांतियाँ भूचालों जैसी ही तो हैं। आप यह जानते होंगे कि पच्चीस बरस पहले जैसी बड़ी लड़ाई छिड़ी थी वैसी ही लड़ाई इंग्लैण्ड और जर्मनी के बीच छिड़ी है। पिछले महायुद्ध में हमारे बहुत से देशवासी मरे; लेकिन देश के लिए हमें आज़ादी नहीं मिली। हम से कहा गया है कि इस लड़ाई में भी हम ब्रिटेन की मदद करें। कांग्रेस ने विचार किया कि इस बारे में वह क्या करे, आया लड़ाई में हिस्सा ले या नहीं। सवाल था कि अगर हमें आज़ादी नहीं मिलती है तो हम उसमें हिस्सा क्यों लें। अगर लड़ाई साम्राज्यवाद की ही जड़ मज़बूत करने के लिए है तो हमें उसमें हिस्सा नहीं लेना चाहिए। हमारी बिना सलाह लिए ब्रिटिश सरकार ने हमें इस युद्ध में सान लिया है। यह एक भारी गलती है। कांग्रेस कार्यसमिति ने इस सारे मसले पर गम्भीरता के साथ विचार किया; क्योंकि उसने हमारे देश की करोड़ों जानों का सम्बन्ध है। शायद आप पूरी तरह से जानते हैं कि किन-किन बातों पर कार्यसमिति ने इस सम्बन्ध में विचार किया है।

इंग्लैण्ड ने कहा कि वह दूसरे देशों को, जिनमें से कुछ को जर्मनी

: ३८ :

चर्खे का महत्व

हम सत्याग्रह के सिलसिले में जब सोचते हैं तब हमें अपने को धोखा नहीं देना चाहिए। इस प्रस्ताव पर हमें अमल करना चाहिए।

मैं चर्खे के खिलाफ़ और पक्ष में बहुत कुछ कह सकता हूँ। चर्खे ने काफ़ी फ़ायदे पहुँचायें हैं। लेकिन चर्खे को मैं कोई मंत्र नहीं मानता। चर्खा एक औजार है, जो हमारे लिए लाभदायी है। दूसरे भी हज़ार औज़ार हमें चलाने हैं। महात्माजी चर्खे के बारे में क़िस्म-क़िस्म की बातें करते हैं जो मेरी समझ में नहीं आतीं। पर जितना समझ में आता है उतने का ही उपयोग किया जाय तो बहुत काफ़ी है।

एक बात और बता दूं। मैं अच्छा कातना जानता हूँ और मेरा दावा है कि किसी को भी चार दिन में चर्खा कातना सिखा दूंगा। लेकिन पिछले तीन-चार वर्ष में मैंने नहीं काता है। पर एक अजीब बात है कि चीन से जब मैं आया तब पहला काम मैंने अपने पुराने चर्खे को देखने का किया। उस समय इस प्रस्ताव का खयाल नहीं था, पर जेल जाने के वास्ते मैं चर्खे को तैयार करना चाहता था। जब पुराने चर्खों से मुझे संतोष नहीं हुआ तो मैंने एक नया चर्खा भी खरीद लिया।

चर्खे के दो पहलू हैं। (१) इसके कातने से क्या लाभ हैं। (२) लड़ाई के सिलसिले में यह क्या असर रखता है? मैं चर्खे का अंध-भक्त नहीं हूँ, परन्तु इसमें फायदा मैंने देखा है। इसमें राजकीय असर है। चीन में हर जगह चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में सवाल हुआ। मैं यह देखकर हैरान हो गया कि कोई जगह ऐसी नहीं थी जहाँ मुझ से यह नहीं पूछा गया कि हिन्दुस्तान में चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में क्या हो रहा है? चीनवालों के सामने कोई अहिंसा का सवाल नहीं है, न बड़े-बड़े

सिर्फ कारखानों से हिन्दुस्तान का सवाल हल न होगा। मैं अपने को वैज्ञानिक आदमी समझता हूँ। आप लोगों में से बहुतों का जन्म नहीं हुआ होगा तब मैंने साइंस लेकर एक डिग्री पाई है। साइंस के बिना मैं किसी चीज़ को सोच नहीं सकता। कोई जबरदस्ती मुझे कुछ समझाने आवे तो मेरा दिमाग उसका विरोध करता है। महात्माजी का मैं आदर करता हूँ, लेकिन भक्ति नहीं करता। यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनकी बात वैसी-की-वैसी मैं अपने दिमाग में नहीं ला सकता। लेकिन मैं सिपाही के नाते उनकी बातों को समझने की कोशिश करता हूँ। मैं अदब के साथ आप लोगों से कहूँगा कि चर्खे को निकम्मा बताना वाक़यात से ताल्लुक नहीं रखता। क्योंकि हम लोगों की आबादी बहुत घनी है, हमें कोई चीज ऐसी चाहिए जो हर जगह हरेक आदमी को करने के लिए कह सकें।

दूसरा लड़ाई का पहलू है। हम महात्माजी को जनरल बनाना चाहते हैं और महात्माजी का कहना है कि चर्खा ही मेरा हथियार है। पर हम महात्माजी को इस तरह रिश्वत देना नहीं चाहते। हम उनके हाथ बाँध देना नहीं चाहते। आज़ाद रखना चाहते हैं। सवाल उठता है, इसमें क्रान्तिकारी बात क्या है? चर्खे में क्रान्तिकारी कोई चीज नहीं। क्रान्ति तो आपके दिमाग़ में है। अगर दिमाग़ में लड़ाई भरी हो तो चर्खा क्या झाड़ू भी लड़ाई का निशान हो सकता है। अगर दिमाग़ में लड़ाई नहीं है तो अच्छे-से-अच्छे हथियार भी बेकार हैं। फ़र्ज़ कीजिए कि किसी वजह से अँग्रेज़ों ने कानून बना दिया कि हर घर में चर्खा रहे और बिना खादी के कोई कपड़े न रहें और हमारे देश में खादी और चर्खा हो जाय तो उसमें कोई लुत्फ नहीं होगा। हाँ, थोड़ा-सा आर्थिक लाभ ज़रूर होगा, पर उससे हमारी ताक़त या संगठन पैदा नहीं हो सकते। जितने संशोधन यहाँ आये उनमें चर्खे के स्थान पर जो बात रक्खी गई है उससे साफ़ पता चलता है कि अगर चर्खा छोड़ दें तो सिर्फ़ व्याख्यान देना ही लड़ाई का साधन हो जाता है। व्याख्यान से वातावरण तैयार होता है, यह मैं भी मानता हूँ। काफ़ी जोश पैदा किया जा सकता है। पर उससे क्रान्ति

पैदा नहीं होती। अगर हो भी तो थोड़े वक्त के लिए होती है। उसकी जड़ पक्की नहीं होती तबतक उकसाया हुआ आन्दोलन खतरनाक होता है। इसलिए किसानों को कोई चीज ऐसी देनी चाहिए जो उनकी सब भावनाओं के लिए पूर्ति का काम करे।

२ दिसम्बर, १०२९.

: ३६ :

शिक्षा का ध्येय[1]

जब इस परिषद के उद्घाटन के लिए आपका दोस्ताना निमंत्रण मेरे पास टेलीफ़ोन पर वर्धा पहुँचा, तो मैं घड़ी भर के लिए दुविधा में पड़ गया। सिर्फ घड़ी भर ही के लिए; क्योंकि दूर की बातचीत में टेलीफ़ोन पर कोई देर तक नहीं ठहर सकता। एक विद्वानों की मण्डली ने अपने चुनीदा लोगों के सामने मुझे बुलाया है, इससे मैंने गौरव महसूस किया। क्योंकि हालांकि विद्यालयों के लिए मैं कोई नया आदमी नहीं रहा हूँ, फिर भी बरसों से मेरा रास्ता उनसे कट गया है और वह मुझे अजनबी और धूलभरी गलियों ले में गया है।

अक्सर मैंने उन गहरे खजानों में गोते लगाये है जिनमें गुज़रे ज़मानों के खयालात, सपने और तजुरबे दबे पड़े थे। लेकिन तक़दीर और स्थिति ने मिलकर साज़िश की और मुझे उस सुन्दर और सुनियमित ज़िन्दगी से खींचकर देश के इतने अपढ़ लोगों के बीच ला पटका।

मैं बहुत से पुरुषों और स्त्रियों से मिला। उनमें से अधिकांश ने स्कूल और कालेज की शक्ल तक नहीं देखी, और न राज्य की तरफ़ से या निजी तौर पर की गई शिक्षा की व्यवस्था ने ही उनपर कोई असर डाला।

आपके निमंत्रण की ओर मैंने अपने को खिंचता हुआ महसूस किया। आखिर शिक्षा से बढ़कर आकर्षित और अहमियत रखनेवाली चीज़ आज और क्या है? लड़ाइयों में जूझती इस दुनिया में दुख भरे हैं, झगड़े हैं और हज़ारों समस्यायें हैं जो हमें सता रही हैं। ऐसे वक्त में

१. लखनऊ में अखिल भारत शिक्षा-परिषद का उद्घाटन करते हुए २७ दिसम्बर १९३९ को दिया गया भाषण।

मुनासिब शिक्षा के अलावा और किससे हम शान्ति पा सकते हैं और कैसे इन समस्याओं का हल निकाल सकते हैं ?

इसलिए अपनी शुभाकांक्षा देने और आपकी मेहनत की तारीफ करने में आपके बीच आगया। मुझ जैसे अनाड़ी आदमी के लिए पेचीदा सवालों पर यहाँ चर्चा करना कहाँ मुनासिब होगा ? ये पेचीदा सवाल तो विशेषज्ञों के लिए है। लेकिन विशेषज्ञ के विशेष रूप से चीजों को देखने के तरीके में एक खतरा है। हो सकता है कि चीजों को देखने में उचित दृष्टिकोण उसका न रहे और सामूहिक रूप में वह जिन्दगी को देखना भूल जाए। इस खतरे के खिलाफ इन्तजाम करना होगा. खासतौर से इस वक्त में जबकि जिन्दगी की नींव को ही चुनौती दी जा रही है और वह झगड़े में पड़ी है। शिक्षा के पीछे आपका ध्येय और उद्देश्य क्या है ? जरूर ही आप बढ़ती पीढ़ी को जिन्दगी के लिए तैयार करते हैं। आप जिन्दगी को किस साँचे में ढालना चाहते हैं; क्योंकि अगर उस साँचे की साफ तस्वीर आपके दिमाग में न होगी तो जो शिक्षा आप देंगे वह दिखावटी और दोषपूर्ण होगी। उद्देश्य भी उसमें कुछ न होगा और आपकी समस्यायें और कठिनाइयाँ बढ़ती ही जायेंगी। आप जहाजी विद्या पर व्याख्यान देते रहेंगे जबकि जहाज डूबता जायगा।

बहुत जमाने से शिक्षा का आदर्श आदमी की तरक्की करना रहा है। जरूरी तौर पर यही आदर्श रहना चाहिए, क्योंकि बिना आदमी की तरक्की के सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती। लेकिन आज आदमी की वह चिंता भी जनसाधारण को सामने रखकर करनी चाहिए, नहीं तो शिक्षित आदमी अशिक्षित जन-समूह में गर्क हो जायेंगे। और किसी भी हालत में क्या यह मुनासिब या ठीक है कि थोड़े से लोगों को तरक्की करने और बढ़ने का मौका मिले जबकि बहुत से लोग उससे वंचित रहें ?

लेकिन इंसान के दृष्टिकोण से भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल का हमें मुकाबिला करना है। क्या एक अकेला इन्सान दुर्लभ मौकों को छोड़कर दरअसल आगे बढ़ सकता है, अगर उसके चारों तरफ का वायुमण्डल हर

वक्त उसे नीचे खींचता हो ? अगर वह वायुमण्डल उसके लिए दूषित और नुक़सानदेह है तो इन्सान का उससे लड़ना बेसूद होगा और लाज़िमी तौर पर वह उससे कुचल जायगा।

यह वायुमण्डल क्या है ? उसमें वे पुश्तैनी विचार, दुराग्रह और वहम शामिल हैं जो दिमाग़ पर बाँध लगा देते हैं और इस बदलती दुनिया में तरक्की और तब्दीली को रोकते हैं। ये राजनीतिक स्थितियाँ हैं जो अकेले इन्सान और इन्सानों के मजमूए को ऊपर से लादी गई ग़ुलामी में रखती हैं और इस तरह उनकी आत्मा को भूखों मार डालती हैं और और उनकी भावना को कुचल देती हैं। सबसे अधिक, आर्थिक स्थितियों का दबाव है। वे जनता को मौक़ा देने से इन्कार करती हैं। हमारे चारों तरफ़ दुराग्रह और वहम की जटिलता और राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों का वायुमण्डल फैला है जिसके पंजे में हम फँसे हैं।

आपकी शिक्षा-प्रणाली सारे नामवर गुण सिखा सकती है; लेकिन ज़िन्दगी और ही कुछ सिखाती है। और ज़िन्दगी की आवाज़ कहीं ऊँची और तेज़ है। सहकारी प्रयत्न के लाभ आप बता सकते हैं; लेकिन हमारे आर्थिक ढांचे का आधार गला काटने वाली प्रतिस्पर्धा पर है और एक आदमी दूसरे को मार कर ऊपर उठना चाहता है। जो अपने प्रतिद्वन्दियों को पछाड़ने में और कुचल डालने में सफल होता है, उसीको चमकदार इनाम मिलता है। क्या इसमें कोई अचरज है कि हमारे युवक उस चमकीले इनाम की ओर खिचे, और दावा करें कि लाभ के इच्छुक इस समाज में उस इनाम का पाना सबसे अधिक वांछनीय गुण है।

इस देश में हम तो अहिंसा की प्रतिज्ञा से बँधे हैं। फिर भी हिंसा न सिर्फ़ लड़ते-झगड़ते राष्ट्रों के प्रत्यक्ष रूप में ही हमें घेरे हुए हैं, बल्कि उस सामाजिक ढांचे के रूप में भी वह हमें घेरे हुए हैं जिसमें कि हम रहते हैं। इस हिंसा भरे वातावरण से सच्ची शान्ति या अहिंसा उस समय तक कभी भी हासिल नहीं हो सकती, जबतक कि हम उस वायुमण्डल को ही न बदल दें।

उन आदर्शों के बावजूद भी जिन्हें कि हम स्वीकार कर सकते हैं,

हमारी शिक्षा-प्रणाली इसी वायुमण्डल की ही उपज और अंग है। इसी से वह पोषण पाती है और जान-बूझ कर या बनजाने इसीका वह समर्थन करती है। लेकिन यह बात आज संसार में स्पष्ट है कि यही वायुमण्डल हमारी बहुत-सी मुसीबतों का कारण है और उसे जैसे-का-तैसा छोड़ देना सीधे बरबादी की तरफ जाना है।

असल में उस बरबादी को रोकने के लिए पहले ही से काफी देर हो गई है और यूरोप में जो लड़ाई चल रही है, वह शायद वर्तमान सभ्यता की नींव ही ढहा दे। इस बरबादी से हम बच नहीं सकते। यदि इससे बच भी गये तो हमारी निजी समस्यायें हैं जो हमें उस समय तक मिटा देने की धमकी देती हैं जबतक कि हम ठीक निगाह से चीज़ें न देखें और काम न करें। ताजी घटनाओं पर गौर करने से पता चलता है कि इस देश में बुराई, फूट और ओछा पक्षपात कितना अधिक है। हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार प्रबल राजनीतिक और आर्थिक हित मजदूरों के खिलाफ अपनी नाराजी दिखाते हैं और लड़ते हैं।

कुछ और बड़ी समस्यायें हैं जो इस परिषद के सामने नहीं आवेंगी। वे हमारी शिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। जबतक इन समस्याओं का उचित हल जल्दी ही न निकलेगा तबतक शिक्षा-सम्बन्धी हमारे प्रयत्न सब यों ही जायँगे। लेकिन तात्कालिक समस्याओं के अलावा कोई भी शिक्षा में दिलचस्पी रखने वाला इस महत्वपूर्ण प्रश्न को दरगुजर नहीं कर सकता कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में शिक्षा का ध्येय क्या हो। समूची शिक्षा का दृष्टिबिन्दु निश्चित रूप से सामाजिक हो और वह हमारे युवकों को उस प्रकार के समाज का शिक्षण दे जिसमें कि हम रहना चाहते हैं। उस समाज का निर्माण करने के लिए राजनीतिज्ञ राजनीतिक और आर्थिक तब्दीलियों के लिए कोशिश कर सकते हैं, लेकिन उस समाज की असली बुनियाद तो हमारे स्कूलों और कालेजों में दी जाने वाली शिक्षा में रहनी चाहिए। तभी लोगों के मन में सच्चा परिवर्तन होगा; हालांकि वायुमण्डल के बाहरी परिवर्तनों से भी उसे बहुत ज्यादा मदद मिल सकेगी और मिलेगी। ये दोनों प्रक्रियायें

साथ-साथ चलती हैं और एक-दूसरे के लिए वे सहायक होनी चाहिए।

हमारा आज का सामाजिक ढांचा ढह रहा है। उसमें विरोधी वातें भरी हैं और वह वरावर लड़ाई और संघर्ष की ओर हमें लिय जा रहा है। लाभ के इच्छुक और प्रतिस्पर्धा में फंसे इस समाज का अंत होना चाहिए और उसकी जगह एक ऐसी सहकारी व्यवस्था आनी चाहिए जिसमें हम अकेले इन्सान के फायदे की वात न सोच कर सव की भलाई की वात सोचें, जहाँ इंसान इंसान की मदद करे और राष्ट्र राष्ट्र मिल कर इंसानों की तरक्की के काम करें; जहाँ पर मानवीय गुणों का मूल्य हो और जमात या समूह या राष्ट्र का एक के द्वारा दूसरे का शोपण न हो।

यदि हमारे आगे आने वाले समाज का यही मान्य आदर्श है तो हमारी शिक्षा भी उसी आदर्श को सामने रखकर ढाली जानी चाहिए और कोई भी वात एसी नहीं आनी चाहिए जो सामाजिक व्यवस्था के इस ध्येय के विरुद्ध हो। उस शिक्षा के लिए हमेशा अपने करोड़ों लोगों की परिभापा में सोचना होगा और किसी दल या जमात के लिए उसके हितों की आहुति नहीं देनी होगी। अध्यापक तव वह नहीं होगा जो कि अपने उस पेशे की लकीर का फ़कीर है जिससे उसे जीविका मिलती है; वल्कि वह आदमी होगा जो अपने पेशे को उस पवित्र ध्येय के एक मिशनरी की उत्साहपूर्ण भावना से पसन्द करेगा जो कि उसकी रग-रग में भरा है।

हाल ही में हिन्दुस्तान में शिक्षा की प्रगति की ओर वहुत ध्यान दिया गया है और लोगों के मन में उसके लिए उत्साह और उत्सुकता है। आज की इस दुनिया में जिसमें उम्मीद वहुत कम है, यह वड़ी आशा की चीज़ है। इसमें शुवह नहीं कि आप वुनियादी शिक्षा की नई योजना पर भी विचार करेंगे। जितना मैंने इस वुनियादी शिक्षा पर सोचा है उतना ही मैं उसकी तरफ़ खिचा हूँ। इसमें शक नहीं कि आगे तजुरवे होंगे, उनसे परिवर्तन होंगे। लेकिन मुझे इसमें सन्देह नहीं कि इस योजना के द्वारा हमने एक ऐसा मार्ग पा लिया है, जिससे यदि शिक्षा जीवन से सामंजस्य

रखती है और जीवन के लिए आदमी को तैयार करती है, तो उसमें ठीक लाइनों पर जनता शिक्षित हो सकती है। खासतौर से यह शिक्षा हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश के लिए बहुत उपयुक्त है।

मैं हिन्दुस्तान भर में घूमा हूँ। लाखों अभागे और दुखी लोगों को मैंने देखा है; आँखें जिनकी बैठ गई हैं और निगाह में बेबसी भरी है। हिन्दुस्तान के इस दुर्भाग्य से मुझे चोट लगी है। फिर भी मैंने हमेशा महसूस किया है कि हमारे लोगों में आश्चर्यजनक शक्ति है और विश्वास किया है कि अपनी इस दुखी हालत से वे ऊपर उठेंगे। उनके सूखे चेहरे फिर चमकेंगे और उनकी आँखों में फिर आशा भरेगी। हरेक इन्सान का यह जन्मजात अधिकार है। उन्हें भूख लगती है, पर खाने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है। काम वे चाहते हैं, लेकिन काम उन्हें नहीं मिलता। जाड़े से उनकी देह थर-थर कांपती है, उनके घर मिट्टी के झोपड़े हैं। वे बराबर गिरते रहते हैं और कभी कोई आशाजनक अवसर उनके रास्ते भी नहीं फटकता।

यह सब दुर्भाग्य है और इसका इलाज होना चाहिए। लेकिन सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि जब लोगों में कोई आशा नहीं है, न साहस के कार्य करने की भावना और अभिमान बचा है तो उनकी स्फूर्ति ही खत्म हो जायगी। हिन्दुस्तान को नया जन्म देने से पहले यही चीज है जिसका हमें खात्मा करना है।

बुद्धिवादी और ऊँचे दिमाग के आदमियों को एक दूर दुखी दुनिया के मामलों पर शांत भाव से विचार करना अच्छा लगता है। असलियत से दूर, वे सीमित घेरों में अपने को सुरक्षित और सन्तुष्ट महसूस करते हैं। लेकिन असलियत तो अब हमारे सामने है और दुखी दुनिया हमसे दूर नहीं है; बल्कि वह हमें घेर लेने और दुखी करने की धमकी देती है। जो इस कटु वास्तविकता से डर गये हैं और उससे बचने के लिए पनाह ढूँढते हैं, वे क़िस्मत के खिलाफ बेबसी से और बुरी तरह से लड़ते हैं और छिपी शक्तियों से नियंत्रित वे कठपुतली की तरह काम करते हैं। हममें से किसी को भी इस कमजोर और बेकार तरीके से ऐसे वक्त में

काम नहीं करना चाहिए जब कि हरेक चीज के लिए जो कि जीवन के लिए योग्य है, स्पष्ट विचार और बहादुरी के कामों की जरूरत है। दुनिया खुशगवार नहीं है, इस बात को हम महसूस करें और तब आदमियों की तरह उसे बदलने की कोशिश करें और अपने सबके रहने के योग्य उसे अच्छी और ठीक बनावें।

: ४० :

अखबारों की आज़ादी[1]

मैं अखबारों की आज़ादी का बहुत ही ज्यादा कायल हूँ। मेरे खयाल में अखबारों को अपनी राय ज़ाहिर करने और नीति की आलोचना करने की पूरी आज़ादी मिलनी चाहिए। हाँ, इसका मतलब यह नहीं होना चाहिए कि अखबार या इन्सान द्वेष भरे हमले किसी दूसरे पर करें या गंदी तरह की अखबार-नवीसी में पड़े, जैसे कि हमारे आजकल के कुछ साम्प्रदायिक पत्रों की विशेषता है। लेकिन मेरा पक्का यकीन है कि सार्वजनिक जीवन का निर्माण आज़ाद अखबारों की नींव पर होना चाहिए।

× × ×

मशहूर राष्ट्रवादी अखबार जिन्होंने अपनी स्थिति बनाली है, वे बड़ी हद तक खुद अपना खयाल रख सकते हैं। उनपर और कोई मुसीबत आती है तो जनता का ध्यान उनकी तरफ जाता है। मदद भी उन्हें मिलती है। पर जो छोटे और ऐसे अखबार हैं जिनका नाम थोड़ा ही है, उनमें सरकार अक्सर दखल करती है, क्योंकि उनकी प्रसिद्धि उतनी नहीं है। फिर भी हमारे छोटे-से-छोटे और कमज़ोर-से-कमज़ोर अखबारों को सरकारी दबाव का शिकार होने देना खतरे की बात है। क्योंकि ज्यों-ज्यों दबाव पड़ता है त्यों-त्यों दबाव डालने की आदत बढ़ती जाती है और उससे धीरे-धीरे जनता का मन सरकार द्वारा अपने अधिकारों

१. बंगाल की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की कार्यसमिति के 'युगान्तर' पत्र के बहिष्कार का प्रस्ताव पास करने तथा बंगाल सरकार द्वारा कई पत्रों से जमानत मांगने और संपादन में दखल देने पर 'अमृतबाज़ार पत्रिका' के सम्पादक श्री तुषारकान्ति घोष को लिखा गया एक पत्र।

का दुरुपयोग किये जाने का आदी हो जाता है। इसलिए पत्रकारों की एसोसियेशन तथा सब अखबारों के लिए यह जरूरी है कि कम मशहूर अखबारों तक के मामलों को यों ही न जाने दें। अगर वे प्रेस की आज़ादी बनाए रखने के ख्वाहिशमन्द हैं तो उन्हें सजग रहकर इस आज़ादी की रक्षा करनी चाहिए और हर प्रकार के अतिक्रमण को, फिर वह कहीं से भी हो, रोकना चाहिए। यह राजनीतिक विचारों या मतों का ही मामला नहीं है। जिस घड़ी हम उस अखबार पर हमला होने में अपनी रजामन्दी दे देते हैं, जिससे हमारा मत-भेद है, तभी उसूलन हम अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं और जब हमारे ऊपर हमला होता है तो उसका मुक़ाबिला करने की शक्ति हममें बाक़ी नहीं रहती।

प्रेस की आज़ादी इसमें नहीं है कि जो चीज हम चाहें, वही छप जाय। एक अत्याचारी भी इस तरह की आज़ादी को मंजूर करता है। प्रेस की आजादी इसमें है कि हम उन चीजों को भी छपने दें, जिन्हें हम पसन्द नहीं करते; हमारी अपनी भी जो आलोचनायें हुई हैं उन्हें भी हम बर्दाश्त कर लें और जनता को अपने उन विचारों को भी जाहिर कर लेने दें जो हमारे पक्ष के लिए नुक़सानदेह ही क्यों न हों। क्योंकि बड़े लाभ या अन्तिम ध्येय की क़ीमत पर क्षणिक लाभ पाने की कोशिश करना हमेशा एक खतरे की बात है। अगर हम ग़लत माप क़ायम करते हैं और ग़लत तरीक़े अख्तियार करते हैं, चाहे इस यकीन से भी कि हम एक ठीक पक्ष को समर्थन दे रहे हैं, तो भी उन मापों और तरीक़ों का प्रभाव उस ठीक पक्ष पर भी पड़ेगा और उसमें दुराग्रह भर आयेगा। जो ध्येय हमारे सामने है, वह कुछ अंश में उन्हीं मापों और साधनों द्वारा नियंत्रित होगा और शायद उसका अन्तिम परिणाम भी सर्वथा भिन्न हो, जिसकी कि हमने कल्पना भी न की थी।

अगर हमारा ध्येय जनतंत्र और आज़ादी है तो उसे हमें हमेशा अपने काम और कार्रवाइयों में सामने रखना चाहिए। अगर हमारा काम जनतंत्र और आज़ादी-विरोधी तरीक़े पर है तो निश्चित ही उसका फल जनतंत्र और आज़ादी नहीं होगा; बल्कि और ही कुछ होगा।

यह सच है कि ऊँचे-ऊँचे ऐसे सिद्धान्त बनाना आसान है जो कि तर्क-सगत है और बड़े अच्छे लगते है। पर उन्हे व्यवहार में लाना ज्यादा मुश्किल है। क्योंकि जिन्दगी अधिक तर्क-सगत नही है और आदमी के व्यवहार का माप भी उतना ऊँचा नही होता जितना कि हम चाहते है। हम एक ऐसे जगल में रहते है जहाँ लुटेरे लोग और राष्ट्र अक्सर मनमाने ढग से इधर-उधर चक्कर लगाते है और समाज को नुकसान पहुँचाने की कोशिश करते है। युद्ध या राष्ट्र की आज़ादी के लिए हलचल, या वर्गो के बीच कशमकश और ऐसे सकट पैदा होते रहते है जिनसे घटनाओ की स्वाभाविक गति-विधि बदल जाती है। उस वक्त अपने बनाये ऊँचे सिद्धान्तो पर जो कि आदमियो के व्यवहार का एक माप नियत करते है पूरी तरह से कायम रहना मुश्किल हो जाता है। ऐसे सकट के समय में आदमी या जमात की साधारण स्वतन्त्रता पर कुछ हदतक फिर से विचार करना जरूरी हो जाता है। ऐसा जरूरी होते हुए भी, हमारा फिर से विचार करना एक खतरे की बात है और उसके नतीजे भी बुरे निकल सकते है, अगर हम पूरी तरह से सजग रह कर न चले। ऐसा न करेगे तो हम उसी बुराई के शिकार होजायेंगे जिसके खिलाफ कि हम लड़ते है।

जब हम जनतत्र, आज़ादी और नागरिक अधिकार की बात करते है तो हमें याद रखना चाहिए कि इनमें जिम्मेदारी और अनुशासन भी मौजूद रहता है। बिना व्यक्ति और जमात के अनुशासन पालन किये और जिम्मेदारी महसूस किये सच्ची आज़ादी नही मिल सकती। गुलामी की हालत और स्वतन्त्रता से आज़ादी की स्थिति में आजाने पर मनमाने तौर पर काम करने की प्रवृत्ति होना शायद लाज़िमी है। यह अफसोस की बात है। लेकिन उसे समझना मुश्किल नही है; क्योंकि लम्बे अर्से से चले आने वाले दबाव की यह प्रतिक्रिया है। कुछ हदतक इसको बर्दाश्त किया जाना चाहिए; क्योंकि उसे दबाने का मतलब तो उस भावना पर ज़ोर देना है जिससे कि यह पैदा हुई है। फिर भी, हम सबको अपनी आज़ादी को नीचे गिराकर मनमानेपन, गैर जिम्मेदारी और अनुशासनहीनता

में परिणत होने से रोकने के लिए तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तान सहनशीलता का शानदार नमूना है। चीन को छोड़ कर दुनिया के किसी भी मुल्क में ऐसा नमूना नहीं है। उस वक्त जबकि यूरोप और दूसरे मुल्क खून में नहा रहे थे, धर्म की लड़ाइयों में फँसे थे और एक दूसरे के मत या विचारों को दबाने में लगे थे उस वक्त हिन्दुस्तान और चीन ने दूसरे मुल्कों के धर्मों के लिए अपने द्वार खोल रक्खे थे। संस्कृति के सुनहले युग का उन्हें विश्वास था। सहिष्णुता और संस्कृति की महान् पृष्ठभूमि हमारे लिए एक क़ीमती विरासत है।

आज हममें उन दूसरे मसलों के बारे में उत्साह है जिनका हमसे महत्वपूर्ण संबंध है। यह ठीक ही है कि इन मसलों के बारे में हम गहराई के साथ सोचें, क्योंकि उन्हींके परिणामों पर हमारे मुल्क और दुनिया का भविष्य निर्भर करता है। यह ठीक है कि हम उस पक्ष के आगे बढ़ाने में अपनी पूरी ताक़त लगा दें, जो हमें प्रिय है। लेकिन यह ठीक नहीं है कि हम उन सिद्धान्तों को ही छोड़ दें या ढीला कर दें जोकि पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान की सभ्यता का गौरव और कुछ भिन्न अर्थ में, जनतंत्रीय आज़ादी की नींव रहे हैं। सबसे अधिक हमें आज़ादी और नागरिक अधिकारों के साथ अनुशासन और ज़िम्मेदारी को जोड़ने की कोशिश करनी चाहिए।

: ४१ :

हमारी मौजूदा समस्यायें[१]

हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत और भविष्य की सम्भावित गति-विधि पर एक पत्र में नोट के रूप में कुछ लिखना आसान काम नहीं है। लेकिन जैसा कि आप जानते ही हैं इस विषय पर मैं बराबर लिखता और बोलता रहा हूँ। मैं श्री एल्महर्स्ट से इस विषय में सहमत हूँ कि जहाँ तक राजाओं का सबंध है अगर ब्रिटिश सरकार उनसे अपनी रियासतों में जनतंत्र सरकार क़ायम करने के लिए कहे तो वैसा करने के अलावा उनके सामने और कोई रास्ता ही नहीं रहेगा। हालत यह है कि आज राजा लोग, कुछ को छोड़कर, वह भी बड़ी हदतक नहीं, ऐसे हैं कि बिना ब्रिटिश सरकार के सक्रिय सहयोग के, कोई काम नहीं कर सकते। इन बरसों में सरकार की राजाओं के बारे में शोचनीय नीति रही है। सरकार ने रियासतों के हर तरह के प्रतिगामी कामों और दमन का समर्थन किया है। इससे साफ है कि रियासतों के सम्बन्ध में भी हमारी लड़ाई अन्ततः ब्रिटिश सरकार से है।

बहरहाल, इस वक्त हमारे सामने एक बड़ा मसला है। आप जानते हैं कि कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से लड़ाई के उद्देश्यों को ही साफ तौर से बताने के लिए नहीं कहा है, बल्कि हिन्दुस्तान की आजादी और राष्ट्रीय पंचायत के जरिये अपना विधान बनाने का हिन्दुस्तान का अधिकार स्वीकार करने के लिए भी कहा है। जबतक यह बात साफ तौर से तय नहीं हो जाती तबतक और चीजों का कोई महत्व नहीं है और

१. हिन्दुस्तान की वर्तमान राजनीतिक स्थिति पर पी ई. पी. (लंदन) के अध्यक्ष मि० एल० के० एल्महर्स्ट के लिए शान्तिनिकेतन के डा० सुधीर सेन को भेजा गया पत्र।

न उनका सवाल ही उठता है। हिन्दुस्तान की आज़ादी का मतलब ज़रूरी तौर से ब्रिटेन से एकदम सम्बन्ध तोड़ लेना नहीं है। लेकिन इसका यह मतलब ज़रूर है कि हिन्दुस्तान की पृथक सत्ता और अपने भाग्य के निर्णय के अधिकार को पूरी तरह से स्वीकार किया जाय। ब्रिटेन के साथ भविष्य में हमारे क्या सम्बन्ध रहेंगे, यह तय करना राष्ट्रीय पंचायत का काम होगा। अगर ब्रिटेन अब साम्राज्यवादी नहीं रहा है तो कोई सबब नहीं कि हम उनके साथ अधिक-से-अधिक सहयोग न करें। लेकिन शुरू से ही हम पर कोई सम्बन्ध लादने का मतलब है कि निर्णय हमारे हाथ में नहीं है और इसलिए वह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जहाँतक अल्पसंख्यकों का सवाल है हम उन्हें दोनों तरह से ज्यादा से ज्यादा गारंटी देने के लिए तैयार हैं : विधान के आपस में मिलकर तय किये हुए ऐसे मौलिक क़ानूनों के रूप में ही नहीं जिनसे कि अल्पसंख्यकों को संरक्षण मिले और धर्म, संस्कृति एवं भाषा आदि के नागरिक अधिकार भी प्राप्त हों, बल्कि खुद विधान को बनाने में भी। हमने तो यहाँ तक कह दिया है कि अगर कोई अल्पसंख्यक समाज जुदा निर्वाचन पद्धति के जरिये अपने प्रतिनिधि चुनना चाहता है तो हम उसे मान लेंगे। इसके अलावा सिर्फ़ अल्पसंख्यकों के अधिकारों से ही सम्बन्ध रखनेवाले मामलों में निर्णय उनकी रज़ामन्दी से होगा, सिर्फ़ बहुमत के वोटों से नहीं। अगर किसी बारे में समझौता न हो सका तो मामला राष्ट्र-संघ, या हेग-कोर्ट या वैसी ही किसी संस्था की निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता पर छोड़ दिया जायगा। इस प्रकार अल्पसंख्यकों के अधिकारों को हर तरह का संभावित संरक्षण दे दिया गया है। यह याद रखना चाहिए कि जहाँतक मुसलमानों का सम्बन्ध है, उन्हें अल्पसंख्यक कहना इस शब्द का गलत इस्तेमाल करना है। सचाई तो यह है कि हिन्दुस्तान के पाँच सूबों में उनका बहुमत है। और उन सूबों में उनके संरक्षण का सवाल ही नहीं है जिनमें उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा प्रान्तीय स्वायत्त शासन प्राप्त होगा। हिन्दुस्तान की आबादी इस तरह बंटी हुई है कि संतुलन करनेवाली बहुत-सी बातें हैं और यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है

वह व्यापक अधिक होगा। यह आपत्ति अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा दूर की जा सकती है। उस हालत में प्राइमरी मतदाता निर्वाचक मंडल का चुनाव करेंगे और फिर राष्ट्रीय पंचायत के सदस्यों को चुनेंगे।

इस मसले को गड़बड़ी में न डालने के लिए यह जरूरी है कि रियासतों का सवाल इस अवस्था में हाथ में न लिया जाय। यह नियम बना दिया जाय कि राष्ट्रीय पंचायत में कोई भी रियासत हिस्सा ले सकती है बशर्ते कि वह उस जनतन्त्र के आधार पर हिस्सा ले जिसपर कि बाक़ी हिन्दुस्तान ने लिया है। इस मामले में दबाव डालने की जरूरत नहीं है। घटनाओं का दबाव ही काफ़ी होगा। रियासतों की जनता का भी दबाव होगा। बहुत मुमकिन है कि अधिकांश रियासतें ब्रिटिश हिन्दुस्तान के साथ हो जायँ और राष्ट्रीय पंचायत में शरीक हों। यह भी मुमकिन है कि एक दर्जन या उतनी ही बड़ी रियासतें कुछ अर्से तक अलग रहें। उनकी समस्याओं पर बाद में विचार किया जा सकता है। अगर हम बहुत आगे बढ़ेंगे तो इन बड़ी रियासतों के साथ समझौता करने में कोई बड़ी कठिनाई होने की संभावना नहीं है। बेशक यह सब ब्रिटिश सरकार के इस नीति में पूरी तरह से सहयोग देने पर निर्भर करता है। अगर कोई संघर्ष होता है तो यह कहना मुश्किल है कि नतीजा क्या होगा। यह तो है कि लड़ाई बड़े पैमाने पर होगी और कुछ अर्से तक हिन्दुस्तान में फूट और अव्यवस्था फैल जायगी।

एक बात और है जो आपके सामने रखना चाहता हूँ। लड़ाई के बढ़ने से हमने यह बात ज्यादा-से-ज्यादा महसूस की है कि वह साम्राज्यवादी देशों के लिए लड़ी जा रही है। साम्राज्यवादों के बीच संघर्ष है और जबतक यह बात साफ़ नहीं हो जाती कि लड़ाई किस बेहतर बात के लिए लड़ी जा रही है तब तक हिन्दुस्तान के लिए यह सम्भव नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बचाने के लिए उसमें शरीक हो।

शायद यह खत भी, अगर आप इसे एलमहर्स्ट को भेज दें, मेरे विचारों को कुछ जाहिर करेगा। मैंने फ़ेडरल-केन्द्र के संक्रमण-काल पर विचार नहीं किया है। बेशक यह महत्वपूर्ण बात है कि संक्रमण-काल में भी यह जनता के पथ-प्रदर्शन में चलेगा।

सस्ता साहित्य मण्डल : सर्वोदय साहित्य माला के प्रकाशन

[नोट—× चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य हैं]

पुस्तक	लेखक	
१. दिव्य-जीवन	स्वेट मार्डेन	।=)
२. जीवन-साहित्य	काका कालेलकर	१)
३. तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	॥)
४. भारत में व्यसन और व्यभिचार :	वैजनाथ महोदय	॥=)
५. सामाजिक कुरीतियाँ×		॥)
६. भारत के स्त्री-रत्न [तीन भाग]	शिवप्रसाद पण्डित	३)
७. अनोखा×		१।=)
८. ब्रह्मचर्य-विज्ञान	जगन्नारायण देव शर्मा	॥=)
९ यूरोप का इतिहास	रामकिशोर शर्मा	२)
१०. समाज-विज्ञान	चन्द्रराज भण्डारी	॥)
११. खद्दर का संपत्ति-शास्त्र×		॥≡)
१२. गोरों का प्रभुत्व×		॥=)
१३. चीन की आवाज×		।-)
१४. दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	महात्मा गांधी	१)
१५. विजयी बारडोली×		२)
१६. अनीति की राह पर	महात्मा गांधी	॥=)
१७. सीता की अग्नि-परीक्षा	कालीप्रसन्न घोष	।-)
१८. कन्या-शिक्षा	स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	।)
१९. कर्मयोग	श्री अश्विनीकुमार दत्त	।=)
२०. कलवार की करतूत	महात्मा टालस्टाय	=)
२१. व्यावहारिक सभ्यता	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	॥)
२२. अंधेरे में उजाला	महात्मा टालस्टाय	॥)

वह व्यापक अधिक होगा। यह आपत्ति अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा दूर की जा सकती है। उस हालत में प्राइमरी मतदाता निर्वाचक मंडल का चुनाव करेंगे और फिर राष्ट्रीय पंचायत के सदस्यों को चुनेंगे।

इस मसले को गड़बड़ी में न डालने के लिए यह जरूरी है कि रियासतों का सवाल इस अवस्था में हाथ में न लिया जाय। यह नियम बना दिया जाय कि राष्ट्रीय पंचायत में कोई भी रियासत हिस्सा ले सकती है बशर्ते कि वह उस जनतन्त्र के आधार पर हिस्सा ले जिसपर कि बाक़ी हिन्दुस्तान ने लिया है। इस मामले में दबाव डालने की जरूरत नहीं है। घटनाओं का दबाव ही काफ़ी होगा। रियासतों की जनता का भी दबाव होगा। बहुत मुमकिन है कि अधिकांश रियासतें ब्रिटिश हिन्दुस्तान के साथ हो जायँ और राष्ट्रीय पंचायत में शरीक हों। यह भी मुमकिन है कि एक दर्जन या उतनी ही बड़ी रियासतें कुछ अर्से तक अलग रहें। उनकी समस्याओं पर बाद में विचार किया जा सकता है। अगर हम बहुत आगे बढ़ेंगे तो इन बड़ी रियासतों के साथ समझौता करने में कोई बड़ी कठिनाई होने की संभावना नहीं है। बेशक यह सब ब्रिटिश सरकार के इस नीति में पूरी तरह से सहयोग देने पर निर्भर करता है। अगर कोई संघर्ष होता है तो यह कहना मुश्किल है कि नतीजा क्या होगा। यह तो है कि लड़ाई बड़े पैमाने पर होगी और कुछ अर्से तक हिन्दुस्तान में फूट और अव्यवस्था फैल जायगी।

एक बात और है जो आपके सामने रखना चाहता हूँ। लड़ाई के बढ़ने से हमने यह बात ज्यादा-से-ज्यादा महसूस की है कि वह साम्राज्यवादी देशों के लिए लड़ी जा रही है। साम्राज्यवादों के बीच संघर्ष है और जबतक यह बात साफ़ नहीं हो जाती कि लड़ाई किस बेहतर बात के लिए लड़ी जा रही है तब तक हिन्दुस्तान के लिए यह सम्भव नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बचाने के लिए उसमें शरीक हो।

शायद यह खत भी, अगर आप इसे एल्महर्स्ट को भेज दें, मेरे विचारों को कुछ जाहिर करेगा। मैंने फ़ेडरल-केन्द्र के संक्रमण-काल पर विचार नहीं किया है। बेशक यह महत्वपूर्ण बात है कि संक्रमण-काल में भी यह जनता के पथ-प्रदर्शन में चलेगा।

सस्ता साहित्य मण्डल : सर्वोदय साहित्य माला के प्रकाशन

[नोट—× चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य हैं]

पुस्तक	लेखक	
१. दिव्य-जीवन	स्वेट मार्डेन	।=)
२. जीवन-साहित्य	काका कालेलकर	१)
३. तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	॥)
४. भारत में व्यसन और व्यभिचार :	वैजनाथ महोदय	॥=)
५. सामाजिक कुरीतियाँ×		॥)
६. भारत के स्त्री-रत्न [तीन भाग]	शिवप्रसाद पण्डित	३)
७. अनोखा×		१।=)
८. ब्रह्मचर्य-विज्ञान	जगन्नारायण देव शर्मा	॥=)
९. यूरोप का इतिहास	रामकिशोर शर्मा	२)
१०. समाज-विज्ञान	चन्द्रराज भण्डारी	॥)
११. खद्दर का संपत्ति-शास्त्र×		॥≡)
१२. गोरों का प्रभुत्व×		॥=)
१३. चीन की आवाज×		।-)
१४. दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	महात्मा गांधी	१)
१५. विजयी बारडोली×		२)
१६. अनीति की राह पर	महात्मा गांधी	॥=)
१७. सीता की अग्नि-परीक्षा	कालीप्रसन्न घोष	।-)
१८. कन्या-शिक्षा	स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	।)
१९. कर्मयोग	श्री अश्विनीकुमार दत्त	।=)
२०. कलवार की करतूत	महात्मा टाल्स्टाय	=)
२१. व्यावहारिक सभ्यता	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	॥)
२२. अंधेरे में उजाला	महात्मा टाल्स्टाय	॥)

५०. मराठों का उत्थान और पतन	गोपाल दामोदर तामसकर	२॥)
५१. भाई के पत्र	रामनाथ 'सुमन'	१)
५२. स्वगत×	हरिभाऊ उपाध्याय	।=)
५३. युगधर्म×		१=)
५४. स्त्री-समस्या	मुकुटबिहारी वर्मा	१॥)
५५. विदेशी कपड़े का मुकाबिला×		॥=)
५६. चित्रपट	शान्तिप्रसाद वर्मा	।=)
५७. राष्ट्रवाणी×		॥=)
५८. इंग्लैंड में महात्माजी	महादेव देसाई	॥)
५९. रोटी का सवाल	प्रिंस क्रोपाटकिन	॥)
६०. दैवी संपद्	रामगोपाल मोहता	।=)
६१. जीवन सूत्र	थॉमस केम्पिस	॥)
६२. हमारा कलंक	महात्मा गांधी	॥=)
६३. बुद्‌बुद्	हरिभाऊ उपाध्याय	॥)
६४. संघर्ष या सहयोग ?	प्रिंस क्रोपाटकिन	१॥)
६५. गांधी विचार दोहन	किशोरलाल मशरूवाला	॥)
६६. एशिया की क्रान्ति×		१॥)
६७. हमारे राष्ट्रनिर्माता	रामनाथ 'सुमन'	१॥)
६८. स्वतंत्रता की ओर×	हरिभाऊ उपाध्याय	१॥)
६९. आगे बढ़ो	स्वेट् मार्डेन	॥)
७०. बुद्धवाणी	वियोगी हरि	॥=)
७१. काँग्रेस का इतिहास	डॉ० पट्टाभि सीतारामैया	२॥)
७२. हमारे राष्ट्रपति	सत्यदेव विद्यालंकार	१)
७३. मेरी कहानी	जवाहरलाल नेहरू	२॥) १)
७४. विश्व-इतिहास की झलक	"	८) =)
७५. हमारी पुत्रियाँ कैसी हों ?	चतुरसेन शास्त्री	॥)
७६. नया शासन विधान (प्रान्तीय स्वराज्य)	हरिश्चन्द्र गोयल	॥)
७७. (१) हमारे गाँवों की कहानी	स्व० रामदास गौड़	॥)

७८. (२) महाभारत के पात्र–१–२	आचार्य नानाभाई	१)
७९. गाँवों का सुधार और संगठन	स्व० रामदास गौड़	१)
८०. (३) संतवाणी	वियोगी हरि	॥)
८१. विनाश या इलाज ?	म्यूरियल लेस्टर	॥।)
८२. (४) अंग्रेजी राज में हमारी दशा	डॉ० अहमद	॥)
८३. (५) लोक-जीवन	काका कालेलकर	॥)
८४. गीता-मंथन	किशोरलाल मशरूवाला	१॥)
८५. (६) राजनीति प्रवेशिका	हेरल्ड लास्की	॥)
८६. (७) हमारे अधिकार और कर्तव्य	कृष्णचन्द्र विद्यालंकार	॥)
८७. गांधीवाद : समाजवाद	संपादक : काका कालेलकर	॥।)
८८. स्वदेशी ग्रामोद्योग	महात्मा गाँधी	॥)
८९. (८) सुगम चिकित्सा	चतुरसेन शास्त्री	॥)
९०. प्रेम में भगवान्	टॉल्स्टॉय	॥)
९१. महात्मा गांधी	रामनाथ 'सुमन'	।=)
९२ हमारे गाँव और किसान	मुख़्त्यारसिंह	॥)
९३. ब्रह्मचर्य	महात्मा गांधी	॥)
९४. महात्मा गांधी : अभिनन्दन ग्रन्थ	सम्पादक : स० रा०	२)
९५. हिन्दुस्तान की समस्यायें	ज० नेहरू	१)
९६. जीवन-सन्देश	खलील जिब्रान	॥)
९७. समन्वय	डॉ० भगवानदास	२)

'नवजीवनमाला' की पुस्तकें

१. **गीताबोध**—महात्मा गांधी-कृत गीता का सरल तात्पर्य -)॥

२. **मंगल प्रभात**—महात्मा गांधी के जेल से लिखे सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों पर प्रवचन। -)

३. **अनासक्तियोग**—महात्मा गांधी कृत गीता की टीका— =), श्लोक सहित ≡), ।)

४. **सर्वोदय**—रस्किन के 'Unto This Last' का गांधीजी द्वारा किया गया रूपान्तर। -)

५. नवयुवकों से दो बातें—प्रिंस क्रोपाटकिन के 'A word to Youngmen' का अनुवाद। ~)

६. हिन्द-स्वराज—महात्माजी की भारत की मौजूदा समस्या पर लिखी प्राचीन पुस्तक जो आज भी ताजी है। ≡)

७. छूतछात की माया—खानपान-सम्बन्धी नियमों तथा व्यवहार के बारे में श्री आनन्द कौसल्यायन की लिखी दिलचस्प पुस्तक। ~)

८. किसानों का सवाल—डॉ० जेड० ए० अहमद की इस छोटी-सी पुस्तिका में भारत के ग़रीब प्रतिनिधियों—किसानों— के सवाल पर बड़ी सुन्दरता से विचार किया गया है। =)

९. ग्राम-सेवा—ग्राम-सेवा किस प्रकार हो—इसपर गांधीजी ने इसमें विशद प्रकाश डाला है। =)

१०. खादी और गादी की लड़ाई—आचार्य विनोबा के खादी और समाज-सेवा सम्बन्धी लेख और व्याख्यानों का संग्रह। =)

११. मधुमक्खी-पालन—श्री चित्रे ने इसमें प्रकाश डाला है और बताया है कि हम किस प्रकार इस ग्रामोद्योग के द्वारा बेकारों को काम दे सकते हैं। =)

१२. गांवों का आर्थिक सवाल—गांवों के आर्थिक प्रश्न तथा उनको हल करने की योजनाओं का इस पुस्तक में ग्राम-सेवक विद्यालय के अध्यापक श्री झवेरभाई पटेल ने संग्रह किया है। ≡)

१३. राष्ट्रीय गायन—देशभक्ति-पूर्ण राष्ट्रीय गायनों और कविताओं का अपूर्व संग्रह। =)

१४. खादी का महत्व—श्री गुलजारीलाल नन्दा द्वारा लिखा खादी-विषयक प्रामाणिक और खादी की महत्ता और उपयोगिता बताने वाला निबन्ध। =)

१५. जब अँग्रेज़ नहीं आये थे। अंग्रेजों के आने के पहले की भारत की दशा का वर्णन। ≡)